कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितम्

श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

[स्वोपज्ञलघुवृत्ति तथा गुणरत्नावृत्ति-संवलित]

११ से २० पाद

- गुणरत्नावृत्तिकार -

परमपूज्य मुनिराज श्रीकमलरत्न विजयजी महाराज साहेब के शिष्यरत्न

मुनिश्री दर्शनरत्नविजयजी म.

मुनिश्री विमलरत्नविजयजी म.

- प्रकाशक -

श्री जैन संघ

पो. पिण्डवाड़ा [राजस्थान] पिन ३०७०२२

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितम्

श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

[स्वोपज्ञलघुवृत्ति तथा गुणरत्नावृत्ति-संवलितम्]

११ से २० पाद

- गुणरत्नावृत्तिकार -

परमपूज्य मुनिराज श्रीकमलरत्न विजयजी महाराज साहेब के शिष्यरत्न

मुनिश्री दर्शनरत्नविजयजी म.

मुनिश्री विमलरत्नविजयजी म.

- प्रकाशक -

शेठ कल्याणजी सोभागचन्दजी

पो. पिण्डवाडा [राजस्थान] पिन ३०७०२२

स्टेशन-सिरोही रोड (वे. रेल्वे)

अस्य ग्रन्थस्य पुनर्मुद्रणाधिकारः प्रकाशकेन स्वायत्तीकृतः ।

प्रकाशन तिथि—

वि० सं० २०४३ कार्तिक सुद १५ ता० ५–११–८६ गुरुवार ।
श्री शत्रुंजय महातीर्थ पर द्राविड वारिखिल्लजी दश क्रोड मुनियों के साथ मोक्ष जाने का दिन ।

मूल्य ४५) प्रथमावृत्ति ११११

इस ग्रन्थ के आधार-भूत ग्रन्थ—

१. श्री सिद्धहेमलघुवृत्त्याः अवचुरिः २॥ अध्याय
२. श्री सिद्धहेमशब्दानुशासनबृहद्वृत्तिः
३. श्री सिद्धहेमशब्दानुशासनबृहन्न्यासः
४. श्री सिद्धहेमशब्दानुशासनलघुन्यासः
५. अभिधान चिन्तामणिस्वोपज्ञः
६. श्री सिद्धहेमशब्दानुशासन मध्यमवृत्तिः मध्यमवृत्त्याः अवचूरिश्च
७. श्री हेमप्रकाशः
८. न्यायसंग्रह इत्यादि

अनुक्रमणिका–

प्रथम भाग में—१ से १० पाद
द्वितीय भाग में—११ से २० पाद
तृतीय भाग में—छठा व सातवां अध्याय
चतुर्थ भाग में—सूत्रानुक्रम, शुद्धिपत्रक, न्याय, धातुपाठ आदि

साधु-साध्वी के विहारोपयोगी ६ भाग—

प्रथम भाग—षट्पादीं यावत्
द्वितीय भाग—७ से १० पाद
तृतीय भाग—११ से १६ पाद
चतुर्थ भाग—पञ्चमाध्यायः
पञ्चम भाग—षष्ठ—सप्तमौ अध्यायौ
षष्ठ भाग—सूत्रानुक्रम, शुद्धिपत्रक, न्याय, धातुपाठ आदि

मुद्रण कार्य—हँसमुखलाल जैन

लक्ष्मी प्रेस, १४ नागरिक विश्राम गृह, कॉलेज रोड़, रतलाम (म. प्र.)

पिंण्डवाडा के श्री प्रेमसूरिजी

परमपूज्य सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्रीविजय मसूरीश्वरजी महाराज के गुणों की हमें आवश्यकता है। मानो गुण न पा सके तो भी उन गुणों को पाने की इच्छा है।

आपके पिता का नाम भगवानजी, माता का नाम श्रीमती कंकुबाई आपश्री का नाम प्रेमचन्दजी। राजस्थान में पिण्डवाडा के हमारे गाँव के वतनी। बचपन में ही वैराग्य उत्पन्न हुआ और चारित्र लेने की भावना हुई। कुटुम्बिजन सीधी रीति से दीक्षा देवे वैसे अनुकूल नहीं थे, फिर भी दो बार तो घर से भागकर गये, परन्तु मोहाधीन कुटुम्बी आपको वापिस ले आये। तीसरी बार रात को घर से निकले, एक रात्रि में ५७ किलोमीटर चलकर स्टेशन गये। गाड़ी में बैठकर पालिताना गये। संयम लेने का कितना दृढ निश्चय एवं उसके लिये चाहे जितना कष्ट सहन करना ऐसे दृढ निर्धार के बिना यह नहीं बन सकता। दीक्षा लेने के बाद मुनिश्री प्रेमविजयजी बने। स्वाध्याय तो अजब-गजब था कि जिसके परिणाम स्वरूप कर्म के गहन विषय में पारंगत बने। गुरु श्री सकलागम रहस्यवेदी, परम पूज्य आचार्यदेव श्री विजय दानसूरीश्वरजी महाराज ने तृतीय पद पर प्रतिष्ठित किया तब प० पू० आ० श्रीविजय प्रेमसूरिजी बने। आचार्य पद लेने की इच्छा नहीं थी परन्तु लेनी पड़ी थी। तिथि का सत्य निर्णय लाने के लिये आपने आपही के पट्टधर व्याख्यान-वाचस्पति आचार्यदेव श्रीविजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म० एवं आगमप्रज्ञ आचार्यदेव श्रीविजय जम्बुसूरिजी महाराज को आगे किये एवं उसका निर्णय भी लाया। इतना ही नहीं आराधक जीवों का अनेक प्रयत्नों से उद्धार किया। आपको एक सुश्रावक ने प्रश्न पूछाये उसका कितना स्पष्ट जवाब दिया कि—

"(१) ग्रहण के समय ...... दर्शन पूजन का तथा उपदेश आदि का भी निषेध तो हमने कहीं जाना नहीं है एवं आचरा भी नही है।

(२) तिथिचर्चा का निर्णय ...... प्रोफेसर वैद्य जैसे मध्यस्थ को लाकर श्रीजैनशासन के आज्ञा मुजब का निर्णय करा देने में सुश्रावक कस्तुरभाई ने श्रीजैन शासन की अनुपम सेवा की है। ...... इस निर्णय

मुताबिक चलने से हरेक तिथि की आराधना आज्ञा मुजब होती है और महत्त्व के पर्व की विराधना से भी अच्छी तरह बच सकती है ।"

आप महापुरुष मरुधर देश में जहाँ घास भी दुर्लभ हो वहाँ केशर की उत्पत्ति की तरह जन्मे ।

आप ही के पट्टधर परम पूज्य कलिकाल-कल्पतरु, अनेकान्ता-भासतिमिर-तरणि, व्याख्यान-वाचस्पति आचार्यदेव श्रीविजय रामचन्द्र-सूरीश्वरजी महाराजा के करकमलों में यह ग्रन्थ समर्पण करके हम कृतार्थ बन रहे है ।

इस गुणरत्ना वृत्ति के मार्गदर्शक परमपूज्य वर्धमान-तपोनिधि आचार्यदेव श्रीविजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज के विद्वान शिष्यरत्न परमपूज्य पन्न्यासप्रवर श्रीजितेन्द्रविजयजी गणिवर्य के शिष्य रत्न व्याकरण-विशारद परमपूज्य गणिवर्य श्री गुणरत्नविजयजी गणिवर्य हैं।

इस गुणरत्ना वृत्ति के जन्मदाता परम पूज्य महातपस्वी मुनिराज श्री कमलरत्नविजयजी महाराज के शिष्य रत्न परमपूज्य मुनिराज श्री दर्शनरत्नविजयजी म० एवं परम पूज्य मुनिराज श्रीविमल रत्न विजयजी महाराज हैं ।

(१) इस पुस्तक के दो भागो का प्रकाशन श्री पिन्डवाडा संघ ने ज्ञान खाते से लाभ लिया है । अतः साधु-साध्वी एवं ज्ञानभण्डारों को भेंट दी जायगी । दूसरे कीमत से खरीद कर पढ़ेंगे तो ही ज्ञान खाते के भक्षण के दोष से बच सकेंगे ।

(२) इस पुस्तक के एक भाग का प्रकाशन का लाभ पिन्डवाडा जैन संघ की बहिनों ने ज्ञान खाते की आय में से लिया है ।

(३) इस पुस्तक का एक भाग का शा पुखराजजी, अशोक, तरुण, भरत, पारस किस्तुरचंदजी हंसाजी पिन्डवाडा वालों ने लाभ लिया है । जो परमपूज्य मुनिराज श्री कमलरत्नविजयजी महाराज के सांसारिक भाई हैं ।

अतः शा पुखराजजी किस्तुरचन्दजी हंसाजी परिवार, का एवं जैन श्राविका संघ का भी हम का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में माणकलालजी कटारिया रतलाम वालों ने हरेक भाग की सो-सो पुस्तकों का कागज व बाईडिंग का लाभ लिया

है। वैद लालचन्दजी महात्मा राजाजी के करेडा वालों में पाँच सौ रुपये की उदार भेंट की है एवं साध्वीजी किरण प्रज्ञा श्रीजी के सदुपदेश से नीलकमल एपार्टमेण्ट साबरमती की आराधक बहिनों ने ज्ञान खाते की आय से २२०० रुपये की उदार भेंट की है इन सबका भी हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

सुश्रावक जेठालाल भारमल शा तथा सुश्रावक माणेकलाल भाई पण्डितों ने इसका साङ्गोपाङ्ग अवलोकन किया एवं पण्डित तृप्ति नारायण झा ने इसका सम्पूर्ण निरीक्षण करके इसका स्वागत किया है।

सुश्रावक लालचन्दजी छगनलालजी पिन्डवाडा वालों को हम नहीं भूल सकते जिन्होंने बार-बार इसके शीघ्र प्रकाशन के लिये प्रयत्न किया। श्री हँसमुखलालजी जैन (लक्ष्मी प्रेस) रतलाम वालों ने इसे दो महीने में प्रकाशित करके दिया अतः वे भी इस प्रसंग पर भूले नहीं जा सकते।

इस प्रकाशन में कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्यदेव श्रीविजय हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराजा के आशय-विरुद्ध कुछ भी प्रकाशन हो गया हो तो उसका मिच्छामि-दुक्कडं देने के साथ प्रुफ संशोधन की त्रुटि, स दोष या अन्य कारण से जो त्रुटि रह गई हो उसकी क्षमा याचना पूर्वक सुज्ञ वाचकों को सुधारकर पढ़ने की विनती है।

विनीत--

श्री जैन संघ पिण्डवाडा के वती
सेठ - कल्याणजी सोभागचन्दजी जैन
पेढी ट्रस्ट पिन्डवाडा

गुणरत्नावृत्ति का पण्डितवर्यो ने स्वागत किया

वृत्ति बहुत ही सुन्दर हुई है बन सके तो जल्दी से छपाने की कृपा करना जी। ऐसे महान् ग्रन्थ के पीछे मेहनत खूब ही चाहिये और तैयार हुए ऐसे महान् ग्रन्थ जल्दी से छप जाय यह बहुत ही इच्छनीय है। भविष्य में सिद्ध-हेम-व्याकरण पढ़ने वालों के लिये यह वृत्ति बहुत ही उपयोगी होगी।

जेठालाल भाई भारमल शा
बी-वेलाणी एस्टेट दुकान नं० ७
मलाड पूर्व बम्बई—७

आपश्री ने बहुत परिश्रम करके लघुवृत्ति व्याकरण के ऊपर बहुत अच्छा व्याकरण किया है। यह आनन्द का विषय है, लघुवृत्ति के अभ्यासकों को लघुवृत्ति के अभ्यास में रुचि उत्पन्न करने के साथ लघुवृत्ति करने के लिये इससे प्रेरणा, एवं प्रोत्साहन मिलेगा।

पण्डित श्री माणेकलालजी

देसाई वास राधनपुर,

(गुजरात)

प्रिय वाचक वर्ग !

व्याख्यान वाचस्पति पूज्यपाद श्री के भवनिर्वेदोत्पादकमोक्षाभिलाष-जनक प्रवचनों को हिन्दी भाषा में प्रकाशित करने वाला

जैन प्रवचन [हिन्दी मासिक]

के आज ही सदस्य बनें

वार्षिक चन्दा २५ रु०
परदेश ५५ रु०

आजीवन चन्दा २५१ रु०
लिखो या मिलो

आजीवन सदस्य बनने वालों को २५ रुपये की सम्यग्दर्शन पुस्तक भेंट दी जाती है।

श्री जैन प्रवचन प्रकाशन संस्थान
फोन नं० ३२०१२०
६६ धनजी स्ट्रीट, ३ रा माला,
बम्बई–४००००३

व्याख्यान वाचस्पति पूज्यपाद श्री के भवनिर्वेदोत्पादक मोक्षाभिलाष-जनक-प्रवचनों को गुजराती भाषा में प्रकाशित करने वाले

जिनवाणी (पाक्षिक)

के आज ही सदस्य बनें

वार्षिक चन्दा २१ रु०

आजीवन चन्दा २०१ रु०

—लिखो या मिलो—

श्री जिनवाणी प्रचारक ट्रस्ट
५८ बैंक ऑफ इण्डिया बिल्डिंग
१८५ शेखमेमण स्ट्रीट
बम्बई–२

श्री जिनवाणी प्रकाशन कार्यालय
वढवान शहर (गुजरात)
पिन–३६३०३०

॥ अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

वृद्धिरारैदौत् ।३।३।१।

आ आर् ऐ औ एते प्रत्येकं वृद्धिः स्युः । मार्ष्टि, कार्यम्, नायकः औपगवः ॥१॥

गुणरत्नावृत्तिः—वृद्धिशब्दस्य संज्ञात्वात् अनुवादविधित्वेन च परनिपातः प्राप्नोतीति "आरैदौद् वृद्धिः" इति सूत्रं कर्तव्यं तथापि वृद्धिशब्दस्य पूर्वनिपातः मङ्गलार्थः इदं मध्यमङ्गलम् । उक्तं च-ग्रन्थादौ, ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलं कर्तव्यम् । **मार्ष्टि**—मृजेर्वर्तमानायां तिवि, गुणे कृते मृजोऽस्य वृद्धिः ।४।३।४२। इत्यकारस्य वृद्धिराकारो भवति । अत्र सूत्रेण कृतस्य आकारस्य वृद्धिसंज्ञा । राजेत्यादौ च अकृतानाम् । यतः राजधातौ धातुपाठे एव आकारः । **कार्यम्**—'ऋवर्णव्यञ्जनाद् घ्यण् ।५।१।१७। इति घ्यणि 'नामिनः ।४।३।५१। इति वृद्धिरार् । **नायकः**—नयतेः णकतृचौ ।५।१।४८। इति णके "नामिनः ।४।३।५१। इतीकारस्य वृद्धिरैत् भवति । **औपगवः**—उपगोरपत्यम् "ङसोऽपत्ये ।६।१।२८। इत्यणि 'वृद्धि स्वरेवादेः० ।७।४।१। इत्यादि स्वररूपस्य उकारस्य वृद्धिरौकारो भवति ॥१॥

गुणोऽरेदोत् ।३।३।२।

अर् एत् ओत् एते प्रत्येकं गुणः स्युः । कर्ता, चेता, स्तोता ॥२॥

गुणशब्दस्य पूर्वनिपातो मङ्गलस्यैवातिशयद्योतनार्थः । अथवा 'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' इति नियमस्य व्यभिचारद्योतनार्थः । **करोतिः**—"नामिनो गुणो० ।४।३।१। इति गुणः ॥२॥

क्रियार्थो धातुः ।३।३।३।

कृतिः क्रिया पूर्वापरीभूता साऽर्थो यस्य स धातुः स्यात् । भवति अत्ति, गोपायति, जुगुप्सते, पापच्यते, पुत्रकाम्यति, मुण्डयति, जवनः ॥३॥

कृतिः, क्रिया प्रवृत्तिर्व्यापार इति पर्यायाः, कृगो भावे 'स्त्रियां क्तिः' ।५।३।८१। इति क्तिः । क्रियेति—'कृगः शः च वा' ।५।३।१००। इति शः । **पूर्वापरीभूतेति**—पूर्वावयवसम्बन्धा पूर्वा, अपरावयवसम्बन्धाऽपरा, पूर्वा चासावपरा च पूर्वापरा, अपूर्वापरा पूर्वापरा संपन्ना पूर्वापरीभूता । यद्यपि क्रिया आदितोऽन्तं यावदेकैव, तथापि तस्याः क्रमिकोत्पत्तिदर्शनात् क्रमविषयाणामवस्थाविशेषाणां तदङ्गत्वं परिकल्प्यते, यथा पच् धात्वर्थभूता विक्लित्त्यनुकूला क्रिया, पाकपात्रस्य चुल्ल्युपरिधारणम् । फूत्काराद्यधः सन्तापनादिकमारभ्य पाकपात्रस्य नीचैरानयनपर्यन्तमेकैव, तथापि अधिश्रयणादीनां तदवयवत्वं परिकल्प्यते । तत्र केचिदवयवाः पूर्वमुत्पद्यन्ते केचित्पश्चादिति तेषां पूर्वापरत्वव्यवहारो दृष्टः, तथा च वस्तुतोऽपूर्वापरा सत्यपि सा पूर्वापरा सम्पद्यते इति पूर्वापरीभूतात्वं तस्याः । अत्र 'पूर्वापर० ।२।१।१०३। इति सूत्रे पाठक्रममाश्रित्य परत्वादपरशब्दस्यैव पूर्वनिपातप्राप्तावप्यर्थक्रमस्य स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं तमनुरुध्य राजदन्तादिगणपाठपरिकल्पनया पूर्वशब्दस्यैव पूर्वनिपातः कृतः इति न दोषः । आयादिप्रत्ययान्तामपि क्रियार्थत्वाद्धातुत्वाद् उदाहरति **गोपायति**—'गुपौधूप० ।३।४।१। इत्यायः । **जुगुप्सते**—गुपेर्गर्हाविवक्षायां 'गुप्तिजो गर्हाक्षान्तौ सन् ।३।४।५। इति सन् । 'गुपि गोपनकुत्सनयोरिति भ्वादिरात्मनेपदित्वादात्मनेपदम् । **पापच्यते**—पुनः पुनरतिशयेन वा पचतीति पच्धातोः 'व्यञ्जनादेरेकस्वरात् ।३।४।९। इति यङ् तदन्तस्य द्वित्वादिकार्ये कृते धातुत्वात् ते । **पुत्रकाम्यति**—पुत्रमिच्छतीति पुत्रीयति द्वितीयान्तात् 'द्वितीयायाः काम्यः ।३।४।२०। इति काम्यप्रत्यये सति तदन्तस्य धातुत्वात् तिः । **मुण्डयति**—णिज्बहुलं नाम्नः कृगादिषु' ।३।४।४२। इति णिज् तदन्तस्य धातुत्वम् । जु इति सौत्रो धातुर्वेगार्थः तस्य धातुत्वात् कृत्यने **जवनः** ॥३॥

न प्रादिरप्रत्ययः ।३।३।४।

प्रादिर्धातोरवयवो न स्यात् ततः पर एव धातुरित्यर्थः न चेत्ततः परः प्रत्ययः । अभ्यमनायत । प्रासादीयत् । प्रादिरिति किम् ? अमहापुत्रीयत् । अप्रत्यय इति किम् ? औत्सुकायत ।।४।।

प्रादिश्चाद्यन्तर्गतः, 'चादयोऽसत्त्वे ।१।१।३१। इव्यवयवसंज्ञा । अनभिमना अभिमना इवाचरत् इत्यर्थे 'च्व्यर्थे भृशादेःस्तोः ।३।४।२९। इति क्यङ्, सकारस्य च लुक्', 'दीर्घश्चि० ।४।३।१०८। इति दीर्घे अभिमनायेति, तस्य समुदायस्य क्रियावाचकत्वेन पूर्वसूत्रेण धातुत्वे प्राप्ते, प्रादिपठितस्याभेरनेन सूत्रेण चावयवत्वे प्रतिषिद्धे मनायेत्येतावता एव धातुत्वे ह्यस्तन्यां ते अभिशब्दं परित्यज्य मनायेत्यतः पूर्वमेवाटि—**अभ्यमनायतेति** । **प्रासादीयदिति**—प्रासादे इवाऽऽचरत् इत्यर्थे प्रासादशब्दात् "आधाराच्चोप० ।३।४।८४। इति क्यन् तदन्तस्य क्रियावाचकत्वेन धातुत्वे प्राप्ते 'प्र आङ्' इति प्रादिसमुदायरूपस्य प्राशब्दस्यानेन धात्वयवत्वे निषिद्धे सदीयेत्यस्यैव धातुत्वात् ततः पूर्वमेवाट् । **अमहापुत्रीयदिति**—महांश्चासौ पुत्रः महापुत्रस्तमैच्छत् इत्यर्थे 'अमात्ययात् क्यन्' ।३।४।२४। इति क्यनि महाशब्दस्य प्रादित्वाभावेन निषेधाभावे महापुत्रीयेत्यस्य धातुत्वात्ततः पूर्वमडागमोऽभूत् । **औत्सुकायतेति**—'उत् सु' इत्येतौ प्रादी ताभ्यां सह स्थिताभ्याम् 'उदुत्सोरुन्मनसि ।७।१।१९२। इति कः, उत्सुकशब्दः उन्मनसि उत्कण्ठिते रूढः, स इवाऽऽचरत् इत्यर्थे 'क्यङ्' ।३।४।२६। इति क्यङ् अत्र प्रादेर्धात्वयवत्वनिषेधे 'काय' मात्रस्य धातुत्वे ततः प्रागडागमापत्तेः ।।४।।

अवौ दाधौ दा ।३।३।५।

दाधारूपौ धातू अवितौ दा स्याताम् । दाम्—प्रणिदाता । दैङ् प्रणिदयते । डुदांग् प्रणिददाति । दों प्रणिद्यति । दृधे—प्रणिधयति । डुधांग्—प्रणिदधाति । अवाविति किम् ? दांव् दातं बर्हिः । दैव्—

अवदातं मुखम् ॥५॥

दारुपाश्चत्वारः, धातुरूपौ द्वौ। दाण् धातुर्दानार्थको भ्वादिः तस्यानुबन्धविनिर्गमे दारूपत्वम् ततस्तृचि दातेत्यत्र दाशब्दस्य दासंज्ञायां सत्यां 'प्रनि' इत्युपसर्गयोर्मध्ये नीत्युपसर्गसम्बन्धिनो नस्य 'नेर्ङमादा० ।२।३।७९। इति णत्वे सति **प्रणिदाता**। देङिति पालनार्थो भ्वादि तस्याशिति प्रत्यये "आत्सन्ध्यक्षरस्य ।४।२।१। इत्यात्त्वे दारूपत्वम् भवति, अनेन दासंज्ञायां नेर्नस्य णत्वं भवति। डुदांग्क् इत्यपि दानार्थकः जुहोत्यादिपठितः, अस्यापि धातोर्दारूपत्वेन दासंज्ञकत्वमिति तस्मिन् परतो नेर्नकारस्य पूर्वोक्तसूत्रेण णकारे प्रणिददाति । दोंच् धातुः छेदनार्थो दिवादिः तस्याप्यशिति प्रत्यये आत्त्वविधानात् दारूपत्वमिति दासंज्ञायां नेर्नस्य णत्वम्। दिवादित्वात् श्ये तिवि 'ओतः श्ये' ।४।२।१०३। इत्योकारस्य लुकि नकारस्य णत्वे **प्रणिद्यति**। ट्धें धातुः पानार्थको भ्वादिः, डुधांग्क् धातुर्धारणार्थकः जुहोत्यादिः। **दातं बर्हिरिति**—दांवक् धातुर्लवनार्थकोऽदादिः, नस्य वकारानुबन्धत्वात् दासंज्ञाभावे ततः क्ते 'दत्' ।४।४।१०। इति ददादेशो न भवति। बर्हिः दर्भः कुश इति पर्यायः। **अवदातं मुखमिति**—दैंव्धातुः शोधनार्थको वानुबन्धो भ्वादिः, तस्य वानुबन्धत्वेन दासंज्ञाभावात् अवपूर्वात् ततः क्ते 'स्वरादुपसर्गाद् दस्ति कित्यधः ।४।४।९। इति दासंज्ञकस्य विधीयमानस्तादेशो न भवति ॥५॥

वर्तमाना–तिव् तस् अन्ति, सिव् थस् थ, मिव् वस् मस्, ते आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे महे ।३।३।६।

इमानि वचनानि वर्तमाना स्युः ॥६॥

वर्तमानेति—स्ववाच्यार्थमादायेयं संज्ञा, वर्तमानः कालः वाच्यो स्याः इत्यर्थे मत्वर्थीयाच्। तिवादीना बहुत्वेऽपि सर्वगत-वर्तमानात्वस्यैकरूपतया वर्तमानेति जातिवाच्यैकवचनम् वर्तमानेति वचनभेदेऽपि संज्ञासंज्ञिनिर्देशो भवत्यनवर्णा नामीतिवत्। विकरणस्य 'शिदवित्' ।४।३।२०। उतः औविति० ।४।३।५०। इति प्रयोजनत्वम्। पाणिनिना तु वर्तमाना-

सप्तमीपञ्चमीह्यस्तन्यद्यतनीपरोक्षाऽऽशीःश्वस्तनी भविष्यन्तीक्रियातिपत्ती-नामनुक्रमेण लट्लिङ्लोट्लङ्लुङ्लिडाशीर्लिङ्लुट्लृट्लृङः इत्येवंरूपाः संज्ञाः दर्शिताः ॥६॥

सप्तमी–यात् यातां युस्, यास् यातं यात, यां याव याम, ईत ईयातां ईरन्, ईथास् ईयाथां ईध्वं, ईय ईवहि ईमहि ।३।३।७।

इमानि वचनानि सप्तमी स्युः ॥७॥

अत्र संज्ञाक्रमे न किञ्चिद् विनिगमकम् अपितु ग्रन्थकर्तु रिच्छैव प्रतीयते । सप्तमी अग्रे वक्ष्यमाणा पञ्चमी तु स्ववाच्यार्थभिन्ना संज्ञा ॥७॥

पञ्चमी–तुव् तां अन्तु, हि तं त, आनिव् आवव् आमम्, तां आतां अन्तां, स्व आथां ध्वं, ऐव् आवहैव् आमहैव् ।३।३।८।

इमानि वचनानि पञ्चमी स्युः ॥८॥

अत्र सर्वत्र विशेष्यरूपविभक्तेः स्त्रीत्वात्, पञ्चमीति स्त्रीलिङ्ग-निर्देशः ॥८॥

ह्यस्तनी–दिव् तां अन्, सिव् तं त, अमुव् व म, त आतां अन्त, थास् आथां ध्वं, इ वहि महि ।३।३।९।

इमानि वचनानि ह्यस्तनी स्युः ॥९॥

ह्यसित्यव्ययमतीतेऽव्यवहितपूर्वदिने रूढम्, ह्यो भवः ह्यस्तनी 'सायं-चिरं० ।६।३।८८। इति तनट, टित्त्वात् स्त्रियां ङीः ॥९॥

एताः शितः ।३।३।१०।

एताश्चतस्रः शितो ज्ञेयाः । भवति, भवेत्, भवतु, अभवत् ।।१०।।

भूधातोर्वर्तमानायां तिवि, तस्य शित्त्वेन 'कर्तर्यनद्भ्यः शव् ।३।४।७१। इति शव् । शवः वित्त्वेन च 'शिदवित् ।४।३।२०। इति ङिद्वत्त्वाभावात् गुणः पश्चादवादेशः । भवेदित्यत्र" यः सप्तम्याः ।४।२।१२२। इतीकारादेशः ।।१०।।

अद्यतनी–दि तां अन्, सि तं त, अम् व म, त आतां अन्त, थास् आथां ध्वं, इ वहि महि ।३।३।११।।

इमानि वचनानि अद्यतनी स्युः ।।११।।

अस्मिन्नहनीत्यर्थे 'अद्यशब्दः "सद्योऽद्य०' ।७।२।६७। सूत्रे निपातितः । अद्य भव इत्यर्थे 'सायं चिरं० ।६।३।८८। इति तनट् । अद्यतनकालस्यार्थः" अनद्यतने ह्यस्तनी ।५।२।७। इत्यत्र दर्शितः ।।११।।

परोक्षा–णव् अतुस् उस्, थव् अथुस् अ, णव् व म, ए आते इरे, से आथे ध्वे, ए वहे महे ।३।३।१२।

इमानि वचनानि परोक्षा स्युः ।।१२।।

परोक्षे ।५।२।१२। सूत्रेण परोक्षेऽर्थे विधानादर्थनिबन्धनेयं परोक्षा संज्ञा । परोक्षं यद्यपि भूतभविष्यत्साधारणं तथापि भविष्यत परोक्षत्वमनिश्चितमिति भूतपरोक्षस्यैवेह परोक्षत्वेन व्यवहारः ।।१२।।

आशीः–क्यात् क्यास्तां क्यासुस्, क्यास् क्यास्तं क्यास्त, क्यासं क्यास्व क्यास्म, सीष्ट सीयास्तां सीरन्, सीष्ठास्

सीयास्थां सोध्वम्, सीय सीवहि सीमहि ।३।३।१३।

इमानि वचनानि आशीः स्युः ॥१३॥

भविष्यदर्थाशंसनमाशीः, अन्ये तु शुभाशंसनमेवाशीरिति कथयन्ति तन्न 'मृषीष्ट' इत्यादावाशीःप्रयोगानुपपत्तेः। कित्करणं "नामिनो गुणो० ।४।३।१। इत्यादिसूत्रेण गुणाभावादिः हेतुः ॥१३॥

श्वस्तनी–ता तारौ तारस्, तासि तास्थस् तास्थ, तास्मि तास्वस् तास्मस्। ता तारौ तारस्, तासे तासाथे ताध्वे, ताहे तास्वहे तास्महे ।३।३।१४।

इमानि वचनानि श्वस्तनी स्युः ॥१४॥

श्वः शब्दोऽव्यवहिताऽऽगामिदिनबोधकः श्वो भवः "सायंचिरं" ।६।३।८८। इति तनट् ॥१४॥

भविष्यन्ती–स्यति स्यतस् स्यन्ति, स्यसि स्यथस् स्यथ, स्यामि स्यावस् स्यामस्, स्यते स्येते स्यन्ते, स्यसे स्येथे स्यध्वे, स्ये स्यावहे स्यामहे ।३।३।१५।

इमानि वचनानि भविष्यन्ती स्युः ॥१५॥

'भविष्यन्ती' ।५।३।४। सूत्रेण वर्त्स्यति काले एषां विधानाद् "भविष्यन्ती" इत्येतद्यथार्थं नाम ॥१५॥

क्रियातिपत्तिः-स्यत् स्यतां स्यन्, स्यस् स्यतं स्यत, स्यं स्याव स्याम, स्यत स्येतां स्यन्त, स्यथास् स्येथां स्यध्वं,

स्वे स्यावहि स्यामहि ।३।३।१६।

इमानि वचनानि क्रियातिपत्तिः स्युः ॥१६॥

क्रियाया अतिपत्तिरनिष्पत्तिः क्रियातिपत्तिः, भविष्यदर्थात् भूतार्थाच्च धातोः क्रियाया अनभिनिवृत्तौ सत्यां "सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तौ क्रियातिपत्तिः ।५।४।९। सूत्रेण कियात्तिपत्तिर्विधीयते इति क्रियातिपत्त्यर्थे विधानादन्वर्थसंज्ञेयम् ॥१६॥

त्रीणि त्रीण्यन्ययुष्मदस्मदि ।३।३।१७।

सर्वासां विभक्तीनां त्रीणि त्रीणि वचनानि अन्यस्मिन्नर्थे युष्मदर्थेऽस्मदर्थे च वाच्ये यथाक्रमं स्युः । स पचति । तौ पचतः, ते पचन्ति । पचते । पचेते । पचन्ते । त्वं पचसि । युवां पचथः । यूयं पचथ । पचसे । पचेथे । पचध्वे । अहं पचामि । आवां पचावः । वयं पचामः । पचे । पचावहे । पचामहे । एवं सर्वासु द्वययोगे त्रययोगे च पराश्रयमेव वचनम् । स च त्वं च पचथः । स च त्वं चाहं च पचामः ॥१७॥

अन्यस्मिन्नर्थे इति—नन्वन्यत्वं केवलान्वयि स्वेतरापेक्षया सर्वस्यान्यत्वादिति युष्मदस्मदर्थयोरप्यन्यत्वं भवतीति चेत्सत्यम् युष्मदस्मदोः समीपोपस्थितेः "उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभाव" इति न्यायादन्यत्वं युष्मदस्मदपेक्षं ग्राह्यम् । न चास्मच्छब्दातिरिक्तं सर्वत्र युष्मच्छब्दस्य प्रयोगात् सर्वस्य पदार्थस्य युष्मदर्थत्वमिति युष्मच्छब्दोऽप्यव्यावर्तक इति वाच्यम् युष्मच्छब्दविशेषितार्थो युष्मदर्थ इति । अतएव भवच्छब्देनोच्यमानो न युष्मदर्थं अपि त्वस्मदर्थ एव तेन भवान् पचतीत्येव प्रयोगो न तु भवान् पचसीति । **पराश्रयमेवेति**—परत्वं सर्वादिपाठापेक्षया बोध्यम् । केचित्तु यत्र सहोक्तिर्नास्ति तत्रैकशेषाभावात् प्रत्येकं क्रिया स च त्वं पचति च पचसि चेति, स च त्वं चाहं च पचति च पचसि च पचामि

चेति कुर्वन्ति। सिद्धान्ती तु कर्त्रोः सह विवक्षाभावे एकशेषाभावेपि क्रियाया एकत्वस्य स्वभावसिद्धतयैकामेव क्रियां प्रयुनक्ति, पराश्रितैव च व्यवस्था। स च त्वं च पचथ इत्याद्यत्र भवति ॥१७॥

एकद्विबहुषु ।३।३।१८।

अन्यादिषु यानि त्रीणि त्रीण्युक्तानि तान्येकद्विबहुष्वर्थेषु यथासङ्ख्यं स्युः। स पचति। तौ पचतः। ते पचन्तीत्यादि ॥१८॥

एकद्विबहुषु इति बहुवचनात् नान्यादिभिरेकादीनां यथासङ्ख्यम् ॥१८॥

नवाद्यानि शतृक्वसू च परस्मैपदम् ।३।३।१६।

सर्वविभक्तीनामाद्यानि नव नव वचनानि शतृक्वसू च परस्मैपदानि स्युः। तिव्, तस्, अन्ति। सिव्, थस्, थ। मिव्, वस्, मस्। एवं सर्वासु ॥१६॥

संज्ञिनां बहुत्वात् नवनृशब्दो अगृहीतवीप्सोपि वीप्सां गमयति ननु सर्वेषांपरस्मैपदसंज्ञाकथं कृता आसन्नत्वात्-क्रियातिपत्तेरेव कर्तव्या चेन्मैवम् "लृदिद्" ।३।४।६४। सूत्रे अन्यासामपि विभक्तीनां परस्मैपदग्रहणात्। परस्मै स्वभिन्नाय पद्यते प्रयुज्यते तत्परस्मैपदम् "हितादिभिः" ।३।१।७१। इति समासः "परात्मभ्यां ङे ।३।२।१७। इति चतुर्थ्या अलुप्। एवमात्मने पद्यते इति आत्मनेपदम्। यद्यपि केवलपरस्मैपदे केवलात्मनेपदे चेयमन्वर्थता न घटते तथाप्युभयपदिधातुमादायान्वर्थतायाः क्षत्यभावः "इंगित" ।३।३।६५। सूत्रे फलवत्कर्तर्यात्मनेपदम् कर्तृभिन्ने क्रियाफलवति परस्मैपदम्। "शत्रानशा० ।५।२।२०। इति शतृ विहितः। "तत्र क्वसुकानौ० ।५।२।२। इति क्वसु विहितः अनेन तयोः परस्मैपदसंज्ञा कृता ॥१६॥

पराणि कानानशौ चात्मनेपदम् ।३।३।२०।

सर्वविभक्तीनां नव नव वचनानि कानानशौ चात्मनेपदानि स्युः । ते, आते, अन्ते । से, आथे, ध्वे । ए, वहे, महे । एवं सर्वासु ॥२०॥

"तत्र क्वसु०" ।५।२।२। सूत्रादेव कानो विहितः "शत्रा०" ।५।२।२०। इति विहितः आनश् एतयोरनेनात्मनेपदसंज्ञा ॥२०॥

तत्साप्यानाप्यात्कर्मभावे कृत्यक्तखलर्थाश्च ।३।३।२१।

तदात्मनेपदं कृत्यक्तखलर्थाश्च प्रत्ययाः सकर्मकाद् धातोः कर्मणि अकर्मकादविवक्षितकर्मकाच्च भावे स्युः । क्रियते कटश्चैत्रेण । चक्राणः । क्रियमाणः । भूयते त्वया । भूयमानम् । क्रियते । मृदु पच्यते । कार्यः । कर्तव्यः । करणीयः । देयः कृत्यः कटस्त्वया । शयितव्यम् । शयनीयम् । शेयम् । कार्यम् । कर्तव्यम् । करणीयम् । देयम् । कृत्यम् ।त्वया कृतः कटः । शयितम् । कृतं त्वया । सुकरः कटस्त्वया । सुशयं सुकरं त्वया । सुकटंकराणि वीरणानि । ईषदाढ्यम्भवं भवता । सुज्ञानं तत्त्वं मुनिना । सुग्लानं दीनेन । मास आस्यते । मासमास्यते ॥२१॥

साप्यानाप्यादिति—आप्यं कर्मकारकम् आप्तिविषयमाप्यम् आप्तिसम्बन्धः, स च कर्तृव्यापारद्वारकफलाश्रयत्वरूपः, आप्यशब्दस्य तादृशसम्बन्धाश्रये योगरूढिः, आप्येन सह वर्तते इति साप्यम्, साप्यः सकर्मकः । न विद्यते विवक्ष्यतेवाऽऽप्यं यस्मिन् सोऽनाप्योऽविद्यमानकर्मकोऽविवक्षितकर्मकश्च । फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्, फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम् । **क्रियते कटश्चैत्रेणेति**—उत्पादना करोतेरर्थः, सा चोत्पत्त्यनुकूलव्यापारः । **मृदु पच्यते**—मृदु इति क्रियाविशेषणम्, न तु पच्यमानद्रव्योपस्थापकम् । पचतिः विक्लित्त्यनुकूल-

व्यापारवाचकः, विक्लितिश्च कर्मस्था इति फलव्यधिकरणवाचकत्वेन सकर्मकत्वेऽपि अविवक्षितकर्मत्वेनाकर्मकत्वम् तेन भावे प्रयोगः कर्तुं योग्यः इत्यर्थे ण्यत्-तव्य-अनीयप्रत्ययाः ज्ञेयाः क्यप्प्रत्यये कृत्यः। भावे लिङ्ग-सङ्ख्याभावेऽपि' सामान्ये नपुंसकमिति सिद्धान्तात् औत्सर्गिकं क्लीबत्व-मेकवचनं च भवति। **सुकरः कटस्त्वया**—सकर्मकत्वेन कर्मणि खल्। सकर्मकत्वसूचनाय 'कट' इति पदमुपात्तम्। **सुकटंकराणि वीरणानि** कट भिन्नानि वीरणानि कटस्वरूपाणि सुखेन क्रियन्ते इत्यर्थः। अनाढयेन भवता सुखेनाढ्येन भूयते **इतीषदाढ्यं भवं भवता**। सुखेन ज्ञायते इति "शासुयुधि० ।५।३।१४१। इति कर्मणि अने, **सुज्ञानं तत्त्वं मुनिना**। 'शासु०' ।५।३।१४१। सूत्रेण भावेऽनप्रत्यये तु **सुग्लानं** दीनेनेति। **मास आस्यते इति**-"कालाध्वभा० ।२।२।२३। सूत्रेणाकर्मकाणां धातूनां प्रयोगे कालादिः आधारः कर्मसंज्ञो वा भवति। अकर्म च—यत्रापि पक्षे कर्मसंज्ञा तत्राकर्म-संज्ञापि वा भवतीत्यावेदितम्, उभयसंज्ञा, विधानाच्च प्रकृतप्रयोगे अकर्म-कत्वमाश्रित्य "आस्यते" इति भावे आत्मनेपदम्, सकर्मकत्वमाश्रित्य मासस्य कर्मत्वाद् आत्मनेपदेन तस्यानभिधा नाद् 'मासम्' इति कर्मणि द्वितीया भवति। अकर्मसंज्ञा यदि न स्यात् तदा भावे आत्मनेपदं न स्यात् सकर्मकत्वात्कर्मणि आत्मनेपदे तु तेनैवाभिहितत्वात्कर्मणि द्वितीया न भवेत्॥२१॥

इङितः कर्तरि ।३।३।२२।

इदितो ङितश्च धातोः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। एधते। एधमानः। शेते। शयानः ॥२२॥

एभ्य एव कर्तरीति नियमार्थं वचनम्। एभ्य कर्तर्येवात्मनेपद-मिति नियमस्तु न शक्यते 'तत्साप्या० ।३।३।२१। इति सूत्रेण भावकर्म-णोरेभ्य आत्मनेपदस्येष्टत्वात्तद्बाधापत्तेः। एभ्य कर्तर्यात्मनेपदमेवेत्यपि न नियन्तुं शक्यते 'इङित्तो व्यञ्जना० ।५।२।४४। इत्यनेन विहितस्यानस्य बाधापत्तेः॥२२॥

क्रियाव्यतिहारेऽगतिहिंसाशब्दार्थहसो हृवहश्चानन्योऽन्यार्थे ।३।३।२३।

अन्यचिकीर्षितायाः क्रियाया अन्येन हरणं करणं क्रियाव्यतिहारः तदर्थाद् गतिहिंसाशब्दार्थहसवर्जाद्धातोर्हृवहिभ्यां च कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । न त्वन्योन्येतरेतरपरस्परशब्दयोगे । व्यतिलुनते । व्यतिहरन्ते । व्यतिवहन्ते भारम् । क्रियेति किम् ? द्रव्यव्यतिहारे मा भूत् । चैत्रस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति । गत्यादिवर्जनं किम् ? व्यतिसर्पन्ति । व्यतिहिंसन्ति । व्यतिजल्पन्ति । व्यतिहसन्ति । अनन्योऽन्यार्थ इति किम् ? परस्परस्य व्यतिलुनन्ति । कर्तरीत्येव । तेन भावकर्मणोः पूर्वेणैव गत्यर्थादिभ्योऽपि स्यात् । व्यतिगम्यन्ते ग्रामाः ॥२३॥

क्रियाव्यतिहारे—अनेकार्थत्वाद् धातूनां हरणमित्यस्य करणमर्थः । यदाऽन्येन कर्तव्यां क्रियामन्यः करोति, तत्कर्तव्यां चेतरस्तदा क्रियाया व्यतिहारः विनिमय इत्यर्थः । **हृवहश्चेति**—हृवहोर्गतिहिंसार्थत्वात्प्रतिषेधे प्राप्ते प्रतिप्रसवार्थमुपादानम । अयमाशयः हरणस्य सामान्यतो हिंसाभिन्नत्वेपि उपसर्गसहितस्य प्राणहरणानुकूलव्यापारे वृत्तौ हिंसार्थत्वमस्त्येव, प्रापणमपि स्थानान्तरस्थितस्य स्थानान्तरस्थापनमित्युत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापार एव गतिरिति भवत्युभयोः क्रमशः हिंसार्थत्वं गत्यर्थत्वं चेति निषेधस्य प्राप्तिरस्तीति तस्य प्रतिप्रसवार्थं पृथगुपादानम । केचित्तु सूत्रेऽर्थग्रहणात् शब्दान्तरनिरपेक्षा ये गत्याद्यर्थबोधकास्ते एव तदर्थत्वेन गृह्यन्ते, हरतेरुपसर्गवशेन हिंसार्थत्वमिति न शब्दान्तरनिरपेक्षं हिंसार्थत्वम्, प्रापणमपि न साक्षाद् गतिरपि तु आर्थिकार्थरूपा गतिरिति हृवहोः प्रतिषेधस्य न प्राप्तिरिति व्यर्थमेवानयोः पृथगुपादानमित्याहुः । **चैत्रस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति इति** अत्र लुनातिर्न छेदने वर्ततेऽपि तु उपसंग्रहात्मके स्वीकारस्वभावे लवने छेदने वर्तते, चैत्रेण यत्स्वायत्तीकृतं धान्यं छेदनेन स्वीकुर्वन्तीत्यर्थः अत्र द्रव्यस्य विनिमयो गम्यते । **पूर्वेणैवेति**—'तत्साप्योनाप्यात्० ।३।२।२१। इति सूत्रेणेति भावः ।२३॥

निविशः ।३।३।२४।

नेर्विशः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । निविशते ।

विशंत् प्रवेशने तुदादिधातुः ।

उपसर्गादस्योह्यो वा ।३।३।२५।

उपसर्गात्पराभ्यामस्यत्यूहिभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं वा स्यात् । विपर्यस्यति । समूहते । समूहति ।

अस्यतेरप्राप्ते ऊहतेश्चेदित्वान्नित्यमात्मनेपदे प्राप्ते विभाषेयम् । अस्येति श्यनिर्देशात् 'असूच् क्षेपणे' इति दिवादिर्गृह्यते 'असक् भुवि इत्यदादिः 'असी गतिदीप्त्यादानेषु' इति भ्वादिश्च न गृह्यते ।

उत्स्वराद्युजेरयज्ञतत्पात्रे ।३।३।२५।

उदः स्वरान्ताच्चोपसर्गात्पराद् युनक्तेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् न चेद्यज्ञे यत्तत्पात्रं तद्विषयो युज्यर्थः स्यात् । उद्युङ्क्ते । उपयुङ्क्ते । उत्स्वरादिति किम् ? संयुनक्ति । अयज्ञतत्पात्र इति किम् ? द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति ॥२५॥

युजेरिति सामान्यनिर्देशेऽपि 'युजूंपी योगे' इति रुधादिर्धातुर्गृह्यते न तु युजिंच् समाधौ इति दैवादिकः अस्येदित्वादात्मनेपदं सिद्धमेवास्ति । युजूंपी योगेऽस्य ईदित्वात् फलवत्कर्तर्यात्मनेपदे सिद्धेऽप्यफलवति कर्तर्यात्मने पदसिद्ध्यर्थमिदं सूत्रं कृतम् । एवमग्रिमसूत्रमपि ज्ञेयम् । **उद्युङ्क्ते** इत्यत्र "श्नास्त्योर्लुक् ।४।२।९०। इत्यनेन श्नसम्बन्धिनोऽकारस्य लुग्भवति ॥२५॥

परित्यवात्क्रियः ।३।३। ६।

एभ्य उपसर्गेभ्यत्परात्क्रीणातेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते । उपसर्गादित्येव-उपरिक्रीणाति ॥२६॥

'क्री' इत्यनुकरणमनुकार्येणार्थेनार्थवदिति नामत्वे सति ततः स्यादिः 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इति न्यायाच्च धातुकार्यमियादेशः । एष एव एतन्न्यायस्य ज्ञापकः । परिक्रीणीत्यत्र "एषामीर्व्यञ्जनेऽदः ।४।२।९७। इतीकारः ॥२६॥

परावेर्जेः ।३।३।२८।

आभ्यां पराज्जयतेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । पराजयते । विजयते । उपसर्गाभ्यामित्येव बहुवि जयति वनम् ॥२८॥

जियः इत्यकृत्वा जेः करण "प्रकृतिवदनुकरणमिति न्यायस्यानित्यता पक्षेनैव । **बहुवीति**—बहवो वयः पक्षिणो यत्र वने तद् बहुवि वनम्, तादृशं वनं जयतीत्यर्थः ॥२८॥

समः क्ष्णोः ।३।३। २९।

समः परात् क्ष्णौतेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । संक्ष्णुते शस्त्रम् । सम इति किम् ? क्ष्णौति । उपसर्गादित्येव–आयसं क्ष्णौति ॥२९॥

अत्रापि क्ष्णोरिति निर्देशः 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इति न्यायस्यानित्यतापक्षे एव, अन्यथा धातुत्वादुवादेशे 'क्ष्णुवः' इति प्रयोगः स्यात् । ननु 'समो गमृच्छिपृच्छि० ।३।३।८४। इत्यत्र क्ष्णुग्रहणं क्रियतां किमत्र पृथगारम्भेण, नैव 'समो गमृच्छि०' इत्यत्र कर्मण्यसति आत्मनेपदविधिः, इह तु संक्ष्णुते शस्त्रम् इति सकर्मणोऽपि भवतीति पृथक्सूत्रारम्भः ॥२९॥

अपस्किरः ।३।३।३०।

अपात्किरतेः सस्सट्कात्कर्त्तर्यात्मनेपदं स्यात् । अपस्किरते वृषभो हृष्टः । सस्सट्निर्देशः किम् ? अपस्किरति । अपेति किम् ? उपस्किरति ॥३०॥

अपस्किरते इत्यत्र 'अपाच्चतुष्पात्पक्षि० ।४।४।९६। इति स्सट् । **वृषभो हृष्ट** इति हृषच् तुष्टाविति विस्मयार्थो विवक्ष्यते ततो "हृषेः केश० ।४।४।७६। इतीड्विकल्पः ॥३०॥

उदश्चरः साप्यात् ।३।३।३१।

उत्पूर्वाच्चरेः सकर्मकात्कर्तरि आत्मनेपदं स्यात् । मार्गमुच्चरते । साप्यादिति किम् ? धूम उच्चरति ॥३१॥

मार्गमुच्चरते इति—व्युत्क्रम्य गच्छतीत्यर्थः । व्युत्क्रमणं च विपरीताचरणमुल्लङ्घनम् वा । **धूम उच्चरति**—ऊर्ध्वं गच्छतीत्यर्थः ॥३१॥

समस्तृतीयया ।३।३।३ ।

सम्पूर्वाच्चरेस्तृतीयान्तेन योगे कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । अश्वेन सञ्चरते । तृतीयेति किम् ? उभौ लोकौ सञ्चरसि ॥३२॥

धातोस्तृतीयया योगाभावादाह—तृतीयान्तेनेति । **उभौ लोकाविति**—मनुष्यस्वर्गलोकावित्यर्थः ॥३२॥

क्रीडोऽकूजने ।३।३।३३।

कूजनमव्यक्तः शब्दस्ततोऽन्यार्थात्संपूर्वात् क्रीडतेः कर्तर्यात्मनेपदं

स्यात् । संक्रीडते । सम इत्येव । क्रीडति । अकूजन इति किम्? संक्रीडन्त्यनांसि ॥३३॥

संक्रीडते=रमते इत्यर्थः । संक्रीडन्त्यनांसि=अव्यक्तं शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥३३॥

अन्वाङ्परेः ।३।३।३४।

एभ्यः परात्क्रीडतेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । अनुक्रीडते । आक्रीडते । परिक्रीडते ॥३४॥

क्रीड़ विहारे भ्वादिः ॥३४॥

शप उपलम्भने ।३।३।३५।

उपलम्भनं प्रकाशनं शपथो वा तदर्थाच्छपतेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । मैत्राय शपते । उपलम्भन इति किम्? मैत्रं शपति ॥३५॥

मैत्राय शपते—मैत्रं कञ्चिदर्थं बोधयतीत्यर्थः अथवा स्वाभिप्रायस्य परत्राविष्करणमुपलम्भनं शपथ इति यावत् । तत्पक्षे मैत्राय शपते इत्यस्य वाचा मात्रादिशरीरस्पर्शनेन मैत्रं स्वाभिप्रायं बोधयतीत्यर्थः । मैत्रं शपति=आक्रोशतीत्यर्थः ॥३५॥

आशिषि नाथः ।३।३।३६।

आशीरर्थादेव नाथेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । सर्पिषो नाथते । आशिषीति किम्? मधु नाथति ॥३६॥

सर्पिषो नाथते—सर्पिर्मे भूयादित्याशास्ते इत्यर्थः । आशिष्येवेति

नियमाद् याञ्चायां मधु नाथतीत्यत्रात्मनेपदं न भवति । नन्वेवमाशिष्यने-नात्मनेपदविधानेऽन्यत्रार्थे च नियमसामर्थ्यादात्मनेपदाप्रवृत्तौ "नाथृङ्" इति ङिद्विशिष्टः पाठो व्यर्थ इति चेत्सत्यम् ङित्करणम् "इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात् ।५।२।४४। सूत्रेणानप्रत्ययार्थम् । नन्वेवं भारविकविकृते किरातार्जुनीये मायाशुकरशरीरघातिबाणमुद्दिश्य कपटकिरान्तशिवदूतस्यार्जुनं प्रति "नाथसे किमु पतिं न भूभृताम्" इति वाक्ये कथमात्मनेपदप्रयोग इति चेदत्र प्रामाणिकः नाथसि इत्येव प्रयोग उचितः यद्वा "निरङ्कुशाः कवयः" इति शरणम् ॥३६॥

भुनजोऽत्राणे ।३।३।३७।

पालनादन्यार्थाद् भुनक्तेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । ओदनं भुङ्क्ते । भुनज इति किम् ? ओष्ठौ निर्भुजति । अत्राण इति किम् ? पृथ्वीं भुनक्ति ॥३७॥

'भुनज्' इति श्नेन निर्देशात् "भुजोंत् कौटिल्ये" इत्यस्मादात्मनेपदं न भवति यथा ओष्ठौ निर्भुजति कुटिलयतीत्यर्थः ॥३७॥

हृगो गतताच्छील्ये ।३।३।३८।

गतं सादृश्यं हृगो गतताच्छील्यार्थात् कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । पैतृकमश्वा अनुहरन्ते । गत इति किम् ? पितुर्हरति चोरयतीत्यर्थः । ताच्छील्यादिति किम् ? नटो राममनुहरति ॥३८॥

गतं प्रकारः सादृश्यमनुकरणमित्येकार्थाः तच्छीलं स्वभावो यस्य स तच्छीलस्तस्य भावः ताच्छील्यम्, उत्पत्तेः प्रभृत्याविनाशात् स्वभावता । **पैतृकमश्वा अनुहरन्ते**—पितुरागतं गुणविषयं क्रियाविषयं वा सादृश्यमविकलं शीलयन्तीत्यर्थः 'ऋतः इकण् ।६।३।१५२। इतीकण् 'ऋवर्णो० ।७।४।७१। इतीतो लुक् । शब्दशक्तिस्वाभावाच्चानुपूर्व एव हरतिः गत्

ताच्छील्ये वर्तते । नटो राममनुहरतीति—नटो हि कञ्चिदेव कालं राम-मनुकरोतीति असातत्ये न भवति नटो नाट्यावसरे एव रामभूमिकां प्राप्य तदीयं सादृश्यमनुकरोति अन्यदा तु स स्वभावे एव तिष्ठतीति न स्वभाव-ता इति ताच्छील्या भावान्नात्मनेपदम् ॥३८॥

पूजाचार्यभृत्युत्क्षेपज्ञानविगणनव्यये नियः ।३।३।३९।

पूजादिषु गम्येषु नियः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । माणवकमुपनयते । कर्मकरानुपनयते । शिशुमुदानयते । नयते तत्त्वार्थे । मद्रा कारं विनयन्ते । शतं विनयन्ते । एष्विति किम् ? अजां नयति ग्रामम् ॥३९॥

पूजा=सन्मानः, **नयते विद्वान् स्याद्वादे**—जीवादीन् पदार्थान् युक्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्यं बोधयतीत्यर्थः । ते युक्तिभिः स्थिरीकृताः पूजिता भवन्ति । आचार्यस्य भावः कर्म वा **आचार्यकम्** , "योपान्त्याद्०" ।७।१।७२। इत्यकञ् । **माणवकमुपनयते** स्वयमाचार्यो भवन् माणवकं (मनोरपत्यं माणवः अल्पार्थे (बालकेऽर्थे) णत्वम्, माणवः एव माणवकः स्वार्थे कः) बटुं शिष्यमध्ययनायाऽऽत्मसमीपं नयतीत्यर्थः । शीष्योऽधीते तमात्मसमीपं नीत्वाऽध्यापनेन स्वस्मिन्नाचार्यकमुत्पादयतीत्यर्थः । **भृतिः** वेतनम् भ्रियन्तेऽनया कर्मकरा इति भृतिः पारिश्रमिकरूपेण दीयमानं द्रव्यं वेतनशब्देनोच्यते । **कर्मकरानुपनयते**—वेतनेन कर्मकरान् आत्मनः कर्मणि नियुङ्क्ते इत्यर्थः । **उत्क्षेपः** ऊर्ध्वं गमनम् । **शिशुमुदानयते**—उत्क्षिपतीत्यर्थः । **ज्ञानं** प्रमेयनिश्चयः ज्ञानस्य यथार्थायथार्थभेदेन द्वैवि-ध्यात् प्रकृते यथार्थज्ञानस्य निश्चयरूपस्यैव ग्रहणमिति प्रमेयस्य प्रमा-विषयीकर्तुमभिलषितस्य वस्तुनो निश्चयः सन्देहराहित्येनाधिगतिर्ज्ञान-शब्देन गृह्यते । **नयते तत्त्वार्थे** तत्त्वार्थविषयं जिज्ञासितवस्तु प्रमाणेन यथार्थतया प्रतिपाद्यते इत्यर्थः । **विगणनम्**—ऋणादेः शोधनम्, ऋणमुक्त-मर्पणीयावश्यं प्रत्यर्पणीयं द्रव्यम्, आदिशब्देन तादृशमेवावश्यदेयं वस्तु गृह्यते तस्य शोधनं प्रत्यर्पणमित्यर्थः । **मद्राः कारं विनयन्ते**—मद्रा मद्र-देशोद्भवा जनाः कारं राज्ञे देयं तत्तद्वस्तुषु प्रतिनियतं राज्ञा ग्राह्यं षष्ठां-शादिकं दानेन शोधयतीत्यर्थः । **व्ययः** धर्मादिषु विनियोगः, **शतं विनयन्ते**-

शतेन परिच्छिन्नं द्रव्यं धर्मार्थं तीर्थादिषु ददातीत्यर्थः। नियः गित्वाद-फलवदर्थोऽयमारम्भः। **अजां नयति ग्राममिति**—नयतेर्द्विकर्मकत्वेनाजाया ग्रामस्य च कर्मसंज्ञा तत्राजा मुख्यं कर्म ग्रामो गौणं कर्म ॥३९॥

कर्तृस्थामूर्त्ताप्यात् ।३।३।४०।

कर्तृस्थममूर्तं कर्म यस्य तस्मान्नियः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। श्रमं विनयते। कर्तृस्थेति किम्? चैत्रो मैत्रस्य मन्युं विनयति। अमूर्तेति किम्? गडुं विनयति। आप्येति किम्? बुद्धया विनयति ॥४०॥

श्रमं विनयते—शमयतीत्यर्थः। **गडुं विनयति**—गडुः क्वचिच्छरीरैकदेशे मांसग्रन्थ्यादिः तस्य मूर्तत्वान्न भवत्यात्मनेपदम्। **बुद्धया विनयति**—बुद्धिहेतुकं विनयं प्राप्नोतीत्यर्थः अत्राविवक्षितकर्मत्वेन धात्वर्थोपसंगृहीतकर्मत्वेन वाऽकर्मकत्वमिति न कर्मणः प्रयोगस्याऽऽवश्यकतेति कर्तृस्थामूर्तकर्मकत्वाभावादत्र न भवत्यात्मनेपदम् ॥४०॥

शदेः शिति ।३।३।४१।

शिद्विषयाच्छदेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। शीयते। शितीति किम्? शत्स्यति ॥४१॥

शद्लृं शातने। इत्यस्माद् वर्तमानातेप्रत्यये शत्रि शदेः स्थाने "श्रौति०" ।४।२।१०८। इति शीयादेशे शीयते इति रूपम् ॥४१॥

म्रियतेरद्यतन्याशिषि च ।३।३।४२।

अतोऽद्यतन्याशीर्विषयाच्छिद्विषयाच्च कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। अमृत। मृषीष्ट। म्रियते। अद्यतन्याशिषि चेति किम्? ममार ॥४२॥

तिव्निर्देशाद् यङ्लुपि न भवति मर्मर्ति ।।४२।।

क्यङ्षो नवा ।३।३।४३।

क्यङ्षन्तात्कर्तर्यात्मनेपदं वा स्यात् । निद्रायति, निद्रायते ।।४३।।

डाज्लोहितादिभ्यः षित् ।३।४।३०। सूत्रेण क्यङ्ष् ।।४३।।

द्युद्भ्योऽद्यतन्याम् ।३।३।४४।

द्युतादिभ्योऽद्यतनीविषये कर्तर्यात्मनेपदं वा स्यात् । व्यद्युतत् । व्यद्योतिष्ट । अरुचत् । अरोचिष्ट । अद्यतन्यामिति किम् ? द्योतते ।।४४।।

बहुवचनं द्युतादिगणप्रतिपत्त्यर्थम् । प्राप्तविभाषेयम । द्युति, रुचि, घुटि, रुटि, लुटि, लुठि, श्विताङ्, ञिमिदाङ्, ञिश्विदाङ्, ञिष्विदाङ्, शुभि, क्षुभि, णभि, तुभि, स्रम्भूङ्, भ्रंशूङ्, स्रंसूङ्, ध्वंसूङ्, वृतूङ्, स्यन्दौङ्, वृधूङ्, शृधूङ्, कृपौङ्इति द्युतादिगणः ।।४४।।

वृद्भ्यः स्यसनोः ।३।३।४५।

वृदादेः पञ्चतः स्यादौ प्रत्यये सनि च विषये कर्तर्यात्मनेपदं वा स्यात् । वर्त्स्यति । वर्तिष्यते । विवृत्सति । विवर्तिषते । स्यसनोरिति किम् ? वर्तते ।।४५।।

बहुवचनं पूर्ववद् गणार्थम् । वृदादिः द्युतादिगणान्तर्गतान्तिमपञ्चधातवः । **वर्त्स्यति, वर्तिष्यते**—'वृद्भ्यः' ।४।४।५५। इति निषेधादिडभावः आत्मनेपदे तु भवत्येवेट् । **विवृत्सति**—"उपान्त्ये" ।४।३।३४। इत्यनिट् सन् किद्वत् । इयमपि प्राप्तविभाषा ।।४५।।

कृपः श्वस्तन्याम् ।३।३।४६।

कृपः श्वस्तीविषये कर्तर्यात्मनेपदं वा स्यात् । कल्प्तासि, कल्पि-तासे ॥४६॥

कृप्धातुर्वृतादावन्तर्गतः **कल्प्तासि कल्पितासे इति**—परस्मैपदाऽऽत्मनेपदयोः प्रथमपुरुषे श्वस्तन्यां रूपस्य साम्येन तत्र नाऽऽत्मनेपदकृतो विशेषः प्रतिभासेतेति मध्यमपुरुषोदाहरणम् । 'न वृद्भ्यः ।४।४।५५। इतीड्निषेधः आत्मनेपदे तु भवत्येवेट् । तत्र कृपः औदित्त्वेन "धूगौदितः ।४।४।३८। इति विकल्पेनेट्परमिडभावपक्षीयरूपमिह न प्रदर्शितमनावश्यकत्वात् ॥४६॥

क्रमोऽनुपसर्गात् ।३।३।४७।

अविद्यमानोपसर्गात्क्रमतेः कर्त्तर्यात्मनेपदं वा स्यात् । क्रमते । क्रामति । अनुपसर्गादिति किम् ? अनुक्रामति ॥४७॥

क्रामतीति—'क्रमो दीर्घः परस्मै ।४।२।१०६। इति दीर्घः । वृत्त्यादेरन्यत्रायमारम्भः इत्यप्राप्तविभाषा। उत्तरसूत्रेण वृत्त्यादावात्मनेपदं विधीयते ॥४७॥

वृत्तिसर्गतायने ।३।३।४८।

वृत्तिरप्रतिबन्धः, सर्ग उत्साहः, तायनं स्फीतता एतद्वृत्तेः क्रमेः कर्त्तर्यात्मनेपदं स्यात् । शास्त्रेऽस्य क्रमते बुद्धिः । सूत्राय क्रमते । क्रमन्तेऽस्मिन्योगाः ॥४८॥

वेति निवृत्तम् । **शास्त्रेऽस्य क्रमते बुद्धिरिति**—अप्रतिबन्धं प्रवर्तते इत्यर्थः । **सूत्राय क्रमते**—तदर्थमुत्सहते इत्यर्थः । **क्रमन्तेऽस्मिन् योगा**—अस्मिन् प्रकृतवर्णनीये यतौ योगाः चित्तवृत्तिनिरोधार्थाः क्रिया-

विशेषाः क्रमन्ते स्फीततां यान्ति प्रवर्द्धन्ते इत्यर्थः ॥४८॥

परोपात् ।३।३।४९।

आभ्यामेव परात् क्रमेर्वृत्त्याद्यर्थात्कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । पराक्रमते, उपक्रमते । परोपादिति किम् ? अनुक्रामति । वृत्त्यादावित्येव--पराक्रामति ॥४९॥

क्रमु पादविक्षेपे भ्वादिः ॥४९॥

वेः स्वार्थे ।३।३।५०।

स्वार्थः पादविक्षेपस्तदर्थाद्विपूर्वात्क्रमेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । साधु विक्रमते गजः । स्वार्थ इति किम् ? गजेन विक्रामति ॥५०॥

स्वस्यार्थः स्वार्थस्तत्र स्वार्थे । स्वपदेनात्मनेपदप्रकृति-भूतस्य क्रमेर्ग्रहणम् । **साधु विक्रमते गजः**—अत्र गजः सम्यक् पादविक्षेपं करोतीत्यर्थस्य विवक्षितत्वेन स्वार्थे प्रयोगसत्त्वाद् भवत्यात्मनेपदम् । **गजेन विक्रामति**—करणभूतेन गजेन स्थानान्तरं प्राप्नोतीत्यर्थः । नन्वत्र गणकरणस्थानान्तरप्राप्तिः सापि पादविक्षेपकृतैवेति धातोः स्वार्थ एव प्रयोग इति कुतो न भवत्यात्मनेपदमिति चेत् सत्यं प्रथमं कर्त्रैव क्रियायाः सम्बन्धः, करणादिभिश्च परम्परया सम्बन्धः कर्तुरेव करणादिप्रयोक्तृत्वात् तथा च कारकेषु कर्तुरेव प्राधान्यमिति प्रधानकर्तृकृत एव पादविक्षेपो ग्राह्यः अत्र तु प्रधानकर्तुः स्थानान्तरप्राप्तिरेव पादविक्षेपस्तु करणभूतस्य गजस्येति न भवत्यात्मनेपदम् ॥५०॥

प्रोपादारम्भे ।३।३।५१।

आरम्भार्थात्प्रोपाभ्यां परात्क्रमेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । प्रक्रमते,

उपक्रमते भोक्तुम् । आरम्भ इति किम् ? प्रक्रामति यातीत्यर्थः ॥५१॥

प्रक्रमते उपक्रमते भोक्तुम्=आरभते इत्यर्थः ॥५१॥

आङो ज्योतिरुद्गमे ।३।३।५२।

आङः परात्क्रमेश्चन्द्राद्युद्गमार्थात्कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । आक्रमते चन्द्रः सूर्यो वा । ज्योतिरुद्गम इति किम् ? आक्रामति बटुः कुतुपम् । धूम आक्रामति ॥५२॥

ज्योतिरुद्गमे—चन्द्रादीनामूर्ध्वं गमने इत्यर्थः । **आक्रमते चन्द्रः सूर्यो वा**—उदयते इत्यर्थः । आक्रामति=अवष्टभ्नातीत्यर्थः । अत्र क्रमिर्न उद्गमे वर्ततेऽपि तु अवष्टम्भे वर्तते । **धूम आक्रामति**—उद्गच्छतीत्यर्थः । अत्र यद्यपि उद्गमोऽस्ति तथापि ज्योतिष उद्गमाभावान्न भवति ॥५२॥

दाणोऽस्वास्यप्रसारविकाशे ।३।३।५३।

स्वास्यप्रसारविकासाभ्यामन्यार्थादाङ्पूर्वाद्दाणः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । विद्यामादत्ते । स्वास्यादिवर्जनं किम् ? उष्ट्रो मुखं व्याददाति, कूलं व्याददाति ॥५३॥

फलवतोऽन्यत्रायं विधिः । स्वास्यप्रसारश्च विकाशश्च स्वास्यप्रसारविकाशं तस्मिन् । **उष्ट्रोमुखं व्यादत्ते**—प्रसारयतीत्यर्थः । **कूलं व्याददाति**—विकसतीत्यर्थः । केचित्तु विकासपदेऽपि प्रयोजकरूपेणैव व्याचक्षते यतो व्याङ्पूर्वकस्य ददातेः सर्वत्र सकर्मकत्वेनैव प्रयोगस्य दर्शनात्तस्याकर्मकत्वे मानाभावः । तथा च कूलं व्याददातीत्यत्र नदीप्रवाहः कर्त्ता कूलं कर्मविकासयतीत्यर्थः इत्याहुः एतन्न रुचिकरं प्रयोगवशाद् व्याङ्पूर्वकस्य ददातेः सकर्मकत्वमकर्मकत्वं च सम्भवतीति ॥५३॥

नुप्रच्छः ।३।३।५४।

आङ्पूर्वान्नौतेः प्रच्छेश्च कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । आनुते शृगालः । आपृच्छते गुरून् ॥५४॥

आनुते शृगाल इति—उत्कण्ठितः शब्दं करोतीत्यर्थः । शब्दानुशासनस्य शब्दशक्तिस्वाभाव्यानुवादित्वात् उत्कण्ठापूर्वके संशब्दे एव नौतेरयं विधिः न सर्वत्र । **आपृच्छते गुरून्**—वियुज्यमानः शिष्यः स्वगमनानुमतिं याचते इत्यर्थः ॥५४॥

गमेः क्षान्तौ ।३।३।५५।

कालहरणार्थाद् गमयतेराङ्पूर्वात्कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । आगमयते गुरुम् - कञ्चित्कालं प्रतीक्षते । क्षान्ताविति किम् ? विद्यामागमयति ॥५५॥

क्षान्तिः सर्वत्र सहनार्थे प्रसिद्धा प्रकृते शब्दशक्तिस्वाभाव्यादर्थान्तरे रूढेत्याह—**कालहरणार्थादिति** । कालहरणं प्रतीक्षार्थं समययापनमित्यर्थः । ननु गमेरिति सामान्येन निर्देशेऽपि ण्यन्त एवं कथमुदाहृतः इति चेत्सत्यम् क्षान्तौ स्वाभाव्याद् गतिर्ण्यन्त एव प्रवर्तते । **विद्यामागमयति**—गृह्णातीत्यर्थः, गुरुसकाशाद् विद्यां गृह्णातीत्यर्थः, गमेर्ण्यन्तस्य क्षान्तावेव प्रयोग इति न नियमः किन्तु अधिगतौ ग्रहणेऽपि तस्य प्रयोगस्य दृष्टतया तत्रात्मनेपदाप्रवृत्त्यर्थं क्षान्तावित्यस्याऽऽवश्यकतेति भावः ॥५५॥

ह्वः स्पर्द्धे ।३।३।५६।

आङ्पूर्वात् ह्वयतेः स्पर्द्धे गम्ये कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । मल्लो मल्लमाह्वयते । स्पर्द्ध इति किम् ? गामाह्वयति ॥५६॥

स्पर्धः संघर्षः पराभिभवेच्छा । **मल्लो मल्लमाह्वयते**—स्पर्धमान

आकारयतीत्यर्थः, आकारणमाह्वानमेव, मल्लो मल्लान्तरमभिभवितुं शब्दायते इति भावः तथा च पराभिभवेच्छाया गम्यमानत्वेनाकर्तृगेऽपि फले भवत्यात्मनेपदम् । स्वाभावात् आङ्पूर्वकस्य ह्वयतेः धातोरर्थः शब्द एव ॥५६॥

सन्निवेः ।३।३।५७।

एभ्यो ह्वयते कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । संह्वयते, निह्वयते, विह्वयते ॥५७॥

उपसर्गत्रयसमाहारः, सौत्रं पुंस्त्वम्, उपसर्गान्तरोपादानादाङः इति निवृत्तम् । स्पर्द्धे इत्यस्यासम्बन्धार्थं योगविभागः । ह्वेंगो गित्त्वेन फलवत्कर्त्रात्मनेपदसिद्धेरफलवदर्थ अयमारम्भः । तथा चैभ्य उपसर्गेभ्यः पराद् ह्वयतेः सर्वथाऽऽत्मनेपदमेव न परस्मैपदमिति फलति ॥५७॥

उपात् ।३।३।५८।

उपाद् ह्वयतेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । उपह्वयते ॥५८॥

योगविभाग उत्तरार्थः । उत्तरत्र "यमः स्वीकारे ।३।३।५९। सूत्रे उपादित्येतावन्मात्रस्य सम्बन्धो यथा स्यान्न तूपसर्गचतुष्टयस्येतदर्थमुपादित्यस्य पृथक्सूत्रकरणम् अन्यथा एकयोगनिर्दिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः सहैव निवृत्तिरिति न्यायेन सर्वेषामेवोत्तरसूत्रेऽनुवृत्तिः स्यात् सा च नेष्टेति । यद्यपि "क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते" इत्यपि न्यायोऽप्यस्ति तथा चाचार्यैरेकदेशानुवृत्तिरपि व्याख्यातुं शक्यते एव तथापि सति गमके, असति च गत्यन्तरे क्वचिदेकदेशानुवृत्तिरपि व्याख्यायते न सर्वत्रेति । "व्याख्यानाद्वरं करणम्" इति न्यायानुसारं पृथग्योगारम्भ एव कृत इत्यवधेयम् ॥५७॥

यमः स्वीकारे ३।३।५९।

उपाद् यमेः स्वीकारार्थात्कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । कन्यामुपयच्छते । उपायंस्त महास्त्राणि । च्विनिर्देश इति किम् ? शाटकानुपयच्छति ॥५६॥

स्वीकारार्थादिति—उपोसर्गवशादेवास्य स्वीकारार्थे वृत्तिः, धातुपाठे तु 'यमू उपरमे' इति पठ्यते, उपरमश्च कार्यनिवृत्तिरेव । उपसर्गवशाच्च धात्वर्थोऽत्यन्त—भिन्नोऽपि भवति ।

उक्तं च— "उपसर्गेण धात्वर्थो, बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराऽऽहार-संहार-विहार-परिहारवत् ॥"

कन्यामुपयच्छते—कुमारीं भार्यात्वेन स्वीकरोतीत्यर्थः । **उपायंस्त महास्त्राणि**—युद्धार्थं महास्त्राणि स्वायत्तानि अकार्षीदित्यर्थः । **शाटकानुपयच्छति**—नात्रास्वं स्वं क्रियते किन्तु स्वत्वेन निश्चितस्य ग्रहणमिति नात्मनेपदम् । स्वीयत्वेन निश्चितान् शाटकान् गृह्णातीत्यर्थविवक्षायामयं प्रयोगः ॥५६॥

देवार्चामैत्रीसङ्गमपथिकर्तृकमन्त्रकरणे स्थः ।३।३।६०।

एतदर्थादुपपूर्वात्-तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । देवार्चा । जिनेन्द्रमुपतिष्ठते । मैत्री—रथिकानुपतिष्ठते । सङ्गमः—यमुना गंगामुपतिष्ठते । पन्थाः कर्ता यस्य तत्र । स्रुघ्नमुपतिष्ठते पन्थाः । मन्त्रः करणं यस्य—ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते ॥६०॥

देवकर्मिका देवसम्बन्धिनी वाऽर्चा पूजा=देवार्चा । **जिनेन्द्रमुपतिष्ठते**—जिनेन्द्रं स्तोतुं स्रक्चन्दनगन्धाद्यैः पूजयितुं वातस्य समीपं यातीत्यर्थः । **मैत्री**—मित्रस्य भावो मैत्रीतीह नार्थः किन्तु मित्रतयाऽऽचरणं मित्रं कर्तुं वाऽऽचरणमिह मैत्रीशब्दार्थः । सा मैत्री उपस्थानस्य तदाराधनस्य तत्समीपगमनस्य वा हेतुः मैत्रीनिमित्तत्वादुपस्थानस्य । यत्र च मैत्री न पूर्ववृत्ताऽपितु कर्तव्या तत्र फलं सेति । **रथिकानुपतिष्ठते**— रथिकाः रथारूढाः तान् मित्रत्वेन स्वीकर्तुमाराधयति तत्समीपं वा गच्छतीति, मित्रतयाऽऽराधयति तत्समीपं वा गच्छतीति वार्थः । **सङ्गमः**=उपश्लेषः—

उप सामीप्येन श्लेषः संमीलनमुपश्लेषः सम्बन्धविशेषः एवं च नात्र मित्रं कर्तुं मित्रतया वा सम्बन्धोऽपितु सामीप्यमात्रं विवक्षितमिति मैत्रीतो भिन्नः। **यमुना गङ्गामुपतिष्ठते**—गङ्गाप्रवाहे यमुनाप्रवाहः संश्लिष्ट इति गङ्गायमुनयोः सङ्गमो वृत्तः। अत्र यमुना गङ्गया सङ्गच्छते इत्यर्थप्रतीतेः सङ्गमार्थे आत्मनेपदम्। क्वचिद् गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते इत्युदाह्रियते, तत्र यमुनैव प्रथमं तत्रागता पश्चाद् गङ्गेति प्रतीतिरिति भेदः। **पन्थाः** कर्त्ता यस्यार्थस्य स पथिकर्तृकस्तत्र तस्मिन् **स्रुघ्नमुपतिष्ठते पन्थाः**—स्रुघ्नो नाम देशः अयं पन्थाः स्रुघ्नं प्रति गच्छतीत्यर्थः पथः कर्तृत्वादात्मनेपदम्। **ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते**—इन्द्रो देवताऽस्या सा ऐन्द्री ऋक् गृहपतिना संयुक्तः=गार्हपत्योऽग्निः ऐन्द्रा ऋचा मन्त्रविशेषेण गार्हपत्यनामानमग्निं स्तौतीत्यर्थः ॥६०॥

वा लिप्सायाम् ।३।३।६२।

उपात्स्थो लिप्सायां गम्यमानायां कर्तर्यात्मनेपदं स्याद्वा। भिक्षुर्दातृकुलमुपतिष्ठते, उपतिष्ठति वा ॥६१॥

भिक्षोश्चित्तेऽहं भिक्षां लभेयेति लिप्सा वर्तते ॥६१॥

उदोऽनूर्ध्वेहे ।३।३।६२।

अनूद्ध्वा या चेष्टा तदर्थात् उत्पूर्वात्स्थः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। मुक्तावुत्तिष्ठते। अनूर्द्धेति किम्? आसनादुत्तिष्ठति। ईहेति किम्? ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति ॥६२॥

मुक्तावुपतिष्ठते—मुक्त्यर्थं चेष्टते इत्यर्थः **शतमुत्तिष्ठति**—उत्पद्यते इत्यर्थः, अस्माद् ग्रामाच्छतं रूप्यकाणि कररूपेणोत्पद्यन्ते इति भावः ॥६२॥

संविप्रावात् ।३।३।६३।

एभ्यः परात्स्थः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । संतिष्ठते । वितिष्ठते । प्रतिष्ठते । अवतिष्ठते ॥६३॥

संतिष्ठते=आरोहावरोहादिक्रमेण वर्तते इत्यर्थः **वितिष्ठते**—प्रकारभेदेन वर्तते इत्यर्थः । **प्रतिष्ठते**=प्रवसतीत्यर्थः । **अवतिष्ठते**=कयाचिदनवस्थया वर्तते इत्यर्थः ॥६३॥

ज्ञीप्सास्थेये ।१।३।६४।

ज्ञीप्सा आत्मप्रकाशनम् । स्थेयः सभ्यः । ज्ञीप्सायां स्थेयविषयार्थे च वर्तमानात् स्थः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । तिष्ठते कन्याच्छात्रेभ्यः । त्वयि तिष्ठते विवादः ॥६४॥

परपरितोषार्थमात्मरूपादिप्रकाशनं ज्ञीप्सा । तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थेयः रूढिवशाद् विवादपदे निर्णेता प्रमाणभूतः पुरुषः उच्यते । "य एच्चातः" ।५।१।२८। इति भावकर्मणोर्विहितो यप्रत्ययो बाहुलकादत्राधिकरणे । **तिष्ठते कन्या च्छात्रेभ्यः**—स्वाभिप्रायप्रकाशनेनात्मानं रोचयतीत्यर्थः । **त्वयि तिष्ठते विवादः**—त्वां विवादे निर्णेतृत्वेनाश्रयति ॥६४॥

प्रतिज्ञायाम् ।१।३।६५।

अभ्युपगमार्थात् स्थः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् नित्यं शब्दमातिष्ठते । ॥६५॥

प्रतिज्ञा=अभ्युपगमः, तथात्वेन स्वीकार इति यावत् । **नित्यं शब्दमातिष्ठते**—वैयाकरणः शब्दं नित्यत्वेनाभ्युपगच्छति, तदपेक्षयाऽयं प्रयोगः नित्यत्वेन प्रतिजानीते इत्यर्थः । स्वभावाच्चाङ्पूर्व एव प्रतिज्ञायां वर्तते । योगविभाग उत्तरार्थः । उत्तरसूत्रे केवलं प्रतिज्ञार्थस्य सम्बन्धो यथा स्यान्न तु ज्ञीप्सास्थेययोरिति । अन्यथा "एकयोगनिर्दिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः सहैव निवृत्तिः" इति सर्वेषामनुवृत्तिः स्यात् ॥६५॥

समो गिरः ।३।३।६६।

संपूर्वाद् गिरः प्रतिज्ञार्थात् कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । स्याद्वादं सङ्गिरते ॥६६॥

स्याद्वादं संगिरते प्रतिजानीते इत्यर्थः । स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः स्याद्वादः स एव सप्तभङ्गीपदेन व्यवह्रियते । "ॠतां क्ङितीर् ।४।४।११६। इतीरादेशयुक्तस्य गिर इति निर्देशात् गृणातेर्ग्रहणं न भवति ॥६६॥

अवात् ।३।३।६७।

अवाद्गिरः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । अवगिरते ॥६७॥

पृथग्योगात् प्रतिज्ञायामिति निवृत्तम् तथा चावपूर्वकाद्गिरतेरर्थविशेषानपेक्षमात्मनेपदमनेन विधीयते । अवादन्यत्र गिरति ॥६७॥

निन्हवे ज्ञः ।३।३।६८।

निह्नवोऽपलापस्तद्वृत्तेर्ज्ञः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् शतमपजानीते ॥६८॥

निह्नवः अपलापः, छलेन गोपनम् कृतस्यास्वीकारो वा । **शतमपजानीते**—अपह्नुते इत्यर्थः, पूर्वेण गृहीतं शतसंख्यकं द्रव्यं मया न गृहीतमिति कथयतीति भावः । अपेन जानातेर्निह्नवरूपोऽर्थो द्योत्यते ॥६८॥

संप्रतेरस्मृतौ ।३।३।६९।

स्मृतेरन्यार्थात्संप्रतिभ्यां परात् ज्ञः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । शतं संजानीते । प्रतिजानीते । अस्मृताविति किम् ? मातुः संजानाति ॥६९॥

शतं संजानीते—अवेक्षते इत्यर्थः, सम्यक्प्रकारेण ज्ञानमेवावेक्षा-पदार्थः । "समोऽज्ञोऽस्मृतौ वा ।२।२।५१। इति विकल्पेन तृतीया भवति । **शतं प्रतिजानीते**—अभ्युपगच्छतीत्यर्थः शतमहं दास्यामीति स्वीकरोतीत्यर्थः । **मातुः संजानाति**—स्मरतीत्यर्थः ।" "स्मृत्यर्थदयेशः ।२।२।११। इति विकल्पेन कर्मत्वे कर्मत्वाभावपक्षे" शेषे ।३।२।८१। इति षष्ठी, सति कर्मत्वे द्वितीयाऽपि भवति । ननु कर्मत्वाभा-वपक्षे 'ज्ञः ।३।३।८१। इत्यात्मनेपदेन भाव्यमिति "मातुः संजानीते" इति स्यादिति चेन्न कर्मण्यसतीति कथनेन सर्वथा कर्माभाववत एवात्मनेपदविधानादस्य च पाक्षिककर्मणः सत्वात् कर्मात्यन्ताभावत्वं नास्तीत्यदोषात् ।।६९।।

अननोः सनः ।३।३।७०।

सन्नताज्ज्ञः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् न त्वनोः परात् । धर्मं जिज्ञासते । अननोरिति किम् ? धर्ममनुजिज्ञासति ।।७०।।

धर्मं जिज्ञासते—सकर्मकत्वेन 'ज्ञः ।३।३।८२। इत्यनेनात्मनेपदाप्राप्तेः 'प्राग्वत्' ।३।३।७४। इत्यनेनात्र न सिद्धिरिति सूत्रारम्भः । किंच फलवति कर्तरि 'ज्ञोऽनुपसर्गात् ।३।३।९६। इत्यनेन केवलादात्मनेपदस्य विहितत्वेन सन्नतात् 'प्राग्वत् ।३।३।९६। इत्यनेनैव सिद्धिरिति धर्मं जिज्ञासते इत्यादिप्रयोगसिद्धाविदं सूत्रमफलवदर्थम् । **धर्ममनुजिज्ञासतीति**—इह फलवत्यपि कर्तर्यात्मनेपदं न भवति सोपसर्गत्वेन 'अनुपसर्गाज्ज्ञः ।३।३।९६। इत्यस्याप्राप्तेः ।।७०।।

श्रुवोऽनाङ्प्रतेः ।३।३।७१।

सन्नन्ताच्छृणोतेः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् न त्वाङ्प्रतिभ्यां परात् । शुश्रूषते गुरून् । अनाङ्प्रतेरिति किम् ? आशुश्रूषति । प्रतिशुश्रूषति ।।७१।।

शुश्रूषते—शब्दशक्तिस्वाभाव्यादत्र सेवितुमिच्छतीत्यर्थः । शब्द-

कर्मके सशुश्रूषते शब्दानित्यत्र शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् श्रोतुमिच्छतीत्यर्थः ॥७१॥

स्मृदृशः ।३।३।७२।

आभ्यां सन्नन्ताभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । सुस्मूर्षते । दिदृक्षते ॥७२॥

सुस्मूर्षते-दिदृक्षते—"स्वरहनगमो० ।४।१।१०४। इति दीर्घः ।" नामिनोऽनिट् ।४।३।३३। "उपान्त्ये" ।४।३।३४। इति किद्वद्भावः ॥७२॥

शको जिज्ञासायाम् ।३।३।७३।

शको ज्ञानानुसंहितार्थात्सन्नन्तात् कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । विद्यां शिक्षते । जिज्ञासायामिति किम् ? शिक्षति ॥७३॥

ज्ञानानुसंहितार्थादिति—ज्ञानसंबद्धार्थादित्यर्थः । **विद्याः शिक्षते** विद्याः ज्ञातुं शक्नुयां शक्तिर्मे स्यादितीच्छतीत्यर्थः । 'शिक्षि विद्योपादाने' इत्यनेनैव सिद्धे आमनुप्रयोगार्थं वचनम् तेन शिक्षांचक्रे इति भवति न तु शिक्षांचकारेति । अयमाशयः—शिक्षिधातुरिदित्त्वादात्मनेपदी तस्यैकस्वरत्वादाम् न भवति किन्तु शक्धातोः सनि शिक्षधातोरनेकस्वरत्वादामः प्रयोगे शकधातोरिदित्वाभावात् 'प्राग्वत् ।३।३।७४। इति परस्मैपदम् ततः आमि" आमः कृगः ।३।३।७४। इति परस्मैपदमेव स्यात् तद्वारणार्थमात्मनेपदं विधीयते ॥७३॥

प्राग्वत् ।३।३।७४।

सनः पूर्वो यो धातुस्तस्मादिव सन्नन्तात्कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । शिशयिषते । अश्वेन संचिचरिषते ॥७४॥

यत् पूर्वस्य धातोरनुबन्धेनोपपदेनार्थविशेषेण वाऽऽत्मनेपदं दृष्टं तत् सन्नन्तादतिदिश्यते । शीङ् शेते=शिशयिषते । सञ्चिचरिषते="समस्तृतीयया" ।३।३।३२। इत्यात्मनेपदम् ।।७४।।

आमः कृगः ।३।३।७५।

आमः परादनुप्रयुक्तात् कृग आम एव प्राग् यो धातुस्तस्मादिव कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । भवति न भवति चेति विधिनिषेधावतिदिश्येते । ईहांचक्रे । बिभराञ्चकार । कृग इति किम् ? ईक्षामास ।।७५।।

यद्याम्प्रकृतिभूताद् धातोरात्मनेपदं भवति तदा ततोऽनुप्रयुज्यमानात् करोतेरप्यात्मनेपदं भवति यदि चाम्प्रकृतेरात्मनेपदं न भवति तदाऽनुप्रयुज्यमानात् कृगोऽपि तन्न भवतीति फलितार्थः । **ईहाञ्चक्रे**= ईहिधातुरिदित्वादात्मनेपदी ततः परात् आमः परात्कृगोऽफलवत्यपि आत्मनेपदं भवति । अन्यथा कृगः गित्वात् फलवत्यात्मनेपदं स्यादफलवति च परस्मैपदं स्यात् । **बिभयाञ्चकारेति** इह फलवत्यप्यात्मनेपदं न भवति । यत्र तु पूर्वस्मादुभयं तत्र फलवत्यफलवति चोभयं भवति ।।७५।।

गन्धनावक्षेपसेवासाहसप्रतियत्नप्रकथनोपयोगे ।३।३।७६।

एतदर्थात् कृगः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । गन्धनं द्रोहेण परदोषोद्घाटनम् । उत्कुरुते । अवक्षेपः कुत्सनम् । दुर्वृत्तानवकुरुते । सेवा महामात्रानुपकुरुते । साहसमविमृश्य प्रवृत्तिः—परदारान् प्रकुरुते । प्रतियत्नः गुणान्तराधानम् । एधोदकस्योपस्कुरुते । प्रकथनम्—जनापवादान् प्रकुरुते । उपयोगो धर्मादौ विनियोगः—शतं प्रकुरुते ।।७६।।

परदोषोद्घाटनं द्विधा=परस्य सन्मार्गोपदेशाय तदीयदोषानुद्-

घाटच तत्पारप्रदर्शनारिहय, तदीयापकाराय च तत्रेह द्वितीया कोटिर्ग्रही-तुमभिलषितेत्याह—**द्रोहेण** । दुर्वृत्ताः दुश्चरित्रा जनाः तानवकुरुते=कुत्सयतीत्यर्थः । सेवा=अनुवृत्तिः, आनुकूल्येनाऽऽचरणं प्रीत्यनुकूलव्यापार इति यावत् । प्रकुरुते=विनिपातमविभाव्य तानभिमच्छतीत्यर्थः, विनिपातः ऐहिकं दुर्यशः, आमुष्मिकं नरकप्राप्त्यादिः तमविभाव्य अनेन कर्मणा मे विनिपातो भविष्यतीत्यविमृश्य तान् परदारान् अभिगच्छति स्ववशे करोतीत्यर्थः । **प्रतियत्नः**=स्वेन रूपेण वर्तमानस्य वस्तुनो गुणान्तरस्य पूर्णगुणापेक्षयाऽन्यगुणस्याऽऽधानम् उत्पादनमित्यर्थः स्वरूपप्रच्युतस्य दुग्धादेर्दध्यादिरूपेण परिणमनं न प्रतियत्नः इति बोधयितुं स्वेन रूपेण वर्तमानस्येति ज्ञेयम् । एध इत्यकारान्तशब्दः काष्ठवाची, एधश्चोदकं चैधोदकं तस्य एधोदकस्योपस्कुरुते, अथवा एधसिति सकारान्तः शब्दः काष्ठवाची, दकमिति उदकनाम "प्रोक्तं प्राज्ञैर्भुवनविदितं जीवनीयं दकं च" इति वचनात् एधश्च दकं चैधोदकं तस्येति । **प्रकथनं**=कथनप्रारम्भः, प्रकर्षेण कथनं वा कस्यचिद्वस्तुनः सम्यक्तया प्रतिपादनमिति यावत् । **जनवादान् प्रकुरुते**=कथयितुमारभते प्रकर्षेण कथयति वेत्यर्थः उपयोगः=प्रयोगस्वाभावात् धर्मादिकृत्ये विनियोग एवोपयोगशब्देन प्रसिद्धः । **शतं प्रकुरुते**=अत्र प्रशब्दमहिम्ना आत्मनेपदेन च धर्मकृत्ये विनियुङ्क्ते व्ययतीत्यर्थः ॥७६॥

अधेः प्रसहने ।१।३।७७।

अधेः परात्कृञः प्रसहनार्थात्कर्तर्यात्मनं स्यात् । प्रसहनं पराभिभवः परेण पराजयो वा । तं ह्यधिचक्रे । प्रसहन इति किम् ? तमधिकरोति ॥७७॥

प्रसहनं पराभिभवः परेणापराजयो वा । परस्य शत्रोरभिभवः तिरस्कारः, परेणापराजयः स्वकीयाभिभवाभाव एव । पूर्वत्र परस्मादुत्कृष्टत्वं परत्र तस्मादनपकृष्टत्वं प्रतीयते इति विशेषः । **ह्यधिचक्रे** तमिति प्रक्रान्तं परमुपस्थापयति ह इत्यव्ययम् । तं प्रसेहे तमभिभूतवान् तेन वा न पराजित इति यावत् । **तमधिकरोति**=प्रक्रान्तं कञ्चित् कस्मिंश्चिद् नियोजयतीत्यर्थप्रतीत्या प्रसहनार्थाभावे नात्रात्मनेपदम्,

प्रसहन इति पदाभावे च स्यादेवेत्याशयः ॥७७॥

दीप्तिज्ञानयत्नविमत्युपसंभाषोपमन्त्रणे वदः ।३।३।७८।

एष्वर्थेषु गम्येषु वदःकर्त्तर्यात्मने पदं स्यात् ।दीप्तिर्भासनम्। वदते विद्वान् स्याद्वादे। ज्ञाने–वदते धीमांस्तत्त्वार्थे। यत्ने–तपसि वदते। नानामतिर्विमतिः–धर्मे विवदन्ते। उपसंभाषा–उपसान्त्वनम्। कर्मकरानुपवदते। उपमन्त्रणं रहस्युपच्छन्दनम्–कुल भार्यानुपवदते ॥७८॥

दीप्तिर्भासनम् मुखविकासादिना शोभमानत्वमिति भावः। वदते विद्वान् स्याद्वादे=सम्यग्ज्ञानादनाकुलकथनाच्च विकसितमुखत्वात् दीप्यमानो विद्वान् स्याद्वादविषये वदते। विकसितमुखत्वे च हेतुद्वयमुपात्तं सम्यग्ज्ञानादनाकुल-कथनाच्च विषयमसम्यग्जानानो हि सन्दिग्धमनाः संकुचितमुखो भवति, परप्रतारणार्थं यथाकथंचित्स्वमतप्रतिपादनार्थं वा वदन्नपि विषयसम्यग्ज्ञानाभावात् स्वनिग्रहं शङ्कमानो विवर्णमुखो भवत्येवेति मुखविकासाय सम्यग्ज्ञानमावश्यकम्। सम्यग्जानानोपि सम्यक्प्रतिपादयितुमशक्तो विवर्णमुखो भवतीत्यतः उक्तमनाकुलकथनाच्चेति। अनाकुलमसंकीर्णं यथा स्यात्तथा कथनात्प्रतिपादनाच्च विकसितमुखत्वम्। **ज्ञानमवबोधः**—विषयस्य यथार्थाधिगतिरवबोधः, **वदते धीमांस्तत्त्वार्थे**= ज्ञात्वा वदतीत्यर्थः। **यत्नः**=उत्साहः, स्थैयाय संरम्भ, कस्यापि कार्यस्य कृते स्थिरतमं प्रावीण्यमिति यावत्। तपसि वदते=तद्विषयकमुत्साहं वाचाऽऽविष्करोति। नानामतिर्विमतिः एकत्र धर्मिणि विभिन्नप्रकारा प्रतिपत्तिरित्यर्थः। धर्मे विवदन्ते=विमतिपूर्वकं विचित्रं भाषन्ते, विविधं मन्यन्ते इतिवार्थः। **उपसंभाषा**=उपसान्त्वनम् केनापि कारणेन पीडितमनस सन्तोषाय वाक्प्रयोग एवोपसान्त्वनम्। कर्मकरानुपवदते=पूर्वं स्वेनैव भर्त्सितान् तान् उपसान्त्वयति, साम्ना प्रकृतिस्थान् करोतीत्यर्थः। **उपमन्त्रणम्**=रहस्युपच्छन्दनम्, आनुकूल्येनोपलोभनमुपच्छन्दनम् कुलभार्यानुपवदते=रहस्युपलोभयतीत्यर्थः ॥७८॥

व्यक्तवाचां सहोक्तौ ।३।३।७९।

व्यक्तवाचो रूढया मनुष्यादयस्तेषां सम्भूयोच्चारणार्थाद् वदः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । संप्रवदन्ते ग्राम्याः । व्यक्तवाचामिति किम् ? संप्रवदन्ति शुकाः । सहोक्ताविति किम् ? चैत्रेणोक्ते मैत्रो वदति ॥७९॥

व्यक्ता व्यक्ताक्षरा वाग्येषां ते व्यक्तवाचः । न ध्वनिमात्रस्य व्यक्तत्वेन व्यक्तवाक्त्वंमत्र क्रियते किन्तु येषां वाचि कादिवर्णाः स्फुटं प्रतीयन्ते ते एव व्यक्तवाचः इति कथ्यन्ते । ननु पक्ष्यादिशब्देष्वपि लोकैस्तत्तदक्षरव्यक्ति-भावस्यानुभूयत्वात् शुकादीनां वाच्यपि स्फुटतरवर्णोपलब्धेः सर्वेषामपि जीवानां व्यक्तवाक्त्वं स्यादिति चेत्सत्यमत एवोक्तं **रूढया मनुष्यादयः** । किञ्च शुकादीनां वाचि अकारादयो वर्णा अपि व्यक्ता भवन्ति अत एव कुक्कुटेनोक्ते कुकू इति वदति, कोकिलोक्ते कुहूरिति वदति इत्येवं जनाः कथयन्ति । यदि कादिवर्णव्यक्तिस्तत्र न स्यात्तर्हि कथमेवमुक्तिः सङ्गच्छेतेति व्यक्ताक्षरा वाग्येषामिति कथनेऽपि न निस्तार इति मनुष्यादिषु रूढिराश्रिताः । **सहोक्तौ**=सम्भूय बहुभिर्मिलित्वा शब्दोच्चारणे । सम्प्रवदन्ते=सम्भूय भाषन्ते इत्यर्थः ॥७९॥

विवादे वा ।३।३।८०।

विरुद्धार्थो वादो विवादः व्यक्तवाचां विवादरूपसहोक्त्यर्थाद् वदः कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । विप्रवदन्ते, विप्रवदन्ति वा मौहूर्त्ताः । विवाद इति किम् ? संप्रवदन्ते वैयाकरणाः । सहोक्तावित्येव— मौहूर्तो मौहूर्तेन क्रमाद् विप्रवदति ॥८०॥

तत्त्वनिर्णयार्थैकत्र विषये परस्परविरुद्धा अर्था अभिधेया यत्र स विरुद्धार्थो वादः वाक्प्रयोगो विवाद इत्यर्थः । विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा मौहूर्ताः=एकेऽपरेषां मतं प्रतिषेधयन्तः युगपद्विरुद्धं वदन्तीत्यर्थः । सम्प्रवदन्ते वैयाकरणाः=सम्भूय वदन्तीत्यर्थः । क्रमाद् विप्रवदति=विरुद्धा-

भिधानमात्रमिह प्रतिपादनेच्छाविषयं न तु विमतिपूर्वकम् तेन "दीप्ति० ।३।३।७८। सूत्राद्विमतिलक्षणमप्यात्मनेपदं न भवति ।।८०।।

अनोः कर्मण्यसति ।३।३।८१।

व्यक्तवाचामर्थे वर्तमानादनुपूर्वाद् वदः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । अनुवदते चैत्रो मैत्रस्य । कर्मण्यसतीति किम् ? उक्तमनुवदति । व्यक्तवाचामित्येव–अनुवदति वीणा ।।८१।।

व्यक्तवाक्सहोक्तौ इति समासेन लाघवात् निर्देशे कर्तव्ये व्यक्तवाचां सहोक्ताविति व्यासेन निर्देशः तावन्मात्रस्यापि क्वचित्सम्बन्धं सूचयति तेनात्र व्यक्तवाचामित्येवानुवर्तते । अनुः सादृश्ये पश्चादर्थे वा । अनुवदते चैत्रो मैत्रस्य=यथा मैत्रो वदति तथा चैत्रो वदतीत्यर्थः अथवा मैत्रेण पूर्वमुक्तं पश्चाद् वदतीत्यर्थः । ननु लाघवानुरोधेन 'अनोरकर्मकात्' इत्येव सूत्रयतां तथा सति वद इत्यनेन सामानाधिकरण्येनान्वयोऽपि सम्पत्स्यते इति चेत्सत्यम् । कर्मण्यसतीति वैयधिकरण्येन निर्देशः उत्तरत्र सूत्रे 'शब्दे', 'स्वेऽङ्गे' च कर्मणि इति लाघवेन प्रतिपत्त्यर्थः । अयमाशयः कर्मण्यसतीति परत्रानुवर्तते तत्र क्वचित्केवलं 'कर्मणि' इत्यस्य 'असति' इत्यनेनैव सम्बन्धः, क्वचिच्च तस्याऽऽवृत्त्याऽन्येनाऽपि सम्बन्धः कर्तुं शक्यते यथा 'वेः कृगः शब्दे चानाशे' ।३।३।८५। 'आङो यमहनः स्वेऽङ्गे च' ।३।३।८६। इत्यनयोः सूत्रयोरनुवृत्तं कर्मण्यसतीति पदद्वयं सम्बध्यते, अथ च तत्रत्य 'कर्मणि' इत्यावृत्तं सत् 'शब्दे' इत्यनेन 'स्वेऽङ्गे' इत्यनेन च सम्बध्यते । शब्दरूपे कर्मणि च सति, स्वाङ्गरूपे कर्मणि च सति इत्यप्यर्थो प्राप्यते । अत्राकर्मकादित्युक्तौ तु तत्रापि शब्दकर्मकाद् स्वाङ्गकर्मकादिति च निर्देशः कर्तव्यः स्यात् इति गौरवरूपो दोषः प्रसज्येतेति प्रकृतनिर्देश एव लाघवम् । तथा च कर्मण्यसतीति व्यधिकरणमेव धातूनामिहोपात्तम् ।।८१।।

ज्ञः ।३।३।८२।

जानातेः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । सर्पिषो जानीते ।

कर्मण्यसतीत्येव—तैलं सर्पिषो जानाति ॥८२॥

सर्पिषो जानीते=सर्पिषा कारणेन भोक्तुं प्रवर्तते इत्यर्थः "अज्ञाने ज्ञः षष्ठी।२।२।८०। इति षष्ठी, मिथ्याज्ञानार्थो वा जानातिः सर्पिषि रागवान् द्वेषवान् वोदकादिषु सर्पिष्टया ज्ञानवान् भवतीत्यर्थः। रागोऽत्यासक्तिः। रागाद् द्वेषाद् वा मिथ्याज्ञानं जायते। अतस्मिन् तद्-बुद्धिर्मिथ्याज्ञानम्। उदकादौ सर्पिष्ट्वरहिते सर्पिष्ट्वेन ज्ञानं मिथ्याज्ञान-मेव। रागो द्वेषो वा स्वविषयमेव सर्वत्र दर्शयति यथा स्त्रीरक्तस्य सर्वं जगत् तन्मयमेव प्रतिभाति, कृष्णद्वेषी कंसः सर्वत्र कृष्णमेवापश्यत् इति प्रसिद्धिरस्ति। तैलं सर्पिषो जानाति=तैलं सर्पिष्टया जानातीत्यर्थः यद्यपि तैलसर्पिषोरुद्देश्यविधेयभावेन समानविभक्तित्वे तैलं सर्पिर्जानाती-त्यपि प्रयोगो भवति अत्र तु सम्बन्धविवक्षया षष्ठी ॥८२॥

उपात्स्थः ।३।३।८३।

अतः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। योगे योग उपति-ष्ठते। कर्मण्यसतीत्येव—राजानमुपतिष्ठति ॥८३॥

योगे योग उपतिष्ठते=इह उभयं सप्तम्यन्तं, किञ्चित्पदं प्रति-योगमुपस्थितं भवतीत्यर्थः, एकं सप्तम्यन्तमपरं प्रथमान्तमिति वा एक-स्मिन् योगेऽपरो योग उपतिष्ठते इत्यर्थः। उपतिष्ठते=संनिधीयते दधातेः कर्मकर्तरि, धीङ्च् अनादरे इत्यस्य वा रूपमिदम्, धातूनामनेकार्थत्वेन च विवक्षितार्थलाभः। राजानमुपतिष्ठति=राजसमीपं गच्छतीत्यर्थः राज्ञः कर्मत्वान्नात्मनेपदम् ॥८३॥

समो गमृच्छिप्रच्छिश्रुवित्स्वरत्यर्त्तिदृशः ।३।३।८४।

संपूर्वेभ्य एभ्यः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। सङ्गच्छते समृच्छिष्यते। संपृच्छते। संशृणुते। संवित्ते। संस्वरते। समृच्छते। समियृते। संपश्यते। कर्मण्यसतीत्येवसङ्गच्छति मंत्रम् ॥८४॥

सङ्गच्छते=सामञ्जस्यं प्राप्नोतीत्यर्थः। समृच्छिष्यते= ऋच्छ-धातुस्तौदादिकः 'ऋच्छत् इन्द्रियप्रलयमूर्तिभावयोः, अर्त्तेरपि शिति "श्रौति-कृवु० ।४।२।१०८। इत्यनेन ऋच्छादेशविधानाद्रूपसाम्यमिति ऋच्छेरभिव्य-क्त्यर्थम् अशित्युदाहृतम्। **संवित्ते**=गम्यादयो दृश्पर्यन्ताः सर्वे एव नित्य-परस्मैपदिनः तन्मध्ये विद्धातुः पठ्यते, अयं च ज्ञानार्थ एव नित्यपरस्मै-पदी, सत्तायां विचारणे चाऽऽत्मनेपदी, प्राप्तावुभयपदीति, **नित्यपरस्मैप-दिभिः साहचर्यात् ज्ञानार्थस्यैव विदेर्ग्रहणम्**। ज्ञानार्थस्य रूपमिदमन्यस्य तु यथायथं संपूर्वस्यापि नित्यं पाक्षिकं वाऽऽत्मनेपदम्। संस्वरते=स्वृ शब्दोपतापयोः। अर्त्तीति **सामान्यनिर्देशात् भ्वादिरदादिश्च गृह्यते** उभयोः परस्मैपदित्वेन परस्मैपदिसाहचर्यस्य नियामकत्वाप्राप्तेः। साम्यात् ह्रस्वस्यैव ग्रहणात् ऋश् गतौ इति क्र्यादिस्तु न गृह्यते। अत्र सूत्रे कस्य-चित् धातोः स्वरूपेण कस्यचिद् इप्रत्ययान्तत्वेन निर्देशो दृश्यते, लाघवेन स्वरत्यर्त्योरपि तथैव निर्देशस्यौचित्ये **श्तिपा निर्देशो** यङ्लुङ्निवृत्त्यर्थः। अन्यथा "प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणम्" इति न्यायेन यङ्लुबन्तेऽ-प्यात्मनेपदप्रवृत्तिः स्यात्, ऋच्छेस्तु व्यञ्जनादित्वाभावात् यङेव न भवति, यङेव न, कुतो लुप्, अन्येभ्यः गम्यादिभ्यस्तु यङ्लुबन्तेभ्योऽप्यात्मनेपदं भवत्येव ।।८४।।

वेः कृगः शब्दे चानाशे ।३।३।८५।

अनाशार्थाद् विपूर्वात्कृगः कर्मण्यसति शब्दे च कर्मणि कर्तर्या-त्मनेपदं स्यात्। विकुर्वते सैन्धवाः। क्रोष्टा विकुरुते स्वरान्। शब्दे चेति किम्? विकरोति मृदम्। अनाश इति किम्? विक-रोत्यध्यायम् ।।८५।।

विकुर्वते सैन्धवाः=सिन्धुदेशोद्भवा अश्वविशेषाः गतिविशेषेषु शिक्षिताः विविधमाचरन्तीत्यर्थः। **क्रोष्टा विकुरुते स्वरान्**=क्रोष्टा शृगालो नानाविधान् स्वरान् करोतीत्यर्थः। विकरोत्यध्यायम्=अध्यायम् अध्ययनं विनाशयतीत्यर्थः ।।८५।।

आङो यमहनः स्वेङ्गे च ।३।३।८६।

आभ्यां पराभ्यां यम्हन्भ्यां कर्मण्यसति सतुः स्वेऽङ्गे च कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । आयच्छते, आहते वा । स्वेऽङ्गे—आयच्छते, आहते वा पादम् । स्वेऽङ्गे चेति किम् ? आयच्छति रज्जुम् ॥८६॥

स्वाङ्ग इति समस्तनिर्देशे पारिभाषिकस्वाङ्गप्रतिपत्तिः स्यादित्यसमस्ताभिधानम्=अयमाशयः स्वाङ्गं द्विधेह ख्यातम्–यौगिकं पारिभाषिकं च। तत्र यौगिकं स्वस्याङ्गं स्वाङ्गम् । पारिभाषिकं यथा=

अविकारोऽद्रवं मूर्तं प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते ।
च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निभं च प्रतिमादिषु ॥

अस्यार्थः—विकारो वातादिक्षोभजन्मा शोकादिः तद्भिन्नमद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गम्, अविकारादिलक्षणयुक्तं प्राणिस्थत्वाभावेऽपि प्राणिनश्च्युतं चेत्तदपि स्वाङ्गम्, प्रतिमादिषु स्थितं प्रथमलक्षणलक्षितस्वाङ्गसदृशस्वाङ्गमपि स्वाङ्गम् । एतत्पारिभाषिकस्वाङ्गं व्याकरणशास्त्रे प्रसिद्धम् । स्वाङ्गशब्देनोभयोरर्थयोरुपस्थितौ "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः" इति न्यायेन 'रूढिर्योगाद् बलीयसी' इति न्यायेन वा स्वाङ्गपदेन पारिभाषिकस्वाङ्गस्यैव ग्रहणं तन्मा भूदित्यसमस्तरूपेण 'स्वेऽङ्गे' इति निर्दिष्टम् । आयच्छते=स्वयमेव दीर्घीभवतीत्यर्थः आहते=यत्किञ्चिदाहन्तुं प्रवर्तते इत्यर्थः । आयच्छते पादम्=पादं दीर्घीकरोतीत्यर्थः । आहते पादम्=पादं ताडयतीत्यर्थः ॥८६॥

व्युदस्तपः ।३।३।८७।

आभ्यां परात्तपेः कर्मण्यसति स्वेऽङ्गे च कर्मणि कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । वितपते । उत्तपते रविः । वितपते । उत्तपते पाणिम् ॥८७॥

वितपते उत्तपते रविः=दीप्यते इत्यर्थः वितपते उत्तपते पा-

णिम्=तापयतीत्यर्थः । अग्न्यादिसम्पर्केणापगतशैत्यं करोतीति भावः ॥८७॥

अणिक्कर्म णिक्कर्तृकाण्णिगोऽस्मृतौ ।३।३।८८।

अणिगवस्थायां यत्कर्म तदेव णिगवस्थायां कर्ता यस्य तस्माद-णिगन्तादस्मृत्यर्थात् कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । आरोहयते हस्ती हास्तिपकान् । अणिगितीति किम् ? आरोहयति हस्तिपकान्महा-मात्रः । आरोहयन्ति महामात्रेण हस्तिपकाः । णिगिति किम् ? गण-यते गणो गोपालकम् ? कर्मेति किम् ? दर्शयति प्रदीपो भृत्यान् । णिगिति किम् ? लुनाति केदारं चैत्रः । लूयते केदारः स्वयमेव, तं प्रयुङ्क्ते लावयति केदारं चैत्रः । कर्तेति किम् ? आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः तानारोहति महामात्रः । णिग इति किम् ? आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः तानेनमारोहयते हस्तीत्यणिगि मा भूत् । अस्मृताविति किम् ? स्मरयति वनगुल्मः कोकिलम् ॥८८॥

आरोहयते हस्तीति=अत्रानुकूलाचरणं पादार्पणनिरोधननादि । हस्तिपकाः हस्तिनं उपर्यागच्छति तांस्तदनुकूलाचरणेनाऽऽगमयतीत्यर्थः । इयं णिगवस्था । आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपका इत्यणिगवस्था । **आरोह-यति हस्तिपकान्महामात्रः**=प्रधानहस्तिपकः महामात्र उच्यते, आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, आरोहतो हस्तिपकान् महामात्रः प्रेरयतीत्यवस्थायां प्रथमं णिग्, आत्मनः आरोहयन्तं महामात्रं हस्तिपकाः प्रेरयन्तीत्यर्थविव-क्षाया पुनर्णिग् । द्वौ णिगौ । अत्र हस्तिपकः णिगवस्थायां कर्मास्ति अणि-गवस्थायां नास्ति । **गणयते**=गणयति गणं गोपालक इति अणिगवस्था, चुरादित्वात्स्वार्थे णिग् । गणयन्तं गोपालकं गणः प्रेरयतीति विवक्षायां णिगि सति अणिक्कर्मणो गणस्य णिगवस्थायां कर्तृत्वसत्त्वाद् भवत्येवा-त्मनेपदम् । णित्करणाभावे च गणयति गणं गोपालक इत्यस्याण्यन्तत्वा-भावेन तत्र कर्मणो गणस्य णिगन्तावस्थायां कर्तृत्वसत्त्वेऽपि न स्यादात्म-

नेपदम् । **दर्शयति**=कर्मेति कथनात्करणादेः कर्तृत्वे न भवति । पश्यन्ति भृत्याः प्रदीपेनेत्यणिगवस्था । **लावयति**=णिगिति भणनात् यत्राणिगव-स्थायामेव कर्मणः कर्तृत्वं विवक्षितं तत्राणिककर्म कर्ताऽस्ति तादृशकर्तृकाद् धातोः प्रयोजकव्यापारविवक्षायां णिगि कृते आत्मनेपदं न भवति । लुनाति केदारं चैत्रः यदा कर्मण एव सौकर्यातिशयद्योतनार्थं कर्तृत्वं विवक्ष्यते तदा लूयते केदारः स्वयमेवेति "एकधातौ कर्मक्रिययैकाऽकर्मक्रिये" ।३।४।८६। इत्यात्मनेपदं क्यश्च भवति अत्रैव प्रयोजकव्यापारविवक्षायां लावयति केदारं चैत्रः । णिगित्युपादानादत्राफलवत्कर्तरि लावयतीति परस्मैपदमेव भवति । णिगित्यस्याभावे तु फलवत्यफलवति च सर्वत्रात्मनेपदमेव स्यात् । **अणिगि मा भूदिति**—णिग इत्यनुक्तौ अणिक्कर्तृकपदेन मूलभूतो धातुरेव ग्रहीष्यतेऽन्यस्यानुपस्थितेरिति यस्य धातोरणिगवस्थायामेतदम् णिगवस्था-कर्तृत्वं स्यात् तस्मादणिगन्ताद् णिगन्ताद् वाऽऽत्मनेपदं भवतीति सूत्रार्थे सति यथा णिगन्तादात्मनेपदं भवति तथाऽणिगन्तादपि प्रथमावस्थायामेव "आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः" इत्यत्रापि आत्मनेपदं स्यात् । **स्मरयति**= स्मरति वनगुल्मं कोकिल इत्यणिगवस्था ॥८८॥

प्रलम्भे गृधिवञ्चेः ।३।३।८९।

आभ्यां णिगन्ताभ्यां प्रलम्भनार्थाभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं स्यात् । बटुं गर्द्धयते, वञ्चयते वा । प्रलम्भ इति किम् ? श्वानं गर्द्धयति ॥८९॥

णिगो गित्त्वेन फलवत्यात्मनेपदे सिद्धेऽपि अफल इति तदसिद्धया-ऽनेनाऽऽत्मनेपदं विधीयते । अत्र यत्र यत्र णिगन्तादात्मनेपदविधानं तत्र सर्वत्राफलवदर्थम् । **गर्द्धयते**=विप्रतारयतीत्यर्थः, **वञ्चयते**=विप्रतार-यतीत्यर्थः=किञ्चिद् वस्तु दीयमानत्वेन प्रदर्श्याप्रदानं विप्रतारणमुच्यते । गृधिर्दिवादिः, वञ्चिश्चुरादिः बटुर्गृध्यति चैत्रो बटुं वञ्चयते गृध्यन्तं वञ्चयन्तं वा प्रयुङ्क्ते इत्यर्थे णिग् । गृधूच् अभिकांक्षायाम, वञ्चिण् प्रल-म्भने । **गर्द्धयति**=प्रलोभयतीत्यर्थः किमपि भोज्यं वस्तु प्रदर्श्याभिकाङ्क्षा-मस्योत्पादयति । अत्र प्रदर्श्यमानेन वस्तुना न तस्य प्रतारणमपि तु तद्-ग्रहणार्थमेव रुच्युत्पादनम् ॥८९॥

लीङ्लिनोऽर्चाभिभवे चाच्चाकर्तर्यपि ।३।३।६०।

आभ्यां णिगन्ताभ्यामर्चाभिभवप्रलम्भार्थाभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं स्यादाच्चानयोरकर्तर्यपि । अर्चा जटाभिरालापयते । अभिभवः—श्येनो वर्तिकामपलापयते । प्रलम्भः—कस्त्वामुल्लापयते । अकर्तर्यपीति किम् ? जटाभिरालाप्यते जटिलेन ॥६०॥

ङिच्छ्नानिर्देशौ यौजादिकनिवृत्त्यर्थः—"लीङ्च् श्लेषणे" इति दिवादिः, 'लीश् श्लेषणे' इति क्र्यादिः उभयोरेकरूपत्वात् 'लियः' इत्येवंरूपेण निर्देशे लाघवम्, तदनादृत्यापि गौरवग्रस्तोऽनुबन्धेन विकरणेन च सह निर्देशः चुराद्यन्तर्गतयुजादिपठितस्य 'लीण् द्रवीकरणे' इत्यस्याग्रहणार्थः ।' लीङ्लिनो० ।४।२।६। इति सूत्रेऽपि ङिच्छ्नानिर्देशादात्त्वमपि "लीण्" इत्यस्य नेष्टम् । आत्मनेपदं कर्तरि विधीयते तत्सन्नियोगशिष्टमात्त्वमपि कर्तरि प्रत्यये सत्येव स्यात्, दृश्यते च कर्मणि प्रत्ययेऽपीति तत्सिद्ध्यै आह—**अकर्तर्यपि** । **आलापयते**—परैरात्मानं पूजयतीत्यर्थः । पूज्यत्वबुद्ध्या परे आलीयन्ते श्लिष्यन्ति तान् भिक्षुर्जटाभिरालापयति । **अपलापयते**—अभिभवतीत्यर्थः, श्येनः क्षुद्रपक्षिहिंसकः प्राणिविशेषः, वर्तिका—क्षुद्रशकुनिविशेषः । वर्तिका भयादपलीयते तां श्येनोऽपलापयते । अत्राभिभवस्य आक्रमणस्य तिरस्कारस्य वा सत्त्वादात्मनेपदम् । **उल्लापयते**—वञ्चयते इत्यर्थः, कश्चित्परेणोपन्यस्तं स्वप्रवर्तकं कञ्चन विषयं कस्मैचित्कथयति तदवगत्यासौ तमाह—कस्त्वामुल्लापयते—त्वां कः वञ्चयते इति कथय । अत्र त्वमुल्लीयसे त्वं कश्चित्प्रेरयतीत्यर्थविवक्षा ॥६०॥

स्मिङः प्रयोक्तुः स्वार्थे ।३।३।६१।

प्रयोक्तुर्यः स्वार्थः स्मयस्तदर्थाण्णिगन्तात्स्मिङः कर्तर्यात्मनेपदं स्याच्चास्याकर्तर्यपि । जटिलोविस्मापयते । प्रयोक्तुः स्वार्थ इति किम् ? रूपेण विस्माययति । अकर्तर्यपीत्येवविस्मापनम् ॥६१॥

विस्मापयते=बालो विस्मयते तं जटिलः प्रेरयति, अत्र जटिलः प्रयोक्ता तत एव स्मयो न तु कारणान्तरादिति भवत्यात्त्वात्मनेपदं च। **विस्माययति**=कश्चित्स्वकीयरूपेण करणेन विस्मितं करोतीत्यर्थे रूपस्यैव विस्मयजनकत्वम्। प्रयोक्तुः स्वार्थे इति कथनात् करणात्स्वार्थेन भवति। ङिन्निर्देशाद् यङ्लुपि न भवति ॥९१॥

बिभेतेर्भीष् च ।३।३।९२।

प्रयोक्तृतः स्वार्थवृत्तेर्ण्यन्ताद्भियः कर्तर्यात्मनेपदं स्यादस्य च भीष् पक्षे आच्चाकर्तर्यपि। मुण्डो भीषयते, भापयते, भापयते, वा। प्रयोक्तुः स्वार्थ इत्येव। कुञ्चिकया भापयति। अकर्तर्यपीत्येव–भीषा, भापनम् ॥९२॥

भीषादेशपक्षे आत्त्वस्य न प्रवृत्तिरवकाशाभावादिति आदेशद्वयविधानाय बिभेतेरिति आवर्तनीयम्। एकत्र स्थानषष्ठी, अपरत्र चावयव षष्ठीति बिभेतेः स्थाने भीष्, बिभेतेरन्तस्य चाऽऽत्वमित्यर्थाश्रयणात् विनापि विकल्पवचनं विधेयद्वयात्रकाशाय भीषादेशस्य पाक्षिकत्वं पर्यवस्यति। अकर्तर्यपीत्यस्य भीषादेशेनापि सम्बन्धः स्वीकार्य एव तुल्ययोगक्षेमत्वात्। तथा चोदाहरणे स्पष्टमेव। **भीषयते**=बालो बिभेति बिभ्यतं तं मुण्डो भीषयते। अत्र णिग् पक्षे आत्वानुकूलं रूपमाह— **भापयते**। **भापयति**=अत्र कुञ्चिका भयस्य करणं न तु प्रयोक्त्री। करणात् धात्वर्थस्य भयस्योत्पत्ति विवक्षायां न भवत्यात्मनेपदं न वा भीषादेशात्वे भवतः इति भावः। **भीषा, भापनम्**=बिभेतेर्णिगन्ताद् भावे "भीषि-भूषि"० ।५।३।१०९। इत्यङि प्रत्ययेऽपि भीषादेशो भवति। भावप्रत्ययेऽनटि अपि भवत्यात्त्वम्। सूत्रे तिव्निर्देशाद् यङ्लुपि न भवति ॥९२॥

मिथ्याकृगोऽभ्यासे ।३।३।९३।

मिथ्यायुक्तात्कृगो ण्यन्तात्क्रियाभ्यासवृत्त्यर्थात्कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। पदं मिथ्या कारयते। मिथ्येति किम्? पदं साधु कार-

यति । अभ्यास इति किम् ? सकृत्पदं मिथ्या कारयति ॥९३॥

मिथ्यायुक्तश्चासौ कृग् मिथ्याकृग् तस्मादिति विग्रहे मयूरव्यंसकादित्वान्मध्यमपदलोपिसमासः । अभ्यासः=असकृदावृत्तिः । **कारयते**=स्वरादिदोषदुष्टमसकृदुच्चारयति पाठयतीत्यर्थः । मिथ्याभूतं पदं कश्चित्करोति उच्चरति तमन्यः प्रयुङ्क्ते इति णिग् । स्वरः उदात्तादिः तद्विषयको यो दोषः उदात्तस्थानेऽनुदात्तस्य स्वरितस्य वा प्रयोगः स्वरितादिस्थाने उदात्तादेः प्रयोगो वा स्वरदोषः । उदात्तादीनां वेदमात्रविषयतायाः सत्त्वात् स्वमते उदात्तादीनामपरिभाषणाच्च ह्रस्वत्वदीर्घत्वपरिवृत्तिरेव दोषत्वेन ग्रहीतुं शक्यते, व्यञ्जनदोषेऽपि स्थानप्रयत्नपरिवृत्तिकृत एव दोषो ग्राह्यः । कारयति=अत्र सकृत्पदसान्निध्यादभ्यासार्थाभावः स्फुट एव ॥९३॥

परिमुह्यायमायंसपाट्धे-वद-वस-दमाऽऽदे-रुच-नृतः फलवति ।३।३।९४।

प्रधानफलवति कर्तरि एभ्यो विवक्षितेभ्यो णिगन्तेभ्यः आत्मनेपदं स्यात् । परिमोहयते चैत्रम् । आयामयते सर्पम् । आयासयते मैत्रम् । पाययते बटुम् । धापयते शिशुम् । वादयते बटुम् । वासयते पान्थम् । दमयते अश्वम् । आदयते चैत्रेण । रोचयते मैत्रम् । नर्त्तयते नटम् ॥९४॥

फलवतीति—अत्र भूम्न्यतिशायने वा मतुः अत एवोक्तम्प्रधानफलवतीति । मतोरर्थाः निम्नकारिकायाः ज्ञेयाः ।

भूमनिन्दाप्रशंसासु, नित्ययोगातिशायने ।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां, प्रायो मत्वादयोमताः ॥

यत्क्रियायाः प्रधानं फलमोदनादि यदर्थमियमारभ्यते तद्वित कर्तरि विवक्षिते इत्यर्थः ।

क्रियायाः फलं द्विविधम् प्रधानमप्रधानं च यथा पचतीत्यादौ प्रधानं फलमोदनसम्पत्तिः तस्याः क्रियान्तरेणासाध्यत्वात्, अप्रधानं फलं

पक्तुः स्वामिप्रीतिः, भृतिलाभो वा। यत्र पक्ता प्रधानेन फलेनौदनेन सम्बध्यते तत्रैव पचते इति प्रयोगो भवति यत्रान्यार्थं पाकः तत्र तु पचतीत्येव प्रयोगः।

उक्तं च—'यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभ्यन्ते पचादय।
तत् प्रधानं फलं तेषां, न लाभादि प्रयोजनम् ॥'

कारिकार्थः—अत्र पचादयः इत्युत्तरमेवकार अध्याहार्यः यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थं पचादय एवाऽऽरभ्यन्ते न क्रियान्तराणि, तत् तेषां प्रधानं फलम्, लाभादिप्रयोजनं तु प्रधानं फलं न तस्य क्रियान्तरेणापि संभवात्, पाचकेन यद् वेतनं पचिक्रियार्थं लभ्यते तावदन्यकार्यकरणेऽपि लब्धुं शक्यत एवेति लाभो न पचिक्रियायाः प्रधानं फलं भवितुमर्हति। प्रधानफलवत्त्वं च विवक्षाधीनं यत्र कर्तुरोदनेन फलेन सम्बन्धो विवक्षितस्तत्रैव तस्य फलवत्त्वम्, तत्रैव ईदित्वप्रयुक्तमात्मनेपदं भवति पचते इति यत्र च पाचकानां लाभादिप्रयोजनं विवक्षितं तत्र पचन्ति पाचका इत्याद्येव। **परिमोहयते**=परिमोहनस्य प्रधानं फलं चित्तविक्षेपः तेन च परिमोग्धा चैत्रः सम्बध्यते एतेत्यस्ति फलवत्त्वं कर्तुस्तथैव विवक्षितत्त्वात्। परि+मुह+णिग्।' **आयामयते**=आङ्पूर्वाद् यमेर्णिग, सर्प आयच्छति दीर्घो भवति तं प्रेरयतीत्यर्थः। अत्रापि प्रधानस्य क्रियाफलस्य सर्पेण सम्बन्धः। यद्यपि चैत्रसर्पादयः सम्प्रति कर्मतां गतास्तथापि वस्तुतस्तेषां धातुत्वं प्रति कर्तृत्वमेवेति मलधातोरेव कर्तुः फलवत्त्वं विवक्षितं न तु णिगन्तस्य। णिगन्तकर्तुः प्रयोजकत्वेन तस्य धात्वर्थकर्तृत्वाभावात्। कश्चित् "यमः परिवेषणे" इति पठति तन्मताभिप्रायेण न ह्रस्वः, स्वमते तु "यमोऽपरिवेषणे" ।४।२।२६। इति भवत्येव। **आयासयते**=मैत्र आयस्यति त चैत्रः प्रेरयते। 'यसुच् प्रेरणे' इति दिवादिपठितो यसधातुः। **पाययते**=बटुः पिबति तं प्रेरयति। पानक्रियायाः फलं द्रवद्रव्यस्य गलबिलाधःसंयोगः तेन न फलेन कर्तुः सम्बन्धः। **धापयते**=ट्धेधातुरपि पानार्थः शिशुर्धयति तं धात्री प्रेरयति। **वादयते**=बटुर्वदति 'अम्ब' इत्यादिशब्दमुच्चारयति तं स्वजनः प्रेरयति अम्ब इत्यादिशब्दोच्चारणे प्रवर्तयतीत्यर्थः। **वासयते**=पान्थो दिनान्ते कस्यचिद् गृहे वसति तं गृहपतिर्वासयति। **दमयते**—अश्वो दाम्यति तं सादी प्रेरयति। **आदयते**—अत्ति चैत्रः तं मैत्रः प्रेरयति, अत्राणिगवस्थाकर्तुश्चैत्रस्य णिगवस्थायां प्राप्तमपि कर्मत्वं 'गतिबोधा० ।२।२।५। सूत्रे 'अनीखाद्यदि०' इत्यादिपर्युदासान्न भवतीति कर्तरि तृतीयैव भवति। **रोचयते**—मैत्रो रोचते तमन्यः प्रेरयति। **नर्तयते**—नटो

नृत्यति तमन्यः प्रवर्तयति। ननु णिगो गित्त्वेन 'ईगितः ।३।३।६५ इत्यग्रिमसूत्रेणैव फलवत्कर्तृतायां संभवत्येवात्मनेपदमिति प्रकृतसूत्रस्य वैयर्थ्यमिति चेत् अत्रोच्यते **पिबत्यत्तिद्धेधातूनामाहारार्थत्वादौदासीन्यनिवृत्त्यर्थतायामकर्मकत्वाच्च नृतेश्चलनार्थत्वाच्च शेषाणां स्वरूपतो विवक्षातो वाऽकर्मकत्वादुत्तराभ्यां परस्मैपदे प्राप्ते वचनम्।**

अत्र भावः—पिबतिः पानार्थकः (**अत्र सूत्रे द्धेसाहचर्यात्पिबतेर्ग्रहणं न पातेः**) अत्तिः भक्षणार्थः, द्धेधातुरपि पानार्थ एव। एषामहारार्थत्वात् "चल्याहारा० ।३।३।१०८। इत्यनेन परस्मैपदप्राप्तिः, नृत्तेर्गात्रविक्षेपार्थस्य चलनार्थत्वमिति तस्याप्युक्तसूत्रेणैव परस्मैपदप्राप्तिः, अन्येषां वस्—यम्—यस्—दम्—रुच् धातूनां स्वाभावादेवाकर्मकत्वम् (**अत्र सूत्रे वदसाहचर्यात् 'वस' इति वसतेर्ग्रहणं न तु वस्तेः।**) वदेश्च विवक्षातोऽकर्मकत्वमिति 'अणिगि प्राणि'० ।३।३।१०७। सूत्रेण परस्मैपदं प्राप्तमिति तत्प्रबाधनाय विशिष्यानेनात्मनेपदाविधानम् ॥६४॥

ईगितः ।३।३।६५।

ईदितो गितश्च धातोः फलवति **कर्तर्यात्मनेपदं** स्यात्। यजते **कुरुते। फलवतीत्येव—यजन्ति। कुर्वन्ति ॥६५॥**

यजते—यजधातु रीकारेत् देवपूजाद्यर्थः, देवपूजादेः प्रधानं फलं मोक्षः अप्रधानं तु इहलोकपरलोकेष्टफलसिद्धिः। पूजकस्य मोक्षभावे विवक्षितेऽनेनाऽऽत्मनेपदं भवति। कुरुते—डुकृंग् करणे भ्वादिः। फलवत्त्वं विवक्षाधीनमेव गृह्यते तथैव लोके व्यवहारात्। व्याकरणमपि हि लोकप्रसिद्धशिष्टव्यवहारमेवानुविधत्ते न तु किञ्चिन्नूतनं शास्ति। अविवक्षावशात् सतोऽप्यसत्त्वम्, असतोऽपि विवक्षावशात्सत्त्वमभिधीयते ॥६५॥

ज्ञोऽनुपसर्गात् ।३।३।६६।

अतः फलवति कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। गां जानीते। फलवतीत्येव। परस्य गां जानाति ॥६६॥

अकर्मकात् पूर्वेण 'ज्ञः' ।३।३।८२। इत्यनेनैव सिद्धे सकर्मकार्थं वचनम्। अनुपसर्गात्—नञः प्रसेज्यप्रतिषेधपरत्वमेव स्वीकार्यम्, पर्युदासपरत्वे हि उपसर्गभिन्नात् कस्माच्चिदपि परत्वे सत्येवात्मनेपदं स्यात् तच्च नेष्टं केवलादेव विधानस्येष्टत्वात्। तथा चान्यपूर्वकात्प्राप्ति-रेव नास्ति, तेन सह धातोः सामर्थ्याभावात् उपसर्गपूर्वकादस्ति प्राप्तिसंभवस्तस्यानेन निषेधः क्रियते।

जानाति—परकीयगव्या अवेक्षणं प्रतीयते। तत्फलं च नावे-क्षणकर्तुरपि तु परस्यैवेति अनुपसर्गपूर्वकत्वेऽपि न भवत्यात्मनेपदम्। ॥९६॥

वदोऽपात् ।३।३।९७।

अतः फलवति कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। एकान्तमपवदते। फलवतीत्येव—अपवदति परं स्वभावात् ॥९७॥

एकान्तमपवते—एकान्तः—एकांतवादः, तमपवदते—वाचा प्रति-षेधयतीत्यर्थः। अपवदति—कस्यचिदेवं स्वभाव एव यदन्यं जनमपवदति निन्दतीति ॥९७॥

समुदाङो यमेरग्रन्थे ।३।३।९८।

एभ्यः परात् यमेरग्रन्थविषये फलवत्कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। संयच्छते व्रीहीन्। उद्यच्छते भारम्। आयच्छते भारम्। अग्रन्थ इति किम्? चिकित्सामुद्यच्छति। फलवतीत्येव संयच्छति ॥९८॥

आङ्पूर्वादकर्मकात् स्वाङ्ग-कर्मकाच्च 'आङो यम०' ३।३।८६। इति सिद्धेऽन्यकर्मकार्थं वचनम्। समुत्पूर्वकात्तु कुतोऽपि न प्राप्तिरिति तद्विषये सर्वथैवापूर्वविधिः। सूत्रे समाहारनिर्देशेऽपि समाहारस्य समूह-रूपत्वेन उक्तसर्वोपसर्गसमूहपूर्वकादेवानेनात्मनेपदमिति। भ्रमव्युदासायाह

एभ्यः इति। ग्रन्थे यमेः प्रयोगाभावेन यमेस्तदर्थत्वाभावे 'अग्रन्थे' इति पर्युदासस्य वैयर्थ्यं स्यादिति विषयसप्तम्या व्याख्याति **अग्रन्थ विषये इति**- तथा च यमेर्यः कश्चिदर्थोऽस्तु सम्पूर्णवाक्यस्य ग्रन्थविषये प्रयोगाभाव एव तात्पर्यमित्यायाति। **संयच्छते व्रीहीन्**—राशिभूतान् करोतीत्यर्थः। **उद्यच्छते** भारम्—उत्थापयतीत्यर्थः। **आयच्छते** भारम्—लभते इत्यर्थः। **चिकित्सामुद्यच्छति**—चिकित्साग्रन्थे उद्यमं करोतीत्यर्थः। चिकित्साहेतुत्वात् ग्रन्थोऽपि चिकित्सा, चिकित्स्यतेऽनया इति वा 'शंसि-प्रत्ययात्' ५।३।१०५। तदा बाहुलकात्स्त्रीत्वम् ॥९८॥

पदान्तरगम्ये वा ।३।३।९९॥

प्रकान्तसूत्रपञ्चके यदात्मनेपदमुक्तं तत्पदान्तरगम्ये फलवत्कर्तरि वा स्यात्। स्वं शत्रुं परिमोहयते। परिमोहयति वा। स्वं यज्ञं यजते यजति वा। स्वां गां जानीते जानाति वा। स्वं शत्रुमपवदते, अपवदति ८। स्वान् व्रीहीन् संयच्छते, संयच्छति ॥९९॥

प्रकान्तसूत्रपञ्चकेन—प्रक्रान्तैतत्सूत्राव्यवहितसूत्रपञ्चकेनेत्यर्थः तच्च सूत्रपञ्चकं "परिमुहा० ।३।३।९४ इत्यारभ्यैतद्व्यवहितपूर्वपठितः 'समुदाङो०" ३।३।९८ इति पर्यन्तम्। अन्यत्पदं पदान्तरम्। तत्तत्सूत्रविहितात्मनेपदभिन्नपदेन 'स्वम्, आत्मीयम्, निजम्' इत्यादिपदेन कर्तुः फलवत्त्वे गम्ये वाऽऽत्मनेपदं भवति। **परिमोहयते**=यद्यपि प्राप्तविभाषास्थले निषेधस्यैव शास्त्रविधेयत्वेन पूर्वं परस्मैपदस्यैवोदाहरणं न्याय्यम् तथाप्यात्मनेपदस्य पूर्वमुपस्थितत्वेन तस्यैव पूर्वमुदाहरणं परस्मैपदस्याग्रे विधीयमानत्वेन पश्चादुदाहरणमिति बोध्यम् ॥९९॥

शेषात्परस्मै ।३।३।१००।

येभ्यो धातुभ्यो येन विशेषेणात्मनेपदमुक्तं ततोऽन्यस्मात्कर्तरि परस्मैपदं स्यात् । भवति । अत्ति ॥१००॥

पूर्वप्रकरणेनात्मनेपदनियमः कृतः परस्मैपदं त्वनियतमिति नियमार्थमिदम् उपर्युक्तादन्यः शेष=अनुबन्धोपसर्गार्थोपपदप्रत्ययभेदाच्चानेकधा शेषः । अनुबन्धशेषादुदाहरति=**भवति अत्ति**। "ङितः कर्तरि ।३।३।२२। इत्यनेनात्मनेपदविधिः "ईगितः" ।३।३।६५। इत्यनेन फलवत्कर्तर्यात्मनेपदविधि, इतोऽन्ये धातवो निरनुबन्धा भ्वादयोऽनुबन्धशेषा इत्युच्यन्ते ॥१००॥

परानो कृगः ।३।३।१०१।

परानुपूर्वात्कृगः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् । परा करोति । अनुकरोति ॥१०१॥

गन्धनादावर्थे गित्वात्फलवति प्राप्तस्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम् ॥१०१॥

प्रत्यभ्यतेः क्षिपः ।३।३।१०२।

एभ्यः परात् क्षिपेः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् । प्रतिक्षिपति । अभिक्षिपति । अतिक्षिपति ॥१०२॥

ईदित्वात् फलवति प्राप्तस्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम् । इह क्षिपिः तौदादिक ईदित् गृह्यते न तु दैवादिकः, तस्यानुबन्धशेषेण "शेषात् ।३।३।१०० इत्यनेनैव सिद्धत्वात् ॥१०२॥

प्राद्वहः ।३।३।१०३।

अतः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् । प्रवहति ॥१०३॥

वहीं प्रापणे यजादिधातुः। ईदित्वात्फलवति प्राप्तस्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम् ॥१०३॥

परेर्मृषश्च ।३।३।१०४।

परेः परान्मृषेर्वहेश्च कर्तरि परस्मैपदं स्यात् । परिमृष्यति। परिवहति ॥१०४॥

ईदित्वात्फलवति प्राप्तस्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम् ॥१०४॥

व्याङ्परे रमः ।३।३।१०५।

एभ्यः पराद्रमेः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् । विरमति। आरमति। परिरमति १०५॥

इदित्वादात्मनेपदस्यापवादः ॥१०५॥

वोपात् ।३।३।१०६।

उपाद्रमेः कर्तरि परस्मैपदं वा स्यात् । भार्यामुपरमति, उपरमते वा ॥१०६॥

ननु रमिधातुरकर्मकस्तत्कथं भार्यामुपरमते इति सकर्मकोदाहरणं दर्शितम् ? सत्यम्—उपसंप्राप्तिपूर्विकायां एतौ वर्तमानोऽन्तर्भूतणिगर्थो वा रमिः सकर्मकः। उक्तं च—अकर्मका अपि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति ॥१०६॥

अणिगि प्राणिकर्तृकानाप्याणिगः ।३।३।१०७।

अणिगवस्थायां यः प्राणिकर्तृकोऽकर्मकश्च धातुस्तस्माण्णिगन्ता-त्कर्तरि परस्मैपदं स्यात् । आसयति चैत्रम् । अणिगीति किम् ? स्वयमेवारोहयमाणं गजं प्रयुङ्क्ते आरोहयते । अणिगिति गकारः किम् ? चेतयमानं प्रयुङ्क्ते चेतयति । प्राणिकर्तृकादिति किम् ? शोषयते व्रीहीनातपः । अनाप्यादिति किम् ? कटं कारयते ॥१०७॥

आस्ते चैत्रः आसयति चैत्रम् । शुष्यन्ति व्रीहयः शोषयते व्रीहीन् आतपः "प्राण्यौषधि० ।६।२।३१। इत्यत्र पृथग्निर्देशादिह लोके प्रतीताः त्रसरूपा एव प्राणिनो गृह्यन्ते । 'ईगितः । ३।३।९५। इत्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम् ॥१०७॥

चल्याहारार्थेङ्बुधयुधप्रुद्रुस्रुनशजनः ।३।३।१०८।

चल्याहारार्थेभ्यः इङादिभ्यश्च णिगन्तेभ्यः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् । चलयति । कम्पयति । भोजयति । आशयति चैत्र-मन्नम् । सूत्रमध्यापयति शिष्यम् । बोधयति पद्मं रविः । योध-यति काष्ठानि । प्रावयति राज्यम् । द्रावयत्ययः । स्रावयति तैलम् । नाशयति पापम् । जनयति पुण्यम् ॥१०८॥

चलिरर्थः कम्पनम् । अध्यापयति="णौ क्रीजीङः ।४।२।१०। इत्यात्वम् । प्रावयति राज्यम्—प्रापयतीत्यर्थः । द्रावयत्ययः—विलाय-यतीत्यर्थः । प्रुद्रुस्रूणामचलनार्थं शेषाणां सकर्मकार्थमप्राणिकर्तृकार्थं च वचनम् ॥१०८॥

❀०❀

।। अथ तृतीयाध्याये चतुर्थः पाद ।।

गुपौधुपविच्छिपणिपनेराय: ।३।४।१।।

एभ्यो धातुभ्यः स्वार्थे आयः स्यात् । गोपायति । धूपायति । पणायति । पनायति ।।१।।

सूत्रे विशेषार्थः कोऽपि न निर्दिष्टः इति वृत्तौ 'स्वार्थे' इत्युक्तम् । अनुबन्धस्याशवि आयप्रत्यया—भावपक्षे चरितार्थत्वादायप्रत्यान्ताभ्यां पणिपनिभ्यामात्मनेपदं न भवति । गुपावित्यौकारौ गुपि गोपने इत्यस्य निवृत्त्यर्थः । 'गुपण् भासार्थः, गुपच् व्याकुलत्वे । इत्यनयोस्तु धूपसाहचर्यान्निरासः । ननु धूपश्चुरादिरप्यस्ति ? अणिजन्तविच्छसाहचर्यात् भ्वादेरेव धूपस्य ग्रहणम् । ननु विच्छिरपि भासार्थश्चुरादिस्तत्कथं तेन साहचर्यम् ? सत्यं तस्याणिजन्ताभ्यां पणि-निभ्यां साहचर्याग्निरासः गुपावित्यौकारो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्च । ननु यङ्प्रत्ययस्य प्राप्तिरेव नास्ति, आयप्रत्ययेऽनेकस्वरत्वात् तत्कथं यङ्लुब्निवृत्त्यर्थश्चेति कथ्यते ? अशव्विषये "अशवि ते वा" ।३।४।३। इति विकल्पितस्याऽऽयस्य प्रथमं यङि "प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तानामपि ग्रहणम्" इति न्यायात्प्राप्तिः ।

पणायति=व्यवहरति स्तौति चेत्यर्थः ।।१।।

कमेर्णिङ् ।३।४।२।

कमेः स्वार्थे णिङ् स्तात् । कामयते ।।२।।

णकारो वृद्ध्यर्थः, ङकार आत्मनेपदार्थः । णिङो ङित्करणेन 'प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणमिति न्यायस्यानित्यता ज्ञाप्यते । अनित्यताज्ञापनफलं तु, पणायतीत्यादौ पण्धात्वादेरिदित्वेपि नात्मनेपदम् ।।२।।

ऋतेर्ङीयः ।३।४।३।।

ऋतेः स्वार्थे ङीयः स्यात् । ऋतीयते ॥३॥

ऋत घृणागतिस्पर्द्धेषु । ङकार आत्मनेपदार्थः गुणाभावार्थश्च । ङीयप्रत्ययस्यादन्तकरणात् "उपान्त्यस्या०" ।४।२।३५। इति ह्रस्वो भवति ।।३॥

अशवि ते वा ।३।४।४।

गुपादिभ्योऽशत्विषये ते आयादयो वा स्युः । गोपायिता । गोप्ता । कामयिता । कमिता । ऋतीयिता । अर्तिता ॥४॥

गुपौ रक्षणे इति भ्वादिः ॥४॥

गुप्तिजो गर्हाक्षान्तौ सन् ।३।४।५।

गुपो गर्हायां तिजः क्षान्तौ वर्तमानात् स्वार्थे सन् स्यात् । जुगुप्सते तितिक्षते । गर्हाक्षान्ताविति किम् ? गोपनम् तेजनम् ॥५॥

अकारः सन्ग्रहणेषु सामान्यग्रहणार्थः, अन्यथेच्छासन एव ग्रहणं स्यात् । नकारः "सन्यङश्च" ।४।१।३। इत्यत्र विशेषणार्थः । तितिक्षते=सहते इत्यर्थः । **गोपनं तेजनमिति**—अनयोरर्थान्तरेऽपि त्यादयो नाभिधीयन्ते इत्यत्यादिना प्रत्युदाहृतम् । एवमुत्तसूत्रद्वयेपि प्रायेण ज्ञेयम् ॥५॥

कितः संशयप्रतीकारे ॥३।४।६।

कितः संशयप्रतीकारार्थात् स्वार्थे सन् स्यात् । विचिकित्सति मे मनः । व्याधिं चिकित्सति । संशयप्रतीकारार्थ इति किम् ? केतयति ॥६॥

विचिकित्सति=संशेते इत्यर्थः । व्याधिं चिकित्सति=प्रतिकरोतीत्यर्थः । अनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः । प्रतीकारो दुःखहेतोर्निराकरणम् ॥६॥

शान्दान्मान्बधान्निशावार्जवविचारवैरूप्ये दीर्घश्चेतः ३।४।७।।

एभ्यो यथासङ्ख्यं निशानाद्यर्थेभ्यः स्वार्थे सन् स्यात्। दीर्घश्चैषां द्वित्वे पूर्वस्येतः। शीशांसति, दीदांसति। मीमांसते। बीभत्सते। अर्थोक्तिः किम्? अर्थान्तरे माभूत्। निशानम्, अवदानम् मानयति, बाधयति।।७।।

ननु 'दीर्घः' इति सामान्योक्तावपि सनि इत एव दीर्घः स्यादिति चेन्न "इतः" इत्युपादानाभावे सनि प्रथममेवाकारस्य दीर्घः स्यात्। निन्दितो रूपो विरूपः तस्य भावः वैरूप्यम्। "शोंच् तक्षणे', 'दोंच् छेदने' निश्यतीति निशानम्, अवद्यतीति अवदानम्, इत्यत्रानड्।।७।।

धातोः कण्ड्वादेर्यक् ।३।४।८।

एभ्यो धातुभ्यः स्वार्थे यक् स्यात्। कण्डूयति, कण्डूयते। महीयते। धातोरिति किम्? कण्डूः।।८।।

द्विविधा कण्ड्वादय धातवो नामानि च। ननु **यकः कित्त्वाद् धातोरेवायं विधिर्भविष्यतीति** अत्र धातुग्रहणं व्यर्थमिति चेद् सत्यम् **धातुग्रहणत्तरार्थमिह सुखार्थं** च। अयं भावः—कितः फलं "नामिनो गुणो० ।४।३।१। इत्यादि तच्च धातोरेव। "**गौणमुख्ययो०** इति न्यायान्मुख्यो धातुः। नाम्नोपि धातोः सकाशाद् भावात्। "अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायमपि विशिनष्टि" इति न्यायेन कण्डूग् इत्यस्य गित्वात् यगन्त-समुदायस्यापि गित्त्वात् फलवत्यात्मनेपद फलवत्त्वाभावे तु परस्मैपदम्।।८।।

व्यञ्जनादेरेकस्वराद् भृशाभीक्ष्ण्ये यङ् वा ।३।४।९।

गुणक्रियाणामधिश्रयणादीनां क्रियान्तराव्यवधानेन साकल्येन

संपत्तिः फलातिरेको वा भृशत्वं, प्रधानक्रियाया विक्लेदादेः क्रियान्तराव्यवधानेनावृत्तिराभीक्ष्ण्यं। तद्विशिष्टार्थवृत्तेर्धातोर्व्यञ्जनादेरेकस्वराद् यङ् वा स्यात् । पापच्यते । व्यञ्जनादेरिति किम् ? लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनातीत्यादि यथा स्यात् ॥९॥

क्रियान्तराव्यवधानेन–विरोधिभिर्ग्रामगमनादिभिरविरोधिभिस्तूच्छ्वासादिभिर्भवत्येव । साकल्येन संपत्तिः—सामस्त्येन ढौकनमित्यर्थः । फलातिरेको वा—फलसमाप्तावपि क्रियानुपरतिः । **प्रधानक्रियायाः**-पचौ विक्लेदः प्रधानक्रिया तां कश्चित्समाप्य क्रियान्तरमनारभ्य पुनस्तामेव क्रियामारभते, तस्याः पुनर्पुनर्भाव आभीक्ष्ण्यम् भृशं पुनर्पुनर्वा पचति—पापच्यते । **लुनीहि**—वाग्रहणाद् "भृशाऽऽभीक्ष्ण्ये" ।५।४।२२। इति पञ्चमी भवत्येव । लुनीहीत्यत्र भृशाभीक्ष्ये द्विर्वचनम् । ननु भृशाभीक्ष्ण्ये यङपि विधीयते न तु तत्र द्विर्वचनम् इह तु द्विर्वचनमित्यत्र को हेतुरिति चेत्सत्यं यङ् स्वयमेव भृशाभीक्ष्ण्ये द्योतयितुं समर्थः इति तदभिव्यक्तये द्विर्वचनं नापेक्षते । हिस्वादयस्तु द्विर्वचनमपेक्षन्ते इति "भृशाऽऽभीक्ष्ण्ये०" ।७।४।७४। इति द्विर्वचनम् । 'आभीक्ष्ण्ययङन्तस्याभीक्ष्ण्ये द्विर्वचनं न भवति उक्तार्थत्वात् । यदा तु भृशार्थयङन्तादाभीक्ष्ण्यविवक्षा तदा द्विर्वचनं भवत्येव पापच्यते पापच्यते इति । न च पञ्चमी "भृशाभीक्ष्ण्ये०" ।५।४।४२। इति विधानसामर्थ्यात् एव भविष्यतीति एतदर्थं वाग्रहणमनर्थकमिति वाच्यं स्वराद्यनेकस्वरेभ्यः तस्याश्चरितार्थत्वात् । ननु यदा पचति पचनविशिष्टो भृशार्थो धात्वर्थस्तदा वाक्यार्थमपि वाग्रहणं तर्हि वाक्यमपि कथं नोदाहृतम् ? सत्यम् यदा पचतिना पाकः भृशशब्देन तु भृशार्थस्तदा वाक्यं सिद्धमिति वाक्यमपि नोदाहृतम् पाक्षिकप्राप्तेरप्रधानत्वात् ॥९॥

अट्यर्त्तिसूत्रिमूत्रिसूच्यशूर्णोः ।३।४।१०।

भृशं पुनर्पुनर्वाऽटति—अटाट्यते । ऋ' प्रापणे च' ऋंक् गतौ इयर्ति, ऋच्छति ताभ्यां यङन्तादारार्यते । "क्ययङा०" ४।३।१० इति गुणे "अयि रः" ४।१।६। यवर्जनाद् रो द्वित्वम् । सूत्रण्—सोसूत्र्यते, मूत्रण्—मोमूत्र्यते, सूचण्—सोसूच्यते । अश्नुते, अश्नाति तस्माद्यङन्तात् अशाश्यते । ऊर्णुग्क्—प्रोर्णोनूयते । अट्यर्त्यशामव्यञ्जनादित्वात् सूत्रि-

मूत्रिसूचीनामनेकस्वरत्वात् व उर्णोतेरव्यञ्जनाद्यनेकस्वरत्वात्पूर्वेणाप्राप्ते वचनम् । यङोऽदन्तत्वे अटाट्यते अरार्यते इत्यत्र फलं दृश्यम् ॥१०॥

गत्यर्थात्कुटिले ।३४।११।

व्यञ्जनादेरेकस्वराद् गत्यर्थात्कुटिलेएवार्थे वर्तमानाद् धातोर्यङ् स्यात् । चङ्क्रम्यते । कुटिल इति किम् ? भृशं क्रामति ॥११॥

एवकारेण भृशाभीक्ष्ण्ययोर्यङो निषेधः । कुटिलं क्रामति—चङ्क्रम्यते । "मुरतोऽनुनासिकस्य" ।४।१।५१। "तौ मुमो व्यञ्जने०" ।१।३।१४। **तक्रकौडिन्यन्यायेन भृशाभीक्ष्ण्ययोर्निषेधार्थं वचनम्** । अयं भावः—तक्रं देयस्मै स तक्रदेयः स चासौ कौडिन्यश्च तक्रकौडिन्यः, मयूरव्यंसकादित्वाद् यशब्दलोपः स एव न्यायो दृष्टान्तः । सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि देयम् तक्रं कौडिन्याय । तत्र ब्राह्मणेषु सामान्येन कौडिन्योऽपि समायातः इति दधिदानं तक्रं पूर्ववाक्येन प्राप्तं परन्तु परवाक्येन विशेषतस्तस्य तक्रदानं विहितमिति दधिदानं बाध्यते । यद्यपि दधिदानोत्तरं ततः पूर्वं वा तक्रदानमपि विधातुं शक्यते एव तथापि विशिष्य विधानसामर्थ्यात्तक्रमेव न दधि सामान्यलक्षणस्य विधेर्विशेषलक्षणो विधिर्बाधको भवति ॥११॥

गृलुपसदचरजपजभदशदहो गर्ह्ये ।३।४।१२।

गृहार्थेभ्य एव एभ्यो यङ् स्यात् । निजेगिल्यते । लोलुप्यते । सासद्यते । चञ्चूर्यते । जञ्जप्यते । जञ्जभ्यते । दन्दह्यते । गर्ह्य इति किम् ? साधु जपति । भृशं निगिरति ॥१२॥

पूर्ववदत्रापि एवकारेण भृशाभीक्ष्ण्ययोर्यङो निषेधः । गर्हितं निगिरति—निजेगिल्यते । लोलुप्यते—लुप्लृं ती छेदने लुपच् विमोहने इति वा । **चञ्चूर्यते**—"चरफलाम्" ४।१।५३। "जपजभ०" ।४।१।५२। इति मुरन्तः "अङे हि हनो" ।४।१।३४। इत्यतः पूर्वादित्यधिकारात् "ति चोपान्त्या०" ।४।१।५४। इति उः । "भ्वादेर्नामिनो०" ।२।१।६३। इति

दीर्घः । दंशेः कृतनलोपस्य निर्देशो यङ्लुप्यपि नलोपार्थः । अन्यथा 'दंदशीति' इत्यत्र 'लुबन्तरङ्गेभ्यः इति न्यायात्प्रथममेव यङो लुपि ङित्वा-भावात् नलोपो न स्यात् । गर्ह्य इति वचनात् साधु जपति इत्यत्र भृशं पुनर्पुनर्वा=निगिरति, कुटिलं चरतीत्यत्र न भवति ॥१२॥

न गृणाशुभरुचः ।३।४।१३।।

एभ्यो यङ् न स्यात् । निन्द्यं गृणाति । भृशं शोभते । भृशं रोचते ॥१३॥

गृणातिशुभिरुचिभ्यः भृशाभीक्ष्ण्ये गृणातेर्गर्ह्येऽर्थे च यङ् न भवति ॥१३॥

बहुलं लुप् ।३।४।१४।

यङो लुप् बहुलं स्यात् । बोभूयते । बोभवीति । बहुलवचनात् कुचिन्न भवति । लोलूया । पोपूया ॥१४॥

क्वचित्प्रवृत्तिः, क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चातुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥१४॥

"अचि" ।३।४।१५।

यङोचि परे लुप् स्यात् । चेच्यः । नेन्यः ॥१६॥

नित्यार्थं वचनम् ॥१५॥

नोतः ।३।४।१६।

उदन्ताद्विहितस्य यङोऽपि परे लुब् न स्यात् । रोरूयः ॥१६॥

रोरूयः—अत्र पृथग्योगात् बहुलमित्यनेनापि न, अन्यथा 'अचि नोतः" इत्येकमेव कुर्यात् ॥१६॥

चुरादिभ्यो णिच् ।३।४।१७।

एभ्यो धातुभ्यो स्वार्थे णिच् स्यात् । चोरयति। पदयति ॥१७॥

णिचो गित्त्वाभावेन 'ईगितः ।३।२।१०५। इति फलवति नात्मनेपदम् । णकारो वृद्धचर्थः, णिग्रहणेषु सामान्यग्रहणार्थश्च । चकारः सामान्यग्रहणविघातार्थः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । अदन्तं च चुराद्यन्तर्गतसुखादीनां णिच्संनियोग एव द्रष्टव्यं तेन णिजभावे जगणिथ इत्यत्रानेकस्वरत्वादाम् न भवति । अङ्क्ल्लेष्कयोस्तु फलाभावात् सुखादीनामित्युच्यते । द्वित्वे सति अनेकस्वरत्वेपि 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य' इति पूर्वाचार्यानुरोधेनादन्तमध्ये पाठः ॥१७॥

युजादेर्नवा ।३।४।१८।

एभ्यः स्वार्थे णिज्वा स्यात् । योजयति, योजति । साहयति, सहति ॥१८॥

चुराद्यन्तर्गतो युजादिः ॥१८॥

भूङः प्राप्तौ णिङ् ।३।४।१९।

भुवः प्राप्त्यर्थाण्णिङ् वा स्यात् । भावयते । भवते । प्राप्ताविति किम् ? भवति ॥१९॥

भावयते, भवते—प्राप्नोतीत्यर्थः । भवतीत्येवान्यत्र, णिङ् इति

आत्मनेपदार्थः । भूङ् इति ङकारनिर्देशः णिङभावेऽप्यात्मनेपदार्थः । प्राप्त्यभावेऽपि क्वचिदात्मनेपदमिष्यते यथा—

याचितारश्च नः सन्तु, दातारश्च भवामहे ।
आक्रोष्टारश्च नः सन्तु, क्षन्तारश्च भवामहे ॥

प्राप्तावपि परस्मैपदमित्यन्ये, सर्वं भवति प्राप्नोतीत्यर्थः । अवकल्कने तु भावयतीत्येव "भूण् अवकल्कने" इति चुरादिपाठात् ॥१९॥

प्रयोक्तृव्यापारे णिग् ।३।४।२०।

कुर्वन्तं यः प्रयुङ्क्ते तद्व्यापारे वाच्ये धातोर्णिग्वा स्यात् । कारयति । भिक्षा वासयति । राजानमागमयति । कंसं घातयति । पुष्येण चन्द्रं योजयति । उज्जयिन्याः प्रस्थितो-माहिष्मत्यां सूर्यमुद्गमयति ॥२०॥

प्रेषणाध्येषण–निमित्त–भावाख्यानाभिनय–ज्ञानप्राप्तिभेदैरनेकधा भवति । तत्र तिरस्कारपूर्वको व्यापारः प्रेषणम्, सत्कारपूर्वकस्तु अध्येषणम् । कुर्वन्तं प्रयुङ्क्ते कारयति–अत्र प्रेषणेनाध्येषणेन वा यथासंभवं प्रयोक्तृत्वम् । वसन्तं प्रयुङ्क्ते वासयति, भिक्षा वासयतीत्यत्र निमित्त-भावेन । राजानमागच्छन्तं प्रयुङ्क्ते राजानमागमयतीत्यत्र आख्यानेन । आख्यानेन हि बुद्ध्यारूढाः श्रोतृणां चित्तेष्वारूढाः राजानः प्रयुक्ताः प्रतीयन्ते । कंसं घ्नन्तं प्रयुङ्क्ते कंसं घातयतीत्यत्राभिनयेन । अयं नटः कौशलात्सरसमभिनयति यथा कंसवधायायमेव नारायणं प्रयुङ्क्ते इति प्रतिपत्तिर्भवति । पुष्येण चन्द्रं युञ्जन्तं प्रयुङ्क्ते पुष्येण चन्द्रं योजयति, अत्र कालज्ञानेन । उज्जयिन्याः प्रदोषे प्रस्थितः माहिष्मत्यां सूर्यमुद्गच्छन्तं प्रयुङ्क्ते—माहिष्मत्यां सूर्यमुद्गमयति । अत्र प्राप्त्या । महिषा अत्र सन्ति "नडकुमुद० ।६।२।७४। इति डिति मतौ अन्त्यलोपे 'धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। इति प्राप्तस्य डत्वस्य "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इत्यनेन" व्युदासः । न च "स्यरस्य०" ।७।४।११०। इत्यकारेण व्यवधानमिति वाच्यं "न सन्धि० ।७।४।१११ इत्यसदविधौ स्थानित्वनिषेधात् । महिष्मति भवा भवेऽण् ।

वावचनं पक्षे वाक्यार्थः । एवमग्रेपि ॥२०॥

तुमर्हादिच्छायां सन्नतत्सनः ।३।४।२१।

योधातुरिषेः कर्मेषिणैव च समानकर्तृकः स तुमर्हस्तस्मादिच्छायामर्थे सन्वा स्यात् नत्विच्छासन्नन्तात् । चिकीर्षति । जिगमिषति । जिगमिषति । तमर्हादिति किम् । यानेनेच्छति । भुक्तिमिच्छति मैत्रस्य । इच्छायामिति किम् । भोक्तुं याति । चिकीर्षितुमिच्छति । तदिति किम् । जुगुप्सिषते ॥२१॥

कर्तुमिच्छति—चिकीर्षति । नामिनोऽनिट् ॥४।३।३३॥ इति सनः किद्वद्भावः । गन्तुमिच्छति—जिगमिषति । भुक्तिमिच्छति मैत्रस्य—"शकधृष० ।५।४।९०। इति न तुम् तुल्यकर्तृकत्वाभावात् । चिकीर्षितुमिच्छति—चिकीर्षणं "शकधृष० ।५।४।९०। इति तुम् । प्रतीतिषतीत्याद्यर्थं सनोऽकारो विहितः । नकारः सन्ग्रहणेषु विशेषणार्थः

द्वितीयायाः काम्यः ।३।४।२२।

द्वितीयान्तादिच्छायां काम्यो वा स्यात् । इदंकाम्यति । द्वितीयाया इति किम् ? इष्टः पुत्रः ॥२२॥

इदमिच्छति—इदंकाम्यति । काम्येनैव कर्मण उक्तत्वाद् भावकर्त्रोरेव प्रयोगः । काम्यांचकारेत्यादौ सस्वरकाम्यविधानफलम् मृग्यम् ॥२२॥

अमाव्ययात्क्यन् च ।३।४।२३।

मान्ताव्ययादन्यस्माद् द्वितीतान्तादिच्छायां क्यन् काम्यश्च

वा स्यात्। पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति । अमाव्ययादिति किम्? इदमिच्छति, स्वरिच्छति ॥२३॥

चकारः काम्यार्थोऽन्यथा मान्ताव्यययोः सावकाशः स क्यना बाध्येत। नकारः "क्यनि" ।४।३।११२। इत्यत्र विशेषणार्थः । ककारः क्यग्रहणे सामान्यग्रहणार्थः । क्यनः सस्वरत्वे कीयांचकारेत्यादौ आम्सिद्धः ॥२३॥

आधाराच्चोपमानादाचारे ।३।४।२४।

अमाव्ययादुपमानाद् द्वितीयान्तादाधाराच्चाचारार्थे क्यन् वा स्यात्। पुत्रीयति च्छात्रं। प्रासादीयति कुट्याम् ॥२४॥

पुत्रमिवाचरति=**पुत्रीयति** च्छात्रम् । प्रासाद इवाचरति व्यवहरति कुट्यां **प्रासादीयति**। उपमानस्य नित्यमुपमेयापेक्षत्वात्सापेक्षत्वेऽप्यसामर्थ्यं न भवति ॥२४॥

कर्तुः क्विप् गलभक्लीबहोडात्तु ङित् ।३।४।२५।

कर्तुरुपमानान्नाम्न आचारार्थे क्विब्वा स्यात्। गल्भक्लीब-होडेभ्यस्तु स एव ङित्। गल्भते। क्लीबते। होडते ॥२५॥

अश्व इवाचरति=अश्वति। गल्भते इत्यादौ ङित्वादात्मनेपदं भवति। क्विबिति पूर्वप्रसिद्धयनुवादः तेनास्मिन् स्वमते किञ्चित्कार्यं न भवति। परमते तु कितः फलमाचारक्विपि 'अहन् पञ्चमस्य०' ।४।१।१०७। इति दीर्घे क इवाचरति कीमति-इदमिवाचरति इदामति। स्वमते तु धातुत्वाभावान्न दीर्घः। स्वमते तु 'किमति, इदमति' इत्येव। एके तु कर्तुः [सम्बन्धिन उपमानात् द्वितीयान्तात् क्विप्यङाविच्छन्ति। अश्वमिवात्मानमाचरति गर्दभः, अश्वति। तन्मतसंग्रहार्थं कर्तुरिति षष्ठी व्याख्येया। द्वितीयाया इति चानुवर्तनीयम् ॥२५॥

क्यङ् ।३।४।२६।

कर्तुरुपमानादाचारेऽर्थे क्यङ् वा स्यात् । हंसायते ॥२६॥

हंस इवाचरति=**हंसायते** । क्विप्क्यङोस्तुल्यविषयत्वादसत्युत्सर्गापवादत्वे पर्यायेण प्रयोगः तेन अश्वायते, गल्भायते इत्यपि । ककारः सामान्यग्रहणार्थः । ङकार आत्मनेपदार्थः । क इवाचरति कायांचक्रे इत्यत्र सस्वरस्य क्यङः फलम् ॥२६॥

सो वा लुक्च ।३।४।२७।

सन्तात्कर्तुरुपमानादाचारेर्थे क्यङ् वा स्यात्तदन्तस्य च सो वा लुक् । पयायते । पयस्यते ॥२७॥

स इति आवृत्त्या पञ्चम्यन्तं षष्ठ्यन्तं चाभिसम्बध्यते । पय इव आचरति=पयायते पयस्यते । क्यङ् सिद्धः लुगर्थं वचनम् । चकारः **लुचः क्यङ्सन्नियोगार्थः** अन्यथा स्वतन्त्रौ लुक्क्यङौ स्याताम् ॥२७॥

ओजोऽप्सरसः ।३।४।२८।

आभ्यां कर्तुरुपमानाभ्यामाचारे क्यङ् वा स्यात् सश्च लुक् । ओजायते । अप्सरायते ॥२८॥

ओजःशब्दो वृत्तिविषये स्वभावात्तद्वति वर्तते । ओजस्वीवाचरति **ओजायते** । पूर्वेण सिद्धे नित्यसलोपार्थं वचनम् । अन्ये त्वोजः शब्दे सलोपविकल्पमिच्छन्ति ओजायते, अप्सरायते ॥२८॥

च्व्यर्थे भृशादेः स्तोः ।३।४।२९।

भृशादेः कर्तृभ्यश्च्व्यर्थे क्यङ् वा स्यात् यथासम्भवं स्तोर्लुक्च ।

भृशायते । उन्मनायते । वेहायते । कर्तुरित्येव । अभृशम्भृशम्करोति । च्व्यर्थ इति किम् ? भृशो भवति ॥२९॥

च्व्यर्थे इत्यनेन लक्षणया भवत्यर्थविशिष्टं प्रागतत्त्वमुच्यते, करोतिस्तु कर्तुरित्यनेन व्युदस्तः । अयं भावः—करोत्यर्थविशिष्टे प्रागतत्त्वे भृशादीनां कर्तृत्वं न सम्भवति अपितु कर्मत्वमेव । अभृशो भृशो भवति=**भृशायते** । भवत्यर्थे विधानाच्च क्यङन्तस्य क्रियार्थत्वम्, भवत्यर्थशब्दाप्रयोगश्च । भवत्यर्थविशिष्टे च्व्यर्थे क्यङ् विहितः, च्विस्तु तद्योगमात्रेऽत एव च्व्योगेकरोतिभवत्योः प्रयोगो भवति । अनुक्तार्थत्वाद् क्रियार्थत्वाभावाद् धातुत्वं च न भवति ॥२९॥

डाच्लोहितादिभ्यः षित् ।३।४।३०।

डाजन्तेभ्यो लोहितादिभ्यश्च कर्तृभ्यश्च्व्यर्थे क्यङ् षित् स्यात् । पटपटायति पटपटायते । लोहितायति । लोहितायते । कर्तुरित्येव ३ पटपटा पटपटा करोति । च्व्यर्थ इत्येव लोहितो भवति ॥३०॥

अपटत् पटत् भवति—पटपटायतिः पटपटायते । "क्यङ्षो,नवा" ।३।३।४३ इति विकल्पेनात्मनेपदम् । ननु भवत्यर्थविशिष्टे च्व्यर्थे क्यङ्ष् विहितः इति क्यङ्षा भवत्यर्थस्योक्तत्वात् तदभावे 'निमित्ताभावे "नैमित्तिकस्याप्यभावः" इति न्यायात् डाचोऽपि निवृत्तिः स्यादिति वाच्यं डाजन्तात्क्यङ्ष्विधानसामर्थ्यात् कृभ्वस्तिभिरिव क्यङ्षापि योगे डाच् न निवर्तते । अलोहितो लोहितो भवति—लोहितायति, लोहितायते लोहित, जिह्म, श्याम, धूम, चर्मन्, हर्ष, गर्व, सुख, दुख, मूर्छा, निद्रा, कृपा, करुणा । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । धूमादीनां स्वतन्त्रार्थवृत्तीनां प्रकृतिविकारभावाप्रतीतेः च्व्यर्थो नास्तीति अधूमवान् धूमवान् भवतीति तद्वद्वृत्तिभ्यः प्रत्ययो भवति ॥३०॥

कष्टकक्षकृच्छ्रसत्रगहनाय पापे क्रमणे ।।३।४।३१।।

एभ्यश्चतुर्थ्यन्तेभ्यः पापवृत्तिभ्यः क्रमणेऽर्थे क्यङ् स्यात् । कष्टायते, कक्षायते, कृच्छ्रायते, सत्रायते, गहनायते । चतुर्थीति किम् ? रिपुः कष्टं क्रामति । पाप इति किम् ? कष्टाय तपसे क्रामति ।।३१।।

चतुर्थ्यन्तेभ्य इति—इदं निर्देशादेव लब्धम् । कष्टाय पापभूताय कर्मणे क्रामति—**कष्टायते** । कष्टाय तपसे क्रामति—पापमनार्जवाचारः स इह नास्तीति न भवति, अथ यथेह पापं नास्ति तथा क्रामणमपि पादविक्षेपो नास्तीति द्वयङ्गवैकल्यमिति न च वाच्यमत्र क्रमणं न पादविक्षेपः किन्तु प्रवृत्तिमात्रमिति न द्वयङ्गवैकल्यम् ।।३१।।

रोमन्थाद्व्याप्यादुच्चर्वणे ।३।४।३२।

अभ्यवहृतं द्रव्यं रोमन्थः, उद्गीर्य चर्वणमुच्चर्वणमस्मिन्नर्थे रोमान्थात्कर्मणः क्यङ् वा स्यात् । रोमन्थायते गौः । उच्चर्वण इति किम् ? कीटो रोमन्थं वर्तयति ।।३२।।

अभ्यवहृतं द्रव्यं रोमन्थः । उद्गीर्य चर्वणमुच्चर्वणम् । रोमन्थमुच्चर्वयतीति—**रोमन्थायते** गौः । उद्गीर्य चर्वयतीत्यर्थः । चर्वयतीत्यस्य बहुलमेतन्निदर्शनमिति चुरादित्वम् । कीटो रोमन्थं वर्तयति—उद्गीर्य बहिस्त्यक्तं पृष्ठान्तेन निर्गतं वा द्रव्यं गुटिकां करोतीत्यर्थः ।।३२।।

फेनोष्मबाष्पधूमादुद्वमने ।३।४।३३।

एभ्यः कर्मभ्यः उद्वमनेऽर्थे क्यङ् वा स्यात् । फेनायते । ऊष्मायते । बाष्पायते । धूमायते ।।३३।।

फेनमुद्वमति—फेनायते एवं उष्मायते इत्यादि ।।३३।।

सुखादेरनुभवे ।।३।४।३४।

साक्षात्कारेऽर्थे सुखादेः कर्मणः क्यङ् वा स्यात् । सुखायते । दुःखायते ।।३४।।

साक्षात्कारोऽनुभवः । सुखमनुभवति—सुखायते । दुःखमनुभवति—दुःखायते ।।३४।।

शब्दादेः कृतौ वा ।।३।४।३५।

एभ्यः कर्मभ्यः कृतावर्थे क्यङ् वा स्यात् । शब्दायते । वैरायते पक्षे णिच् । शब्दयति । वैरायति ।।३५।।

णिजपवादः । शब्दं करोति—**शब्दायते**, वैरं करोति—वैरायते । वाशब्दो व्यवस्थितविभाषार्थः तेन यथादर्शनं णिजपि भवति—शब्दयति वैरयति । वाधिकारस्तु वाक्यार्थः । व्यस्थितं प्रयोगारूढ विधिप्रतिषेधादिकार्यं विशेषेण भाषते सा व्यवस्थितविभाषा ।।३५।।

तपसः क्यन् ।३।४।३६।

अस्मात्कर्मणः कृतावर्थे क्यन् वा स्यात् । तपस्यति ।।३६।।

तपः करोति—तपस्यति ।।३६।।

नमो वरिवश्चित्रङोऽर्चासेवाश्चर्ये ।३।४।३७।

एभ्यः कर्मभ्यो यथासंख्यमर्चादिष्वर्थेषु क्यन्वा स्यात् । नमस्यति । वरिवस्यति । चित्रीयते ।।३७।।

देवेभ्यो नमः करोति—**नमस्यति** देवान् । गुरूणां वरिवः सेवां

करोतीति—वरिवस्यति गुरून् । वृणीते 'स्वरेभ्यः' ॥३०६ उणादि० ॥ इति इप्रत्यये वरिः सेवकस्तत्र वसतीति विचि वरिवः । चित्रं करोति= चित्रीयते । ङकारः आत्मनेपदार्थः 'अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायमपि विशिनष्टि इति न्यायात् । अर्चाद्यर्थाभावे तु न भवति नमः करोति, विरवः करोति=नमोवरिवःशब्दमुच्चारयतीत्यर्थः । ननु नमस्यति देवानित्यत्र नमःशब्दयोगात् 'शक्तार्थ०' ।२।२।७८। इति चतुर्थी कथं न भवतीति चेत्सत्यम् नमस्यतीत्यस्यैकदेशो नमःशब्द इति "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इति न्यायात् 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति न्यायाद्वा न भवति ॥३७॥

अङ्गान्निरसने णिङ् ।३।४।३८।

अङ्गवाचिनः कर्मणो निरसनेऽर्थे णिङ् वा स्यात् । हस्यते, पादयते ॥३८॥

हस्तौ निरस्यति=हस्तयते एवं पादयते । ङकार आत्मनेपदार्थः । निरसनाभावे तु हस्तं करोति हस्तयतीत्यादौ णिजपवादस्य णिङोऽभावाद् णिज् भवत्येव ॥३८॥

पुच्छादुत्परिव्यसने ।३।४।३९।

पुच्छात्कर्मण उदसने पर्यसने व्यसनेऽसने चार्थे णिङ् वा स्यात् । उत्पुच्छयते । परिपुच्छयते । विपुच्छयते । पुच्छयते ।

पुच्छम् उदस्यति=उत्पुच्छयते, पर्यस्यते=परिपुच्छयते, व्यस्यति विपुच्छयते, अस्यति=पुच्छायते ॥३९॥

भाण्डात्समाचितौ ।३।४।४०।

भाण्डात्कर्मणः समाचितावर्थे णिङ् वा स्यात् । सम्भाण्डयते ।

परिभाण्डयते ।

समाचितिः समाचयनं सा समा परिणा च द्योत्यते । भाण्डानि समाचिनोति=सम्भाण्डयते । एवं परिभाण्डयते ॥४०॥

चीवरात्परिधानार्जने ।३।४।४१।

अस्माकर्मणः परिधानेऽर्जने चार्थे णिङ् वा स्यात् । परिचीवरयते । संचीवरयते ॥४१॥

चीवरं परिधत्ते=परिचीवरयते । समाच्छादनमपि परिधानम्। चीवरं समाच्छादयति=संचीवरयते । चीवरमर्जयति—चीवरयते ॥४१॥

णिज्बहुलं नाम्नः कृगादिषु ।३।४।४२।

कृगादीनां धातूनामर्थे नाम्नो णिज्बहुलं स्यात् । मुण्डं करोति—मुण्डयति छात्रम् । पटुमाचष्टे पटयति । वृक्षं रोपयति—वृक्षयति । कृतं गृह्णाति-कृतयति ॥४२॥

बहुलग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम्, तेन यस्मान्नाम्नो यद्विभक्त्यन्ताद्यस्मिन् धात्वर्थे दृश्यते तस्मात्तद्विभक्त्यन्तात्तद्धात्वर्थे एव भवतीति नियमो लभ्यते । ननु तपः करोति तपस्यतीत्यादिवत् कर्मणो कृत्रावन्तर्भूतस्वान्मुण्डिरकर्मकः प्राप्नोतीति चेन्नैवं सामान्यकर्मान्तर्भूतं विशेषकर्मणा तु सकर्मकः एव **मुण्डयति छात्रम्** । "त्र्यन्त्यस्वरादेः ।७।४।४३। इत्यन्त्यस्वरादेर्लुक् ॥४२॥

व्रताद्भुजितन्निवृत्त्योः ।३।४।४३।

व्रतं शास्त्रविहितो नियमः, व्रताद् भुज्यर्थान्तन्निवृत्त्यर्थाच्च कृगा-

दिष्वर्थेषु णिज्बहुलं स्यात् । पयो व्रतयति । सावद्यान्नं व्रतयति ॥४३॥

पय एव मया भोक्तव्यमिति व्रतं करोति गृह्णाति वा **पयो व्रतयति**। सावद्यान्नं मया न भोक्तव्यमिति व्रतं करोति गृह्नि वा—सावद्यान्नं व्रतयति । अर्थनियमार्थ आरम्भः । यदि बहुलग्रहणस्य प्रयोगानुसरणार्थत्वात् अर्थनियमो भविष्यतीत्युच्यते तदा तत्प्रपञ्चार्थोऽयम् ॥४३॥

सत्यार्थवेदस्याः ।३।४।४४।

एषां णिचसन्नियोगे आः स्यात् । सत्यापयति । अर्थापयति । वेदापयति ॥४४॥

सत्यमाचष्टे करोति वा सत्यापयति एवमर्थापयति, वेदापयति । "येन नाप्राप्ते०" इति न्यायेन अकारस्याऽऽकारविधानसामर्थ्यात् "त्र्यन्त्यस्वरादेः" ।७।४।४३। इत्याल्लुग् न भवति ॥४४॥

श्वेताश्वाश्वतरगालोडिताह्वरकस्याश्वतरेतकलुक् ।३।४।४५।

एषां णिज्योगे यथासङ्ख्यमश्वादेः शब्दस्य लुक् स्यात् । श्वेतयति । अश्वयति । गालोडयति । आह्वरयति ॥४५॥

लुगर्थं वचनं णिच् तु सर्वत्र पूर्वेण सिद्ध एव । श्वेताश्वमाचष्टे करोति वा श्वेताश्वेनातिक्रामतीति वा श्वेतयति एवमश्वयति । गालोडितमाचष्टे करोति वा गालोडयति एवमाह्वरयति । श्वेतयतीत्यादिष्वनेन सस्वराणामेवाश्वादीनां लुक्, न तु "त्र्यन्त्यस्वरादेः" ।७।४।४३। इत्यनेनान्त्यलोपे सति विशेषविधानात् । "सकृत्बाधित०" इति न्यायात् अश्वादिलोपात्पश्चादपि त्र्यन्त्यस्वरादेः" ७।४।४३। इत्यन्त्यस्वरादेर्न लुक् । श्वेतयतीत्यादिषु अन्त्यस्वरादेर्लोपेऽपि न किञ्चिद् विनश्यति ।

गालोडयतीत्यत्र तु अनेन इतलोपे "त्र्यन्त्यस्वरादेः" ७।४।४३। इत्योडलोपे सति गाल्यतीत्यनिष्टं रूपं स्यात् । गाः इन्द्रियाणि आलोडयते प्रमाद्यतेऽनेन स गालोडः उन्मादरोगः, मूर्छना, चित्तविभ्रमो वा । गालोडः संजातोऽस्य इतच् । गुणरत्नावृत्तेरारम्भेऽस्मिन् सूत्रे श्वेताश्वेनातिकामति **श्वेतयतीति** दर्शितं तत्र शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् अतिशब्दप्रयोगं विनापि तदर्थप्रतीतिः ॥४५॥

धातोरनेकस्वरादाम्परोक्षायाः कृभ्वस्ति-चानुतदन्तम् ।३।४।४६।

अनेकस्वराद्धातोः परस्याः परोक्षायाः स्थाने आम् स्यात् आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु पश्चादन्तरं प्रयुज्यन्ते । चकासाञ्चकार । चकासाम्बभूव । चकासामास । अनेकस्वरादिति किम् ? पपाच । अनु विपर्यासव्यवहितिनिवृत्यर्थः । तेन चकारचकासाम् । ईहाञ्चैवश्चक्रे इत्यादि न स्यात् ॥४६॥

धातोरनेकस्वरत्वं द्विधा स्वाभाविकं परोक्षाहेतुकं च । तत्र आद्ये चकासांचकारेत्यादावाम् भवति द्वितीये तु पपाचेत्यादौ न भवति । सूत्रे तु सामान्येन यदनेकस्वरादित्युक्तं तत् "सन्निपातलक्षणो०" इति न्यायं सूचयति । पपाचेत्यादौ णवूरूपां परोक्षां निमित्तीकृत्य जातमनेकस्वरत्वं तद्विधातं न करोतीति । "नानुबन्धकृता०" इति न्यायात् डुपचींष् पाके इत्यनुबन्धकृतमप्यनेकस्वरत्वं न भवति । चकासामासेत्यत्रास्तेर्भूर्न भवति विधानबलात् ॥४६॥

दयायास्कासः ३।४।४७।

एभ्यो धातुभ्यः परस्याः परोक्षाया आम् स्यात् । आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनुप्रयुज्यन्ते । दयाञ्चक्रे । दयाम्ब-

भूव । दयामास । पलायाञ्चक्रे । आसाञ्चक्रे । कामाञ्चक्रे ।
॥ ४७ ॥

दयि दानगतिहिंसादहनेषु च ॥४७॥

गुरुनाम्यादेरनृच्छूर्णोः ३।४।४८।

गुरुर्नाम्यादिर्यस्य तस्माद्धातोः ऋच्छूर्णुवर्जात्परस्याः परोक्षाया आम् स्यात् आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनुप्रयुज्यन्ते । ईहाञ्चक्रे । ईहाम्बभूव । ईहामास । गुर्विति किम् ? इयेष । नामीति ? आनर्च । आदीति किम् ? निनाय । अनृच्छूर्णोरिति किम् ? आनर्छ । प्रोर्णुनाव ॥४८॥

गुरुग्रहणं नामिनो विशेषणं न धातोः, धातुविशेषणे हि इयेष इत्यत्रापि स्यात् । ऋच्छप्रतिषेधात् संयोगे परे पूर्वो गुरुरिति विज्ञायते । ईषतुः, ईषुः इत्यत्र 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इति न्यायान्न भवति । ईङस्तु "आद्यन्तवदेकस्मिन्" इति न्यायात् अयांचक्रे इति भवत्येव । उपसर्गस्य तु क्रियाविशेषकत्वाद्व्यवधायकत्वाभावात् "उक्षां प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्" इत्यादि भवत्येव ॥४८॥

जागुषसमिन्धेर्नवा ।३।४।४९।

एभ्यो धातुभ्यः परस्याः परोक्षायाः आम् वा स्यात् आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनुप्रयुज्यन्ते । जागराञ्चक्रे । जागराम्बभूव । जागरामास । जजागार । उषाञ्चकार । उवोष । समिन्धाञ्चक्रे । समीधे ॥४९॥

उवोष—"पूर्वस्यास्वे० ।४।१।३७। इत्युवादेशः । सोपसर्गादिन्धेराम् न

भवत्येवेति कश्चित् । अन्ये तु परोक्षायामिन्धेरामन्तस्यैव प्रयोग इत्याहुः । समोऽन्यत्रापि इन्धेराम्विकल्प इत्यन्यः ॥४६॥

भीह्रीभृहोस्तिव्वत् ।३।४।५०।

एभ्यः परस्याः परोक्षाया आम् वा स्यात् स च तिव्वत् आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु प्रयुज्यन्ते। बिभयाञ्चकार। बिभयाम्बभूव। बिभयामास। बिभाय। जिह्रयाञ्चकार। जिह्राय। बिभराञ्चकार। बभार। जुहवाञ्चकार। जुहाव ॥५०॥

तिव्वद्भावाद्द्वित्वमित्वं च ॥५०॥

वेत्तेः कित् ।३।४।५१।

वेत्तेः परस्या परोक्षाया आम् किद्वा स्यात् आमन्ताच्च कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु प्रयुज्यन्ते। विदाञ्चकार। विवेद ॥५१॥

तिनिर्देशो 'विदक् ज्ञाने' इत्यादादिकपरिग्रहार्थः। **वेत्तेः परस्याः परोक्षाया आमादेशो वा भवति स च कित्।** वेत्तेरविदिति कृते इन्ध्यसंयोगात्परोक्षा किद्वदित्यामः स्थानिवद्भावेन कित्त्वे सिद्धेऽपि कित्त्वविधानमामः परोक्षावद्भावनिवृत्तिज्ञापनार्थम्, तेन परोक्षावद्भावेन हि कित्वद्विर्वचनादिकं न भवति। **विदांचकार**—कित्त्वाद् गुणो न भवति। तिनिर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्च। तेन यङ्लुपि वेवेदांचकारेति सिद्धम्, "धातोरनेक०" ।३।४।४६। इत्यामि नाऽनेन विकल्पः ॥५६॥

पञ्चम्याः कृग् ।३।४।५२।

वेत्तेः परस्याः पञ्चम्याः किदाम्वा स्यात् आमन्ताच्च परः पञ्चम्यन्तः कृगनुप्रयुज्यते । विदाङ्करोतु । वेत्तु ॥५२॥

कृग्ग्रहणं भ्वस्तिव्युदासार्थम् । भ्वस्तिसम्बन्ध एव कृगनूद्यते, तेन कृंगट् इत्यस्य न ग्रहणम् ॥५२॥

सिजद्यतन्याम् ।३।४।५३।

अद्यन्तयां परस्यां धातो परः सिच् नित्यं स्यात् । अनैषीत् ॥५३॥

आम्निवृत्तौ तत्सम्बद्धं वेति निवृत्तम् । **सिज्** इत्यत्र "चजः कगम् ।२।१।८६। इति कृते किस्त्वाशङ्का स्यात् । **इकारचकारौ विशेषणार्थौ**— अन्यथा सिचि० ।४।३।४४। इत्यादौ सिरिति कृते वर्तमाना-सि-प्रत्यये स इति च कृते सकारादिमात्रे प्रसङ्गः—स्यात् । **अनैषीत्**—"सिचि परस्मै०" ।४।३।४४। इति वृद्धिः "सः सिजस्ते०" ।४।३।६५। इति परादिरीत् ॥५३॥

स्पृशमृशकृषतृपदृपो वा । ।४।५४।

एभ्योऽद्यतन्या सिज् वा स्यात् । अस्प्राक्षीत् । अस्पार्क्षीत् । अस्पृक्षत् । अम्राक्षीत् । अमार्क्षीत् । अमृक्षत् । अक्राक्षीत् । आकार्क्षीत् । अकृक्षत् । अत्राप्सीत् । अप्तार्प्सीत् । अतृपत् । अद्राप्सीत् । अदार्प्सीत् । अदृपत् ॥५४॥

स्पृशंत् संस्पर्शे, मृशंत् आमर्शने, कृषींत् विलेखने, तृपौंच् प्रीप्तौ, दृपौच् हर्षमोहनयोः । तृपदृपोः पुष्यादित्वाद् 'लृदिद्द्युतादिपुष्यादेः परस्मै ।३।४।६४। इत्यङि शेषाणां तूत्तरेण सकि प्राप्ते वचनम् । अथययाय मङि सकि च प्राप्ते विधीयमानस्तयोर्बाधको भवति तथा ञिचोऽपि बाधकः प्राप्नोति अस्मिन्नपि प्राप्नेऽस्य विधीयमानत्वादिति चेन्मैवं 'पूर्वेऽपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायात् ॥५४॥

हशिटो नाम्युपान्त्याददृशोऽनिटः सक् ।३।४।५५।

हशिडन्तान्नाम्युपान्त्याददृशोऽनिटोऽद्यतन्यां सक् स्यात् । अधुक्षत् । अविक्षत् । हशिट इति किम् अभैत्सीत् । नाम्युपान्त्या-

विति किम् ? अधाक्षीत् । अदृश इति किम् ? अद्राक्षीत् । अनिट इति किम् ? अकोषीत् ॥५५॥

सिचि प्राप्तेऽस्य विधानात् सिचोऽपवादः । दुह-विश्धातुभ्यां **अधुक्षत् अविक्षत्** । **अकोषीत्**="इट ईति" ।४।३।७१। इति सिज्लोपः ॥५५॥

श्लिषः ।३।४।५६।

श्लिषोऽनिटोऽद्यतन्यां सक् स्यात् । आश्लिक्षत्कन्यां मैत्रः । अनिट इत्येव-अश्लेषीत् ॥५६॥

पुष्यादित्वादङि प्राप्ते वचनम् 'पूर्वेऽपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्' इत्यङः एव बाधकोऽयं न तु ञिचः । **अश्लेषीत्**=अधाक्षीदित्यर्थः । अनिट इति वचनात् श्लिषू दाहे इत्यस्मात्सेटो न भवति ॥५६॥

नासत्वाश्लेषे ।३।४।५७।

श्लिषोऽप्राण्याश्लेषार्थात्सिन स्यात् : उपाश्लिषजतु च काष्ठं च । असत्वाश्लेष इति किम् । व्यत्यश्लिक्षन्त मिथुनानि ॥५७॥

नत्वनन्तरस्य विधिः प्रतिषेधो वेति न्यायात् अनन्तरस्य सको अङ्बाधकत्वात् परस्मैपदविषयस्यैव प्रतिषेधः प्राप्नोति न तु क्रियाव्यतिहारे कर्तर्यात्मनेपदे प्रवर्तमानस्य 'हशिट०' ।३।४।५५। इत्यस्येति चेत्सत्यम् पृथग्योगात् 'हशिटो०' ।३।४।५५। इत्यनेनापि प्राप्तस्य निषेधोऽन्यथा 'श्लिषोऽसत्त्वाश्लेषे' इत्येकमेवं योगं कुर्यात् । **व्यत्यश्लिक्षन्त**—' स्वरेऽतः' ।४।३।७५। इति सकोऽकारलोपस्य परमप्यादेशं प्रति पूर्वस्मात्परो विधिः प्राग्विधिरित्याश्रयणात् "स्वरस्य परे०" ।७।४।११०। इति स्यानिवद्भावात् 'अनतोऽन्तोदात्मने' ।४।२।११४। इत्यनेनादादेशो न भवति ॥५७॥

णिश्रिद्रुस्रुकमः कर्त्तरि ङः ।३।४।५८।

ण्यन्ताच्छ्र्यादिभ्यश्च कर्त्तर्यद्यतन्यां ङः स्यात् । अचीकरत् । अशिश्रियत् । अदुद्रुवत् । असुस्रुवत् । अचकमत् । कर्त्तरीति किम् अकारयिषातां कटौ मैत्रेण ॥५८॥

ङकारो ङित्कार्यार्थः । अचीकरत्="असमानलोपे०" ।४।१।६३। इति सन्व-द्भावः, 'सन्यस्य'।४।१।५९। सूत्रेण सनीकारः तथात्रापि 'लघोर्दीर्घो०।४।१।६४ इति दीर्घः । कमिग्रहणम् "अशवि ते वा" ।३।४।४। इति यदा णिङ् नास्ति तदार्थवत् । अकारयिषाताम्—कटौ क्रियते मैत्रेण । मैत्रेण क्रियमाणौ तौ चैत्रेण प्रयुज्येते स्म, यद्वा मैत्रः कटौ करोति, तस्यैवं विवक्षा नाहं करोमि अपि तु क्रियेते कटौ स्वयमेव । तौ क्रियमाणौ कटौ चैत्रेण प्रायुक्षाताम् ॥५८॥

ट्धे-श्वेर्वा ।३।४।५९।

आभ्यां कर्तर्यद्यतन्यां ङीर्वा स्यात् । अदधत् । अधात् । अशिश्वियत् । अश्वत् । कर्तरित्येव-अधिषातां गावौ वत्सेन ॥५९॥

अदधत्="इडेत्पुसि चातो लुक् ।४।३।९४। इत्याल्लुक् । **अधात्**=अत्र "ट्धे-घ्रा० ।४।३।६७। इति विकल्पेन सिज्लुप् इड्निषेधश्च । पक्षे अधासी-दित्यपि, यमिरमि० ।४।४।८६। इतीट् सन्तश्च । **अश्वत्**="ऋदिच्छ्व० । ३।४।६५ इत्यङ् 'श्वयत्सू०' ।४।३।१०३। इति श्वादेशः । **अधिषाताम्**= इश्च स्थादः' ।४।३।४१। इति सिचः किद्वद्भावः, आतः इश्चः ॥५९॥

शास्त्यसूवक्ति ख्यातेरङ् ।३।४।६०।

एभ्यः कर्तर्यद्यतन्यामङ् स्यात् । अशिषत् । अपास्थत् । अवोचत् । आख्यत् । कर्तरीत्येव अशासिषातां शिष्यौ गुरूणा ॥६०॥

अस्यतेः पुष्पादित्यात् अङि सिद्धे "क्रियाव्यतिहारे० ।३।३।२३। इत्यात्मने-पदार्थं वचनम् । नन्वात्मनेपदयोरनेनैव सिध्यति किं पुष्यादिपाठेन ? सत्यम् अस्य पुष्यादिपाठो 'द्विबंद्धं सुबद्धं भवतीति ज्ञापनार्थः तेनाऽस्मा-दङोऽव्यभिचारः । अन्येषां तु क्वचिद् व्यभिचारोऽपि तेन 'भगवन्मा कोऽपीत्यादि बालरामायणोक्तं सिद्धम् । तिब्निर्देशो यङ्लुब्निवृत्त्यर्थः । **अशिषद्**='शासूक् अनुशिष्टौ "इसासः शासो०" ।४।४।१०८। इत्यास इस् । अपास्थत्='श्वयत्सू० ।४।३।१०३ इति असू इत्यत्रोकारोपादानाद् असूच् क्षेपणे इति गृह्यते । ब्रू गादेशः वच् । चक्षादेशः ख्यांग् ॥६०॥

सर्त्यर्त्तेर्वा ।३।४।६१।

आभ्यां कर्तर्यद्यतन्यामङ् वा स्यात् । असरत् । असार्षीत् । आरत् आर्षीत् ॥६१॥

ऋः अदादिभ्वादिर्वा । सर्तेः कर्तर्यात्मनेपदं न दृश्यते "क्रियाव्यतिहारे० ।३।३।२३। इत्यत्र गत्यर्थवर्जनात् । "सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः" इति ज्ञानार्थस्यापि नेष्यते । तिव्निर्देशो यङ्लुब्निवृत्त्यर्थः ॥६१॥

ह्वालिप्सिचः ।३।४।६२।

एभ्यः कर्तर्यद्यतन्यामङ् स्यात् । आह्वत्, अलिपत् । असिचत् ॥६२॥

ह्वेंग् स्पर्धाशब्दयोः ॥६२॥

वात्मने ।३।४।६३।

ह्वादेः कर्तर्यद्यतन्यामात्मनेपदे वाऽङ् स्यात् । आह्वत । आह्वास्त । अलिपत । अलिप्त । असिचत । असिक्त ॥६३॥

आह्वत=स्पर्द्धापूर्वके आकारणे "ह्वः स्पर्द्धे ।३।३।५६। इत्यनेनात्मनेपदम् । सामान्याकरणे 'ईगितः' ।३।३।९५। इत्यनेनात्मनेपदम् ॥६३॥

लृदिद्द्युतादिपुष्यादेः परस्मै ।३।४।६४।

लृदितो द्युतादेः पुष्यादेश्च कर्तर्यद्यतन्यां परस्मैपदेऽङ् स्यात् । अगमत् । अद्युतत् । अरुचत् । अपुषत् । औचत् । परस्मैपद इति किम् ? समगंस्त ॥६४॥

पुष्येति श्यनिर्देशात् पोषतिपुष्णातिभ्यां न भवति । द्युतादयः भ्वादि-गणान्तर्गताः धातवः । पुष्यादयः दिवादिगणान्तर्गताः ॥६४॥

ऋदिच्छ्वस्तम्भू-म्रुचू-म्लुचू-ग्रुचू-ग्लुचू-ग्लुञ्चू-जॄो वा ।३।४।६५।

ऋदितः श्व्यादेश्च कर्तर्यद्यतन्यां परस्मैपदेऽङ् वा स्यात् । अरुधत् । अरौत्सीत् । अश्वत । अश्वयीत् । अस्तभत् अस्तम्भीत् । अम्रुचत् । अम्रोचीत् । अम्लुचत् । अम्लोचीत् । अग्रुचत् । अग्रोचीत् । अग्लुचत् । अग्लोचीत् । अग्लुचत् । अग्लुञ्चीत् । अजरत् । अजारीत् ॥६५।

रुधृंपी आवरणे ट्वोश्वि गतिवृद्धयोः (यजादिः)स्तम्भू सौत्रो धातुः । म्रुचू म्लुचू म्लुञ्चू गतौ । ग्रुचू ग्लुञ्चू स्तेये । ग्लुचूग्लुञ्चोरेकतरोपादानेऽपि रूपत्रयं सिध्यति अर्थभेदात्तु द्वयोपादानम् । जॄश् वयोहानौ जॄष् जरपि-एतद्वयमप्यत्र ग्राह्यम् ॥६५॥

ञिच् ते पदस्तलुक्च ।३।४।६६।

पद्यतेः कर्तर्यद्यतन्यास्ते परे ञिच् स्यात्तन्निमित्ततस्य च लुक् । उदपादि । त इति किम् ? उदपत्साताम् ॥६६॥

(पदिच् गतौ) पदेरात्मनेपदित्वात् त इति आत्मनेपदप्रथमत्रिकैकवचनं गृह्यते न परस्मैपदमध्यमत्रिकबहुवचनम् एवमुत्तरत्र । ञकारः 'ञ्णिति' ।४।३।५० इति वृद्धयर्थः ॥६६॥

दीपजनबुधिपूरितायिप्यायो वा ।३।४।६७।

एभ्यः कर्त्तर्यद्यतन्यास्ते परे ञिज्वा स्यात्तलुक्च । अदीपि । अदीपिष्ट । अजनि । अजनिष्ट । अबोधि ॥६७॥

दीपैचि दीप्तौ, जनैचि प्रादुर्भावे । अजनि—"न जनबधः" ।४।३।५४। इति वृद्ध्यभावः । बुधिच् ज्ञाने इकारो दैवादिकस्यात्मनेपदिनः परिग्रहार्थः तेन बुधृग् अबोधिष्ट इत्यत्र न भवति । पुरैचि आप्यायने, तायृङ् सन्तानपालनयोः, आप्यायैङ् वृद्धौ ॥६७॥

भावकर्मणोः ३।४।६८।

सर्वस्माद्धातोर्भावकर्मविहितेऽद्यतन्यास्ते ञिच् स्यात्तलुक्च । आसि त्वया । अकारि कटः ॥६८॥

आसिक् उपवेशने अदादिः ॥६८॥

स्वरग्रहदृशहन्भ्यः स्यसिजाशीःश्वस्तयां ञिड् वा ।३।४।६९

स्वरान्ताद् ग्रहादेश्च विहितासु भावकर्मजासु स्यसिजाशीःश्वस्तनीषु ञिड् वा स्यात् । दायिष्यते । दास्यते । अदायिषाताम् । अदिषाताम् । दायिषीष्ट । दासीष्ट । दायिता । दाता । ग्रहीष्यते । अग्राहिषाताम् । अग्रहीषाताम् । ग्राहिषीष्ट । ग्रहीषीष्ट । ग्राहिता । ग्रहीता । दर्शिष्यते । द्रक्ष्यते । अदर्शिषाताम् । अदृक्षाताम् । दर्शिषीष्ट । दृक्षीष्ट । दर्शिता । द्रष्टा । घानिष्यते । हनिष्यते । अघानिषाताम् । अवधिषाताम् । घानिषीष्ट । वधिषीष्ट । घानिता । हन्ता ॥६९।

प्रकृतिप्रत्यययोर्वचनवैषम्यान्न यथासङ्ख्यम् । दायिष्यते="आतः ऐ:०

।४।३।५३। इत्यात ऐकारः । **ग्रहीष्यते**='गृह्णोऽपरोक्षायां दीर्घः' ।४।४।३४। इति दीर्घः । **द्रक्ष्यते**--'यज-सृज० ।२।१।८७। इतिशस्य षकारः । 'षढोः कस्सि" ।२।१।६२। इति षस्य कः, 'नाम्यन्तस्था'० ।२।३।१५। इति सस्य षकारः । "अः सृजिदृशो० ।४।४।१११। इति । **अदृक्षाताम्, दृक्षीष्ट**'सिजाशिषा०' ।४।३।३५। इति सिजाशिषोः किद्वद्भावः **घानिष्यते**-'ञ्णिति घन्' ।४।३।१००। इति घनादेशः । **हनिष्यते** "हनृतः स्यस्य' ।४।४।४९। इतीट् । **अवधिषाताम्**-'अद्यतन्यां वा त्वात्मने' ।४।४।२२। इति वध इति सस्वर आदेशः 'अतः' ।४।३।८२। इति वधस्यान्त्यस्वरलोपः । 'स्थानिवद्भावेनानुस्वारेत्त्वेऽप्यनेकस्वरत्वात् 'एकस्वराद० ।४।४।५६। इति नेड्निषेधः । वधादेशविकल्पपक्षे अहसातामिति भवति अत्र 'हनः सिच्' ।४।३।३८। इति सिच् किद्वद् 'यमिरमि०" ।४।२।५५। इति नलोपः । **वधीषीष्ठ**-'हनो वधः ।४।४।२१। इति वधा देशः ॥६८॥

क्यः शिति ।३।४।७०।

सर्वस्माद्धातोर्भावकर्मविहिते शिति क्यः स्यात् । शय्यते । त्वया । क्रियते कटः । शितीति किम् । बभूते ॥७०॥

शय्यते—"क्ङिति यि शय् ।४।३।१०५। सूत्रेण शय् आदेशः । **क्रियते**-'रिः शक्याशीर्ये ।४।३।११०। इति ऋकारस्य स्थाने रिः । बभूव-भू परोक्षाया ए, द्वित्वम् 'भूस्वपोरदुतौ ।४।१।७०। इत्यभ्यासेऽकारः 'धातोरिवर्णो० ।२।१।५०। इत्यनेनोवादेशः 'भुवो वः परोक्षा० ।४।२।४३। इत्यनेन ऊकारः ॥७०॥

कर्त्तर्यनद्भ्यः शव् ।३।४।७१।

अदादिवर्जाद्धातोः कर्तरि विहिते शिति शव् स्यात् । भवति । कर्त्तरीति किम् । पच्यते । अनद्भ्य इति किम् ? अत्ति ॥७१॥

शकारवकारौ शिद्वित्कार्यार्थौ । एकस्माद् बहुवचनानुपपत्तेः सर्वेषामप्यभेदोपचारात् अच्छब्देनाभिधानात् बहुत्वात् 'अन ब्भ्यः' इति बहुवचनम्॥७१।

दिवादेः श्यः ।३।४।७२।

दिवादेः कर्तृविहिते शिति श्यः स्यात् । दीव्यति । जीर्यति ॥ ७२ ॥

श्यादयो शवोऽपवादा । दीव्यति—"भ्वादेर्नामिनो० ॥२।१।६३॥ इति दीर्घः । **जीर्यति**—"शिदवित्" ।४।३।२०। इति ङिद्वद्भावात् "ॠतां क्ङितीर्" ।४।४।११६। इति ॠत इर् "भ्वादेर्नामिनो०" ।२।१।६३। इति दीर्घः ॥७२॥

भ्रासभ्लासभ्रमक्रमक्लमत्रसित्रुटिलषियसिसंयसेर्वा ३।४।७३।

एभ्यः कर्तरि विहिते शिति श्यो वा स्तात् । भ्रास्यते । भ्रासते । भ्लास्यते । भ्लासते । भ्राम्यति । भ्रमति । क्राम्यति । क्रमति । क्लाम्यति । क्लामति । त्रस्यति । त्रसति । त्रुट्यति । त्रुटति । लष्यति । लषति । यस्यति । यसति । संयस्यति । संयसति ॥७३॥

प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम् । भ्रमक्लमत्रसयसानां प्राप्ते भ्रासभ्लासक्रमत्रुटलषीणामप्राप्ते वचनम् । यसिग्रहणेनैव सिद्धे संयसिग्रहणमुपसर्गान्तरपूर्वकस्य यसेर्निवृत्त्यर्थं तेन आयस्यति प्रयस्यतीत्यादौ नित्यं श्यः । टुभ्रासि टुभ्लासृङ् दीप्तौ इति भ्वादौ आत्मनेपदिनौ । 'भ्रमूच् अनवस्थाने' इति दिवादौ परस्मैपदी । श्ये सति "शम्सप्तकस्य श्ये" ।४।२।१११। इति दीर्घः । क्रमू पादविक्षेपे इति भ्वादौ परस्मैपदी "क्रमो दीर्घः परस्मै" ।४।२।१०८। इति दीर्घः ।क्लमूच् ग्लानौ इति दिवादौ परस्मैपदी "ष्ठिवूक्लम०" ।४।२।११०। इति दीर्घः, त्रसैच् भये इति दिवादौ परस्मैपदी "त्रुटत् छेदने" तुदादिः, 'लषी कान्तौ' इति भ्वादौ उभयपदी 'यसूच् प्रयत्ने' इति दिवादिः ॥७३॥

कुषिरञ्जेर्व्याप्ये वा परस्मै च ३।४।७४।

आभ्यां व्याप्ये कर्तरि शिद्विषये परस्मैपदं वा स्यात्तद्योगे च श्यः। कुष्यति, कुष्यते वा पादः स्वयमेव। रज्यति रज्यते वा वस्त्रं स्वयमेव। व्याप्ये कर्तरीति किम् ? कुष्णाति पादं रोगः। शितीत्येव। अकोषि ॥७४॥

'कुषिरञ्जेर्व्याप्ये क्याद् वा परस्मै इति कृते एव सिद्धे श्यविधानं कुष्यन्ती रज्यन्तीत्यत्र 'श्यशवः' ।२।१।११६। इत्यनेन नित्यमन्तादेशार्थम्। 'एकधातौ०" ।३।४।८६। इति प्राप्तयोः क्यात्मनेपदयोरपवादः। कुष्णाति पादं देवदत्तः बहिर्निष्कृष्टान्तरवयवं करोति देशान्तरं प्रापयति वा, कुष्यति कुष्यते वा पादः स्वममेव। रजति वस्त्रं रजकः, रज्यति रज्यते वा वस्त्रं स्वयमेव। रजतीत्यत्र "अकट्धिनोश्च रञ्जेः ।४।२।५०। इत्युपान्त्यनकारस्य लुक् ॥७४॥

स्वादेः श्नुः ३।४।७५।

स्वादेः कर्तृविहिते शिति श्नुः स्यात्। सुनोति। सिनोति ॥ ७५ ॥

शकारः शित्कार्यार्थः। सुनाति—'उँ-श्नोः' ।४।३।२। इत्यनेन 'श्नु' इत्यस्य गुणः। स्वादयोऽत्र 'षुंगट् अभिषवे' इत्यादयः टकारानुबन्धा ज्ञेयाः ॥७५॥

वाऽक्षः ।३।४।७६।

अक्षः कर्तृविहिते शिति श्नुर्वा स्यात्। अक्ष्णोति। अक्षति। ॥ ७६ ॥

'अक्षौ व्याप्तौ च' इत्यस्माद्धातोः ॥७६॥

तक्षः स्वार्थे वा ।३।४।७७।

स्वार्थस्तनुत्वं तद्वृत्तेस्तक्षः कर्तृविहिते शिति श्नुर्वा स्यात् । तक्ष्णोति । तक्षति । स्वार्थ इति किम् ? संतक्षति शिष्यम् । ॥ ७७ ॥

"तक्षौ तनूकरणे" स्वार्थः तनूकरणम् । **तक्ष्णोति** काष्ठं तनूकरोतीत्यर्थः । **संतक्षति**—निर्भत्सयति ॥७७॥

स्तम्भूस्तुम्भूस्कम्भूस्कुम्भूस्कोः श्ना च ।३।४।७८।

स्तम्भ्वादेः सौत्राद् धातोः स्कुगश्च कर्तृविहिते शिति श्ना श्नुश्च स्यात् । स्तभ्नाति । स्तभ्नोति । स्तुभ्नाति । स्तुभ्नोति । स्कभ्नाति । स्कभ्नोति । स्कुभ्नाति । स्कुभ्नोति । स्कुनाति । स्कुनोति ॥७८॥

पाठापठितत्वे सति सूत्रगृहीतत्वे सति धातुत्वम्=सौत्रधातुत्वम् । अनिर्दिष्टानुबन्धानां सौत्राणां धातूनां परस्मैपदित्वम् । स्तम्भ्वादीनामूदित्करणं क्त्वाक्तयोरिड्विकल्पनित्यप्रतिषेधार्थम् । "ऊदितो वा ।४।४।४२। वेटोऽपतः ।४।४।६२। इति इड्विकल्पनित्यप्रतिषेधौ ॥७८॥

क्र्यादेः ३।४।७९।

क्र्यादेः कर्तृविहिते शिति श्ना स्यात् । क्रीणाति । प्रीणाति । ॥ ७९ ॥

क्र्यादयोऽत्र 'डुक्रीग्श् द्रव्यविनिमये' इत्यादयः शकारानुबन्धा ज्ञेयाः ॥ ७९ ॥

व्यञ्जनाच्छ्नाहेरानः ।३।४।८०।

व्यञ्जनात्परस्य श्नायुक्तस्य हेरानः स्यात् । पुषाण । मुषाण । व्यञ्जनादिति किम् ? लुनीहि ॥८०॥

लुनीहि 'एषामीर्व्यञ्जनेऽदः ।४।२।९७। इत्यात ईकारः ॥८०॥

तुदादेः शः ।३।४।८१।

एभ्यः कर्तृविहिते शिति शः स्यात् । तुदति । तुदते ॥८१॥

शकारः शित्कायार्थः । नुदींत् व्यथने इत्यादयः तकारानुबन्धाः ॥८१॥

रुधां स्वराच्छ्नो नलुक् च ।३।४।८२।

रुधादीनां स्वरात्परः कर्तृविहिते शिति श्नः स्यात्तद्योगे प्रकृतेर्नो लुक् च यथासम्भवम् । रुणद्धि । हिनस्ति ॥८२॥

चकारेण प्रकृतेर्नकारस्य लुगन्वाचीयते, प्रत्ययनकारस्य तु विधानसामर्थ्यात् लुग्न भवति । रुणद्धि—'अधश्चतुर्थात्तथोर्धः ।२।१।७९। इति प्रत्ययतकारस्य धकारः । हिनस्ति—"उदितः स्वरान्नोन्तः" ।४।४।९८। इति नकारस्यानेन लुक् ॥८२॥

कृग्तनादेरुः ।३।४।८३।

कृगस्तनादिभ्यश्च कर्तृविहिते शिति उः स्यात् । करोति । तनोति ॥८३॥

तनादिगणेऽपठित्वा भ्वादिमध्ये 'कृग्' इत्यस्य पाठ, 'करति' इति प्रयोग शवर्थः । येषां मते कृगस्तनादौ पाठः, तन्मते 'तन्भ्यो वा तथासि ण्णोश्च' ।४।३।६८। इत्यनेन 'अकृत, अकृष्ट' इति रूपद्वयम् । शव् च न भवति । स्वमते तु 'अकृत, अकृथाः' इति नित्यमेव 'धुड्ह्रस्वाल्लुगः ।४।३।७०। इत्यनेन सिचो लुक् ॥८३॥

सृजः श्राद्धे ञिक्यात्मने तथा ।३।४।८४।

सृजः पराणि श्रद्धावति कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि स्युस्तथा यथा पूर्वं विहितानि । असर्जि । सृज्यते, स्रक्ष्यते वा मालां धार्मिकः । श्राद्ध इति किम् ? व्यत्यसृष्ट माले गिथुनम् ॥८४॥

तथेति वचनात् यथा भावकर्मणोः ञिक्यात्मनेपदानि भवन्ति तथाऽत्र कर्तर्यपि अद्यतन्यामात्मनेपदते ञिच्, तलुक् च, शिति च क्य इति सिद्धम् ॥ ८४ ॥

तपेस्तपः कर्मकात् ।३।४।८५।

तपेः तपः कर्मकात्कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि स्युस्तथा । तप्यते, तेपे वा तपः साधुः । तप इति किम् ? उत्तपति स्वर्णं स्वर्णकारः । कर्मेति किम् ? तपः साधुं तपति ॥८५॥

तप्यते तेपे वा—तपिरत्र करोत्यर्थकः, ञिच् तु "तपः कर्त्रनुतापे च" ।३।४।९१। इति प्रतिषेधान्न भवति । तपः साधुं तपति—दुःखयतीत्यर्थः । ॥ ८५ ॥

एकधातौ कर्मक्रिययैकाकर्मक्रिये ।३।४।८६।

एकस्मिन्धातौ कर्मस्थक्रियया पूर्वदृष्टया एका अभिन्ना सम्प्रत्य-

कर्मिका क्रिया यस्य तस्मिन् कर्तरि कर्मकर्तृरूपे धातोञ्चिक्यात्मनेपदानि स्युः अकारि, क्रियते, करिष्यते वा कटः स्वयमेव । एकधाताविति किम्? पचत्योदनश्चैत्रः । सिध्यत्योदनः स्वयमेव । कर्मक्रियेति किम्? साध्वसिश्छिनत्ति । एकक्रिय इति किम्? स्रवत्युदकं कुण्डिका । स्रवत्युदकं कुण्डिकायाः । अकर्मक्रिय इति किम् ? भिद्यमानः कुशूलः पात्राणि भिनत्ति ॥८६॥

साध्वसिश्छिनत्ति—करणस्थक्रिययैकक्रिये न भवति । स्रवत्युदकं कुण्डिका, स्रवत्युदकं कुण्डिकायाः—अत्र विसृजति निष्क्रामतीति क्रियाभेदात् नैकक्रियत्वम् ॥८६॥

पचिदुहेः ।३।४।८७।

एकधातौ कर्मस्थक्रियया पूर्वदृष्टया अकर्मिकया सकर्मिकया वा एकक्रिये कर्तरि कर्मकर्तृरूपे आभ्यां ञिक्यात्मनेपदानि स्युः । अपाचि, पच्यते, पक्ष्यते वा ओदनः स्वयमेव । अदोहि, दुह्यते, धोक्ष्यते, वा गौः स्वयमेव । उदुम्बरः फलं पच्यते अपक्त वा स्वयमेव । दुग्धे, अदुग्ध, धोक्ष्यते वा पयोगौः स्वयमेव ॥८७॥

उदुम्बरं फलं पचति वायुः इति मूलप्रयोगः, पचिरन्तर्भूतण्यर्थो द्विकर्मकः **उदुम्बरः फलं पच्यते स्वयमेव** । दोग्धि गां पयो गोपालकः इति मूलप्रयोगः, **दुग्धे गौः पयः स्वयमेव** इति दुहिपच्योः कर्मणि ञिचः प्रतिषेधं वक्ष्यति तथा दुहेर्ञिचं विकल्पं, किरादित्वात् 'भूषार्थसन्० ।३।४।९३ इति क्यस्य च प्रतिषेधं वक्ष्यति इति ञिचः प्रयोगो न दर्शितः, दुहेश्च क्यस्यापि प्रयोगो न दर्शितः । अकर्मकस्येह पूर्वेणैव सिद्धे सकर्मकार्थं वचनम् ॥८७॥

न कर्मणा ञिच् ।३।४।८८।

पचिदुहिभ्यां कर्म्मणा योगे अनन्तरोक्ते कर्त्तरि ञिच् न स्यात् । अपक्तोदुम्बरः फलं स्वयमेव । अदुग्ध गौः पयः स्वयमेव । कर्मणेति किम् । अपाच्योदनः स्वमेव । अनन्तरोक्ते कर्त्तरीत्येव । अपाच्योदनः फलं वायुना ॥८८॥

अनन्तरोक्ते=कर्मकर्तृरूपे इत्यर्थः । अपाचि उदुम्बरः फलं वायुनेति—दुहादीनामप्रधाने कर्मणि कर्मजः प्रत्ययो भवतीति वचनात् 'उदुम्बर' इत्यत्र प्रथमा । यदर्थं क्रियाऽऽरभ्यते तत्प्रधानं कर्म । उदुम्बरो वृक्षविशेषः ॥८८॥

रुधः ।३।४।८९।

रुधोऽनन्तरोक्ते कर्त्तरि ञिच् न स्यात् । अरुद्ध गौः स्वयमेव ॥

रुधृ ्पी आवरणे ॥८९॥

स्वरदुहो वा ।३।४।९०।

स्वरान्ताद् दुहेश्चानन्तरोक्ते कर्त्तरि ञिज्वा स्यात् । अकृत, अकारि वा कटः स्वयमेव । अदुग्ध, अदोहि वा गौः स्वयमेव ॥९०॥

अकृत='धुड्ह्रस्वाल्लुग०' ।४।३।७० इति सिज्लोपः ॥९०॥

तपः कर्त्रनुतापे च ।३।४।९१।

तपेः कर्मकर्त्तरि कर्त्रयनुतापे चार्थे ञिच् न स्यात् । अन्ववातप्त वितसः स्वयमेव । अतप्त तपांसि साधुः । अन्वतप्त चैत्रेण ।

अन्ववातप्त पापः स्वकर्म्मणा । कर्त्र नुतापे चेति किम् । अतापि पृथिवी राज्ञा ॥६१॥

नन्वनेन सामान्येन सानुतापेऽननुतापे च कर्तरि कर्मकर्तरि च भविष्यति किमनुतापग्रहणेनेति चेत् **अनुतापग्रहणात् भावे कर्मणि च** भवन्ति । अनुतापः पश्चातापः, **अन्वतप्त चैत्रेण**=पश्चात्तापः कृतः इत्यर्थः । अन्ववातप्त=पश्चात्तापं कारित इत्यर्थः ॥६१॥

णिस्नुश्र्यात्यत्मनेपदाकर्म्मकात् ।३।४।६ ।

ण्यन्तात् स्नुश्रिभ्यामात्मनेपदविधायकर्मकेभ्यश्च कर्म्मकर्त्तरि ञिच् न स्यात् । अपीपचदोदनं चैत्रः । अपीपचतौदनः स्वयमेव । प्रास्नोष्ट गौः स्वयमेव । उदशिश्रियत दण्डः स्वयमेव । व्यकृत सैन्धवः स्वयमेव ॥६२॥

आत्मनेपदविधायकर्मकेभ्यः—येभ्यः कर्मण्यसति आत्मनेपदं विधीयते ते आत्मनेपदाकर्मकाः । पचति ओदनं चैत्रः तं मैत्रः प्रायुङ्क्त अपीपचदोदनं चैत्रेण मैत्रः । **अपीपचतौदनः स्वयमेव** । प्रास्नावीत् गां देवदत्तः, **प्रास्नोष्ट गौः स्वयमेव** । उदशिश्रियत् दण्डं दण्डी, उदशिश्रियत दण्डः स्वयमेव । व्यकार्षीत् सैन्धवं चैत्रः=गतिं शिक्षयति स्मेत्यर्थः, **व्यकृत सैन्धवः स्वयमेव** । विकरोतिरन्तर्भूतण्यर्थः । ञिच्प्रतिषेधात् "स्वरग्रह०" ।३।४।६९। इत्यनेन ञिट् भवत्येव । उत्तरेण पृथग्योगात् ञिटः प्रतिषेधो न भवति ॥६२॥

भूषार्थसन्किरादिभ्यश्च ञिक्यौ ।३।४।६३।

भूषार्थेभ्यः सन्नतेभ्यः किरादिभ्यो । ण्यादियश्च कर्मकर्तरि ञिक्यौ न स्याताम् । अलमकृत कन्या स्वयमेव । अलंकुरुते कन्या स्वयमेव । सन् । अचिकीर्षिष्ट, चिकीर्षते वा कटः स्वयमेव । किरादिः । अकीर्ष्ट, किरते वा पांशुः स्वयमेव । अगीर्ष्ट, गिरते

वा ग्रासः स्वयमेव । णि-कारयते कटः स्वयमेव । चोरयते गौः स्वयमेव । प्रस्नुते गौः स्वयमेव । श्रि । उच्छ्रयते दण्डः स्वयमेव । आत्मनेपदाकर्मकात् । विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव ।।९३।।

ञिरुत्सृष्टानुबन्धो ञिच्ञिटोर्ग्रहणार्थः । अलमकार्षीत् कन्यां चैत्रः, **अलमकृत कन्या स्वयमेव** । एवं अलंकुरुते कन्या स्वयमेव । अचिकीर्षीत्, चिकीर्षति वा कटं चैत्रः, **अचिकीर्षिष्ट चिकीर्षते वा कटः स्वयमेव** । अकारीत्कृणाति वा पांसुं करिः, **अकीर्ष्ट किरते वा पांसुः स्वयमेव** । आगारीत् गृणाति वा ग्रासं चैत्रः, **अगीर्ष्ट गिरते वा ग्रासः स्वयमेव** । कृ, गृ, दुह्, त्रू, ग्रन्थ्, नम् इति किरादयः । बहुवचनं शिष्टप्रयोगानुसरणार्थम् । णिस्नुश्र्यात्मनेपदाकर्मकाणां ञिच्प्रतिषेधः पूर्वसूत्रे उदाहृतः, "स्वरग्रह० ।।३।४।६९। इति विहितः ञिट् त्वेषां भवत्येव । क्यनिषेधः **कारयते** इत्यादिना उदाह्रियते।।९३।।

करणक्रियया क्वचित् ।३।४।९४।

एकधातौ पूर्वदृष्टया करणस्थया क्रियया एकाकर्मक्रिये कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि स्युः क्वचित् । परिवारयन्ते कण्टका वृक्षं स्वयमेव । क्वचिदिति किम् ? साध्वसिश्छिनत्ति ।।९४।।

क्वचिद्ग्रहणात् सकर्मकत्वेपि भवति । परिवारयन्ति कण्टकैः पुरुषा वृक्षम्-**परिवारयन्ते कण्टका वृक्षं स्वयमेव** । साध्वसिश्छिनत्ति-क्वचिदित्युक्त्याऽकर्मकत्वेऽप्युदाहृतम् ।।९४।।

।। इति तृतीयोऽध्यायः ।।

पं० वीरविजयजी महाराज ने भादरवा सुद पंचमी पर्वरूप नहीं है ऐसा पर्युषण के चैत्यवंदन में कहा है, देखो चैत्यवंदन की गाथा—

"नहि ए पर्वो पंचमी, सर्व समाणी चौथे,
भवभीरु मुनि मानशे, भाख्युं अरिहानाथे ।।

अर्थ—भादरवा सुदी पंचमी पर्व नहीं है क्योंकि कालिकसूरि ने पंचमी की चोथ की उस दिन से चोथ में सम्पूर्ण पंचमी आ गई है, यह बात जिसके दिल में भव का भय होगा वे मुनिवर मान्य करेंगे ऐसा अरिहंत प्रभु ने कहा है।

द्विर्धातुः परोक्षाङे प्राक् स्वरे स्वरविधेः ।४।१।१।

परोक्षायां ङे च परे धातुर्द्विः स्यात्, स्वरादौ तु द्वित्वनिमित्ते स्वरस्य कार्यात् प्रागेव । पपाच । धातुरिति किम् ? प्राशिश्रियत् । प्रागिति किम् ? चक्रतुः । स्वर इति किम् ? जेघ्रीयते । स्वरविधेरिति किम् ? शुशाव । प्राक् स्वरे स्वरविधेरिति आद्विर्वचनमधिकारः ।१।।

गुणरत्नावृत्तिः-पपाचेत्यत्र पुनरपि द्विर्वचनं न भवति, द्विरिति वचनात् । शुशावेत्यत्र स्वरव्यञ्जनयोरुभययोरपि कार्यमुपस्थितंटवृत् पश्चात् शु इति द्विवर्चनम् । प्राक्तु स्वरे स्वरविधेरिति आद्विर्वचनमधिकार अन्यथा हि आटिटत् इत्यादि न सिध्यति पूर्वं टिरति द्वित्वम्, पश्चाणू, णेर्लोपः ॥१॥

आद्योऽश एकस्वरः ।४।१।२।

अनेकस्वरस्य धातोराद्य एकस्वरोऽवयवः परोक्षाङे प्रत्यये द्विर्भवति । जजागार, अचीकणत्, अचकाणत्, अचीकरत् ॥२॥

एकस्वरस्यैकस्वरेंशे द्विरुक्ते न किञ्चिदस्य फलमिति यद्वा एकस्वर इति सम्बन्धिशब्दः सामर्थ्यादनेकस्वरं धातुमाक्षिपतीत्याह-अनेकस्वरस्येति- । पूर्णेण सर्वस्य द्वित्वे प्राप्ते वचनम् ॥२॥

सन्यङश्च ।४।१।३।

सन्नन्तस्य यङन्तस्य चाद्य एकस्वरोंऽशो द्विः स्यात् । तितिक्षते । पापच्यते ॥३॥

नन्वत्र सनि यङि च निमित्तभूते एकस्वरस्य द्वित्वमिति सप्तमी कथं नादायीति चेत्सत्यम् षष्ठीनिर्देशः उत्तरार्थः तेनोत्तरेण प्रतीषिषतीत्यादि सिद्धम् । चकारः पूर्वोक्तनिमित्तसमुच्चयार्थं उत्तरार्थ एव तेनोत्तरत्र परोक्षाङे सन्नन्तयङन्तानां च यथासंभवं द्वित्वं सिध्यति । तिजि क्षमानिशानयोः 'गुप्तिजो०' "३।४।५। इति सन् ॥३॥

स्वरादेर्द्वितीयः ।४।३॥४

स्वरादेर्व्युक्तिभाजो द्वितीयोंऽश एकस्वरो द्विः स्यात् । अटिटिषति । अशाश्यते । प्राक्तु स्वरे स्वरविधेरित्येव । आटिटत् ॥४॥

आटिटत् इत्यत्र पूर्व द्वित्वं पश्चात् णेर्लुक् "णिश्रि०' ।३।४।५८। इति ङप्रत्ययः ॥४॥

न बदनं संयोगादिः ।४।१।५।

स्वरादेर्धातोर्द्वितीयस्यांशस्यैकस्वरस्य बदनाः संयोगास्याद्या न द्विः स्युः । उब्जिजिषति । अट्टिटिषति । उन्दिदिषति । संयोगादिरिति किम् ? प्राणिणिषति ॥५॥

संयोगादिः—"उपसर्गाद्दः किः ५।३।८७। इति ॥५॥

अयि रः ।४।१।६।

स्वरादेर्धातोर्द्वितीयस्यांशस्यैकस्वरस्य संयोगादौ रो द्विर्न स्यात् । न तु रादनन्तरे यि । अर्चिचिषति । अयीति किम् । अरार्यते ॥६॥

अनन्तरे—"सप्तम्याः पूर्वस्य" ।७।४।१०५। तच्चानन्तर्यस्यैवेति । अरार्यते

'क्य-यङा-शीर्ये ।४।३।१०। इति गुणः ॥६॥

नाम्नो द्वितीयाद् यथेष्टम् ।४।४।७।

स्वरादेर्नामधातोरन्यस्य द्वित्वभाजः द्वितीयादारभ्यैकस्वरोंऽशो यथेष्टं द्विः स्तात् । अशिश्व'यिषति । अश्वीयियियिषति । अश्वीयियिषति ॥७॥

द्वितीयादिति—'गम्ययपः ।२।२।७४। इति पञ्चमी । **यथेष्टम्**—यो यः इष्टः 'योग्यतावीप्सा० ।३।१।४० इत्यव्ययीभावः । अश्वमिच्छतीति 'अमाव्ययात् क्यन्' ।३।४।२३। इति क्यन् 'क्यनि' ।४।३।११२। सूत्रेण ईकारः, अश्वीयितुमिच्छतीति=**अशिश्वीयिषतीत्यादि** ॥७॥

अन्यस्य ।४।१।८।

स्वरादेर्नामधातोरन्यस्य द्वित्वभाजः एकस्वरोंशो यथेष्टं प्रथमादिर्द्विः स्यात् । पुपुत्रीयिषति । पुतित्रीयिषति । पुत्रीयियिषति । पुत्रीयियिषति ॥८॥

पुत्रमिच्छतीति पुत्रीयति पुत्रीयितुमिच्छतीति सनि **पुपुत्रीयिषतीत्यादि ।** द्वितीयादित्यधिकारो नेष्ट इति प्रथमादिरित्युक्तम् ॥८॥

कण्ड्वादेस्तृतीयः ।४।१।९।

कण्ड्वादेर्द्वित्वभाज एकस्वरोंऽशस्तृतीय एव द्विः स्यात् । कण्डूयियिषति । असूयियिषति ॥९॥

कण्डूग् गात्रविघर्षणे इति 'धातोः कण्ड्वादेर्यक् ।३।४।८। इति कण्डूयितुमिच्छति ॥९॥

पुनरेकेषाम् ।४।१।१०।

एकेषां मते द्वित्वे कृते पुनर्द्वित्वं स्यात् । सुसोषुपिषते । एकेषामिति किम् ? सोषुपिषते ।।१०।।

सुसोषुपिषते—भृशार्थे यङ् 'स्वपेर्यङ्ङे च ।४।१।८०। इति टवृद्, द्वित्वं, सोषुपितुमिच्छतीति सन् 'अतः ।४।३।८२। इत्यनेन अकारलोपात् 'स्वश्स्य परे० ।७।४।११०। इति स्थानित्वाभावे 'योऽशिति ।४।३।८०। इति यो लुक् सिद्धः ।।१०।।

यिः सन्वेर्ष्यः ।४।१।११।

ईर्ष्योद्वित्वभाजो यिः न वा द्विः स्यात् । ईर्ष्यियिषति । ईर्ष्यिषिषति ।।११।।

ईर्ष्य ईर्ष्यार्थः भ्वादिः ।।११।।

ह्वः शिति ।४।१।१२।

जुहोत्यादयः शिति द्विः स्युः । जुहोति ।।१२।।

बहुवचनं जुहोत्यादिगणपरिग्रहार्थम् । हुंक् दानादनयोः इत्यादयः विष्लृंकी व्याप्तौ इतिपर्यन्ताः १४ धातवो जुहोत्यादिगणे ज्ञातव्याः ।।१२।।

चराचरचलाचलपतापतवदावदघनाघनपाटूपटं वा ।४।१।१३।

एतेऽचि कृतद्वित्वादयो वा निपात्यन्ते । चराचरः । चलाचलः । पतापतः । वदावदः । पाटूपटः । पक्षे । चरः । चलः । पतः ।

वदः । हनः । पटः ॥१३॥

चरिचलिपतिवदिहन्तीनामजन्तानां द्वित्वं हन्तेर्हस्य घत्वं पूर्वस्य च दीर्घत्वम् सर्वं निपातनात् भवति । चरतीति चराचरः एवं चलति, पतति, वदति, हन्ति इति **घनाघनः** इत्यत्र प्रथमस्य निपातनात् घत्वं द्वितीयस्य तु 'अङे हिहनो० ।४।१।३४। इति सिद्धमेव । णिगन्तपाटयतेरजन्तस्य द्वित्वं, ह्रस्वत्वं, पूर्वस्य च ऊकारान्तता निपात्यते ॥१३॥

चिक्लिदचक्नसम् ।४।१।१४।

एतौ केऽचि च कृतद्वित्वौ निपात्येते । चिक्लिदः । चक्नसः ॥१४॥

क्लिदौच् आर्द्रभावे क्लिद्यतीति 'नाम्युपान्त्य० ।५।१।५४। इति के क्नसूच् ह्वृतिदीप्त्योः क्नस्यतीति अचि अथवा क्लेदनं क्नसनं वेति घञर्थे 'स्थादिभ्यः कः' ।५।३।८२। इति सूत्रेण कप्रत्यये निपातनादुभयत्र द्विर्वचनम् 'कङश्चञ्' ।४।१।४६। इति ककारस्य चकारः ॥१४॥

दास्वत्साह्वन्मीढ्वत् ४।१।१५।

एते क्वसावद्वित्वादयो निपात्यन्ते। दास्वांसौ । साह्वांसौ । मीढ्वांसौ ॥१५॥

दाशृग् दाने इत्यस्य क्वसावद्वित्वमनिट्त्वं च निपात्यते। षहि मर्षणे इत्यस्य आत्मनेपदित्वात्कानप्राप्तावपि परस्मैपदिक्वसुः, अद्वित्वम्, उपान्त्यदीर्घत्वम्, अनिट्त्वं च निपात्यते। षहण् मर्षणे इत्यस्य तु न निपातनमिष्टिवशात् । मिह सेचने इत्यस्याप्यद्वित्वमनिट्त्वमुपान्त्यदीर्घत्वं ढत्वं च निपात्यते ॥१५॥

ज्ञप्यापो ज्ञीपीप् न च द्विः सिसनि ।४।१।१५।

ज्ञपेरापेश्च सादौ सनि परे यथासंख्यं ज्ञपीपी स्यातां न चाभ्यो-रेकस्वरोंऽशो द्विः स्यात् । ज्ञीप्सति । ईप्सति । सीति किम् ? जिज्ञपयिषति ॥१६॥

ज्ञीप्सति—ज्ञाश् जानन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् "अर्तिरी० ।४।२।२१। इति पोऽन्तः, 'मारणतोषण० ।४।२।३०। इति ह्रस्वत्वम् । जिज्ञपयिषति सूत्रात् ज्ञपयितु-मिच्छतीति सन् । ईप्सति— 'आप्लृंट् व्याप्तौ' इति गृह्यते, आप्लृण् लम्भने इत्यस्य णिजभावेऽपि नित्यमिटि सादिस्सन् नास्ति ॥१६॥

ऋध ईत् ।४।१।१७।

ऋधः सादौ सनि परे ईत् स्यात् न चास्य द्विः । ईर्त्सति । सीत्येव—अर्दिधिषति ॥१७॥

ऋधंच् वृद्धौ दिवादिः ऋधंट् वृद्धौ स्वादिः उभौ गृह्येते 'ऋध इति सामान्यनिर्देशात् 'धातुसन्विचाले' इवृधभ्रस्जदम्भ०' ।४।४।४७। इति विकल्पेनेट् ॥१७॥

दम्भो धिप्धीप् ।४।१।१८।

दम्भः सि सनि धिप्धीपौ स्यातां नचास्य द्विः धिप्सति, धीप्सति । सीत्येव-दिदम्भिषति ॥१८॥

इवृधभ्रस्जदम्भ० ।४।४।४७। इति विकल्पेनेट् ॥१८॥

अव्याप्यस्य मुचेर्मोग्वा ।४।१।१९।

मुचेरकर्मणः सि सिन मोग्वा स्यान्नचास्य द्विः । मोक्षति । मुमुक्षति चैत्रः । अव्याप्यस्येति किम् ? मुमुक्षति वत्सम् ॥१९॥

न विद्यते व्याप्यं यस्य तस्य ॥१९॥

मिमीमादामित्स्वरस्य ।४।१।२०।

मिमीमादासंज्ञानां स्वरस्य सि सनि इत् स्यान्न च द्विः । मित्सति । मित्सते । मित्सते । दित्सति । धित्सति ॥२०॥

मि-मी-मा-दामिति—डुमिगृट् प्रक्षेपणे 'मिग्मीगोऽखल०' ।४।२।८ इत्यात्वे माद्वारेणैव सिध्यति किं मिग्रहणेनेति चेत्सत्यं 'नामिनोऽनिट्' ।४।३।३३। इति सनः कित्त्वादात्वं न प्राप्नोति । **मीति**—मीङ्च्, मींग्श्, मीण् इत्येतेषां ग्रहणम्, **मेति** मांमाङ्क्मेङां, ग्रहणम् दासंज्ञया "दांदेङ्डुदाग्क्दोंच् ट्धे" इति गृह्यन्ते । बहुवचनं व्याप्त्यर्थं तेन 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इति नाश्रीयते ॥२०॥

रभलभशकपतपदामिः ।४।१।२१।

एषां स्वरस्य सि सनि इः स्यान्न च द्विः । आरिप्सते । लिप्सते । शिक्षति । पित्सति । पित्सते । सीत्येव—पिपतिषति ॥२१॥

बहुवचनं शकींग्शक्लृं टोरुभयोरपि ग्रहणार्थमन्यथा निरनुबन्धत्वात् दैवादिकस्यैव ग्रहणं स्यात् । **पिपतिषति**—'इवृध०' ।४।४।४७। इति वेट् ॥२१॥

राधेर्वधे ।४।१।२२।

राधेर्हिंसार्थस्य सि सनि स्वरस्य इः स्यान्न च द्विः । प्रतिरात्सु-मिच्छति । आङ्पूर्वो राध् अराधनार्थे वर्तते ॥२२॥

राधंच् वृद्धौ प्रतिरात्सुमिच्छति । आङ्पूर्वो राध आराधनार्थे वर्तते ॥२२॥

आवित्परोक्षासेट्थवोरेः ।४।१।२३।

राधेर्हिंसार्थस्यावित्ति परोक्षायां थवि च सेटि स्वरस्य एः स्यान्न च द्विः । रेधुः । रेधिथ । अविदिति किम् ? अपरराध । वध इत्येव—आरराधतुः ।।२३।।

रेधिथ—'स्क्रसृवृभृस्तु० ।४।४।८१। इत्यनेन इट् ।

अनादेशादेकव्यञ्जनमध्येऽतः ।४।१।२४।

अवित्परोक्षासेट्थवोः परयोर्योऽनादेशादिस्तत्सम्बन्धिनः स्वरस्यातोऽसहायव्यञ्जनयोर्मध्यगतस्यैः स्यान्न च द्विः । पेचुः । पेचिथ । नेमुः, नेमिथ । अनादेशादेररिति किम् ? बभणतुः । एकव्यञ्जनमध्य इति किम् ? ततक्षिथ । अत इति किम् ? दिदिवतुः । सेट्थवोरित्येव-पपक्थ ।।२४।।

यस्यधातोः परोक्षादिनिमित्तमाश्रित्याभ्यासे वर्णविकारः क्रियते स आदेशादिर्धातुरुच्यते । यथा बभणतुः । यस्य तु परोक्षादिनिमित्तेऽपि आदेशो न स्यात् स अनादेशादिर्धातुः । यथा पेचुः, नेमुः । एके असहाये च ते व्यञ्जने च इति एकव्यञ्जने, तयोर्मध्यम् एकव्यञ्जनमध्यम्, तस्मिन्—केवलयोः, न संयोगाक्षरयोरित्यर्थः । नेमुः—अत्र 'णम्' धातोः नत्वविधिः अनिमित्तः, न तु परोक्षाथविनिमित्तकः ।

तॄत्रपफलभजाम् ।४।१।२५

एषामवित्परोक्षासेट्थवोः स्वरस्यैः स्यान्न च द्विः । तेरुः । तेरिथ । त्रेपे । फेलुः । फेलिथ । भेजुः । भेजिथ ।।२५।।

तरतेरतो गुणरूपत्वात् 'न शस-दद० ।४।१।३०। इत्येन गुणवतां धातूनामेत्व-

निषेधात् त्रपेरनेकव्यञ्जनमध्यगतत्वात् फलभजोरादेशादित्वाच्च पूर्वसूत्रेण न प्राप्नोतीति वचनम् । बहुवचनं फल त्रिफला (फल निष्पत्तौ, त्रिफला विशरणे) इत्यु-भयवोरपि ग्रहणार्थमन्यथा 'निरनुबन्धग्रहणे न०' इति न्यायेन 'त्रिफला' इत्यस्य ग्रहणं न स्यात् । तेरुः—प्राक् तु स्वरे इति भणनात्पूर्वं द्वित्वे 'स्कृच्छृतोऽ कि' ।४।३।८ इति गुणे ऽस्य एत्वे, न च द्विरिति वचनात्कृतमपि द्वित्वं निवर्तते, एवं जॄधातोरपि ज्ञेयम् ॥२५॥

जॄभ्रमवमत्रसफणस्यमस्वनराजभ्राजभ्रासभ्लासो वा ।४।१।२६।

एषां स्वरस्यावित्परोक्षासेट्थवोरेर्वा स्यान्न च द्विः । जेरुः, जजरुः । जेरिथ, जजरिथ, । भ्रेमुः, बभ्रमुः । भ्रेमिथ, बभ्रमिथ । वेमुः, ववमुः । वेमिथ, ववमिथ । त्रेसुः, तत्रसुः । त्रेसिथ, तत्रसिथ । फेणुः, पफणुः । फेणिथः, पफणिथ । स्येमुः, सस्यमुः । स्येमिथ, सस्यमिथ । स्वेनुः । सस्वनुः । स्वेनिथ, सस्वनिथ । रेजुः रराजुः । रेजिथ, रराजिथ । भ्रेजे, बभ्राजे । भ्रेसे, बभ्रासे । भ्लेसे, बभ्लासे ॥२६॥

जेरुः—"स्कृच्छृतोऽ कि परोक्षायाम् ।४।३।८। सूत्रेणात्र गुणः । राज-सहचरितभ्राजेरेव ग्रहणम् ॥२६॥

वा श्रन्थग्रन्थो नलुक् च ।४।१।२७।

अनयोः स्वरस्यावित्परोक्षासेट्थवोरेर्वा नद्योगे च नोलुक् न च द्विः । श्रेथुः, शश्रन्थुः । श्रेथिथ, शश्रन्थिथ । ग्रेथुः, जग्रन्थुः । ग्रेथिथ, जग्रन्थिथ ॥२७॥

'श्रन्थग्रन्थ' इत्युक्तत्वात् (श्रन्थश् मोचनप्रतिहर्षयोः, ग्रन्थश् संदर्भे)

श्रन्थग्रन्थधातू क्र्यादिकौ ग्राह्यौ। 'श्रथुङ् शैथिल्ये, ग्रथूङ् कौटिल्ये' इत्यनयोर्न ग्रहणम् 'उदितः स्वरान्नोन्तः।४।४।९८। इत्यनेन नोऽन्ते लाक्षणिकत्वात् न एत्वम्। प्रकृतिप्रत्यययोर्वचनभेदान्न यथासंख्यम् ॥२७॥

दम्भः ।४।१।२८।

दम्भेः स्वरस्याबित्परोक्षायामेः स्यात् न च द्विस्तद्योगे च नो लुक्। देभुः ॥२८॥

णवो त्रित्वात् ददम्भ इत्यत्र न भवति ॥२८॥

थेवा ।४।१।२९।

दम्भेः स्वरस्य थव्येर्वा स्यात्तद्योगे च नो लुक्, न च द्विः। देभिथ, ददम्भिथ ॥२९॥

वर्तमानाथप्रत्यये श्नुना व्यवधानात्प्राप्त्यभाव इति परोक्षाया एव थप्रत्ययग्रहणम् ॥२९॥

न शसददवादिगुणिनः ।४।१।३०।

शसिदद्योर्वादीनां गुणिनां च स्वरस्यैर्न स्यात्। विशशसुः। विशशसिथ। ददे। ववले। विशशरुः। विशशरिथ ॥३०॥

शसू हिंसायाम् ददि दाने, वलि संवरणे, शॄ शॄ हिंसायाम् 'स्कृच्छ्ृतोऽकि परोक्षायाम् ।४।३।८। इति गुणः ॥३१॥

हौ दः ।४।१।३१।

दासंज्ञस्य हौ परे एः स्यान्न च द्विः। देहि। धेहि ॥३१॥

न च द्विरिति वचनात्कृतमपि द्वित्वं निवर्तते तेन यङ्लुप्यपि देहीति भवति। यद्यपि प्रत्यासत्तेर्न्यायात् यस्मिन्नेव प्रत्यये एत्वं द्वित्वं च प्राप्तं तस्मिन्नेव प्रत्यये न च द्विरिति प्रवर्तते तथापि न च द्विरित्यस्य व्यक्त्या प्रवर्तनात्, यङ्लुप्यपि देहीति भवति ॥३१॥

देर्दिगिः परोक्षायाम् ।४।१।३२।

देङः परोक्षायां दिगि स्यान्न च द्विः । दिग्ये ॥३२॥

देङ् पालने 'योऽनेकस्वरस्य' ।२।१।५६। सूत्रेणेकारस्य स्थाने 'य्'आदेशः।३२।

ङे पिबः पीप्य् ।४।१।३३।

ण्यन्तस्य पिबतेर्ङे परे पीप्य् स्यात् । न च द्विः । अपीप्यत् ॥३३॥

पिबत्येकदेशपिबिति निर्देशात् पातेर्न भवति । लुप्ततिब्निर्देशात् यङ्लुपि न भवति ॥३३॥

अङे हिहनो हो घः पूर्वात् ।४।१।३४।

हिहनोङवर्जे प्रत्यये परे द्वित्वे सति पूर्वस्मात्परस्य हो घः स्यात् प्रजिघाय । जंघन्यते । अङे इति किम् ? प्राजीहयत् ॥३४॥

पूर्वादिति वचनात् 'न च द्विः' इति निवृत्तम् जंघन्यते—कुटिलं हन्ति 'गत्यर्थात्०।३।४।११। इति यङ्, यदि हिंसार्थस्तदा 'हनो घ्नीर्वधे' ।४।३।९९। इति स्यात् प्राजीहयत्—प्र+अ+हि+ङ्+त् ॥३४॥

जेर्गिः सन्परोक्षयोः ।४।१।३५।

सन्परोक्षयोर्द्वित्वे सति पूर्वात्परस्य जेर्गिः स्यात् । जिगीषति । विजिग्ये ॥३५॥

जि अभिभवे । यदि पूर्वादित्यधिकारः स्यात्तदा द्वित्वसहितस्यापि आदेशः स्यात् अथवा द्वित्वे पूर्वस्य स्यात् ॥३५॥

चेः किर्वा ।४।१।३६।

सन्परोक्षयोर्द्वित्वे सति पूर्वस्मात्परस्य चेः किर्वा स्यात् । चिकीषति । चिचीषति । चिक्ये चिच्ये ॥३६॥

स्वरहन० ।४।१।१०४। इति दीर्घत्वे, द्वित्वे किरूपादेशे पुनः 'स्वरहन० ।४।१।१०४। इति दीर्घत्वं 'यावत्संभवः ० इति न्यायात् ॥३६॥

पूर्वस्यास्वे स्वरे य्वोरियुव् ।४।१।३७।

द्वित्वे सति यः पूर्वस्तत्सम्बन्धिनोरिवर्णोवर्णयोरस्वे परे इयुवौ स्याताम् । इयेष । अरियर्ति । उवोष । अस्व इति किम् ? ईषतुः । स्वर इति किम् ? इयाज ॥३७॥

इयेष—'अस्वे स्वरे' इति भणनात् गुणे कृते इयादेशः । ननु तथापि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायेन गुणस्यासिद्धत्वान्न प्राप्नोतीति चेन्मैवं 'न स्वरानन्तर्ये' इति न्यायादयं न्यायो नोपतिष्ठते । **अरियर्ति**—अर्तेर्यङ्लुपि द्वित्वम्, 'रिरौ च लुपि ।४।१।५६। सूत्रेण "रिः" इवर्णस्य इयादेशश्च ॥३७॥

ऋतोऽत् ।४।१।३८।

द्वित्वे सति पूर्वस्य ऋतोऽत् स्यात् । चकार ॥३८॥

चकारेत्यत्र 'कङश्चञ्' ।४।१।४६। इति चत्वम् ॥३८॥

ह्रस्वः ।४।१।३९।

द्वित्वे सति पूर्वस्य ह्रस्वः स्यात् पपौ ॥३९॥

पपौ—'आतो णव औः ।४।२।२०। इति णव औरादेशः ॥३९॥

गहोर्जः ।४।१।४०।

द्वित्वे सति पूर्वयोर्गहोर्जः स्यात् । जगाम । जहास । ॥४०॥

जगामेत्यत्र—णवो णित्त्वात् वृद्धिः ॥४०॥

द्युतेरिः ।४।१।४१।

द्युतेर्द्वित्वे सति पूर्वस्य इः स्यात् । दिद्युते ॥४१॥

'दिद्युते' इत्यत्र यकारस्य 'व्यञ्जनस्यानादेर्लुक् ।४।१।४४ इति लुक् ॥४१॥

द्वितीयतुर्ययोः पूर्वौ ।४।१।४२।

द्वित्वे पूर्वयोर्द्वितीयतुर्ययोर्यथासङ्ख्यं पूर्वावाद्यतृतीयौ स्याताम् चखान । जझाम ॥४२॥

द्वितीयतुर्ययोरिति कथनाभावे पपाचेत्यत्रापि सामीप्यात् पूर्वो नकारः स्यात् ॥४२॥

तिर्वा ष्ठिवः ।४।१।४३।

ष्ठिवेर्द्विवत्वे सति पूर्वस्य तिर्वा स्यात् । स्यात् । तिष्ठेव, तिष्ठेव ॥४३॥

'ष्ठिवू निरसने' इति भ्वादिः, ष्ठिवू निरसने इति दिवादिः द्वयोरपि ग्रहणम् । तेरिकारोऽत्रोच्चारणार्थः तेन इवृध० ।४।४।४७। इत्यादिना वेटि तुष्ठ्यूषति, टुष्ठ्यूषति । 'अनुनासिके च० ।४।१।१०८। इति सूत्रेण वकारस्य ऊट् । पूर्वस्येति-आदेशविधानमेव ज्ञापयति ष्ठिवेः षकारः ठकारपरः, ष्ठाष्टर्च प्रभृतीनां तु तवर्गपरः तेन तस्थौ, तस्टचौ इत्यादि भवति । अन्यथा 'अघोषे शिटः ।४।१।४५ इति षलोपे 'निमित्ताभावे०' । इति न्यायेन तस्य थे "द्वितीयतुर्ययोः०" ।४।१।४२ इति थकारस्य च ते सिद्ध एव । पक्षे टकारविधानार्थं तु टिर्वा ष्ठिवः इति सूत्रं कुर्यादित्यर्थः'तस्टचौ' इत्यत्र ष्टर्च धातोः "आत्सन्ध्यक्षरस्य ।४।२।१ सूत्रादा-त्वे 'ष्टचा' इति ॥४३॥

व्यञ्जनस्यानादेर्लुक् ।४।१।४४।

द्विवत्वे पूर्वस्य व्यञ्जनस्यानादेर्लुक् स्यात् । जग्ले । अनादेरिति किम् ? आदेर्मा भूत् । पपाच ॥४४॥

अभ्याससत्कान्यव्यञ्जनस्य लुक् न तु पूर्वव्यञ्जनस्येति भावः ॥४४॥

अघोषे शिटः ।४।१।४५।

द्विवत्वे पूर्वस्य शिटस्तत्सम्बन्धिन्येवाघोषे लुक् स्यात् । चुश्च्योत । अघोष इति किम् ? सस्नौ ॥४५॥

अनादिलुगपवादोऽयम् ॥४५॥

कङश्चञ् ।४।१।४६।

द्विवत्वे पूर्वयोः कङोर्यथासंख्यं चञौ स्याताम् । चकार । जुङ्गे ॥४६॥

ङुङ् शब्दे भ्वादिधातुः ङित्वादात्मनेपदम् ॥४६॥

न कवतेर्यङः ।४।१।४७।

यङन्तस्य कवतेर्द्वित्वे सति पूर्वस्य कश्चो न स्यात् । कोकूयते खरः । कवतेरिति किम् ? कौतिकुवत्योर्मा भूत् । चोकूयते । यङः इति किम् ? चुकुवे ॥४७॥

कवतेरिति शब्निर्देशात् कुङ्शब्दे भ्वादिरेव गृह्यते । **कौतिकुवत्योः**–कुङ् शब्दे अदादिः, कुङ् शब्दे तुदादिः अनयोः पूर्वस्य चकारो भवत्येव । **चोकूयते**–कौतिकुवत्योः प्रयोगोऽयम् । कवतिरव्यक्ते शब्दे, कुवतिरार्त्तस्वरे, कौतिः शब्दमात्रे । एषां पाठे शब्दमात्रार्थत्वेऽपि गत्यर्थत्वाविशेषे धावति-गच्छत्यादीनामिवार्थभेदः । यङ्लुपि च निषेधो न भवति,- चोकवीति ॥४७॥

आगुणावन्यादेः ।४।१।४८।

यङन्तस्य द्वित्वे पूर्वस्य न्याद्यागमवर्जस्य आगुणौ स्याताम् । पापच्यते । लोलूयते । अन्यादेरिति किम् ? दनीवच्यते । जञ्ज-प्यते । यंयम्यते ॥४८॥

एतावत्राकारगुणौ न यङ्निमित्ताविति पापचीतीत्यादौ यङ्लुप्यपि भवतः । **अन्यादेः**-न भविष्यन्ति न्यादयो यस्य सोऽन्यादिस्तस्य । न्यादीनामन्तस्य तु विधानसामर्थ्यान्न भवति । ननु अत्रापवादत्वान्न्यादय एव बाधकाभविष्यन्ति किं न्यादिवर्जनेनेति चेत्सत्यम् द्वित्वे सति पूर्वस्य विकारेषु बाधको न बाधक इति ख्यापनार्थम् तेन 'अचीकरद्' इत्यत्र सन्वद्भावस्य 'लघोर्दीर्घोऽस्व-रादेः' ।४।१।६४ इति सूत्रं न बाधते, अन्यथा परत्वादपवादत्वाच्च पूर्वं लघोर्दीर्घो० ।४।१।६४ इति प्रवर्तेत, ततः 'अचाकरत्' इति प्रयोगः स्यात् 'अचीकरद्' इति इष्टश्च ॥४८॥

न हाको लुपि ।४।१।४९।

हाको द्वित्वे पूर्वस्य यङो लुप्या न स्यात् । जहेति ।।४९।।

"ओहांक् त्यागे" इत्यस्य यङ्लोपानन्तरं "यङ्—तुरुस्तोर्बहुलम् ।४।३।६४। इत्यनेन धातोः परत ईति 'अवर्णस्ये'० ।१।२।६। इत्यनेन एत्वे च जहेति ॥ ४९ ॥

वञ्चस्रंसध्वंसभ्रंसकसपतपदस्कन्दोऽन्तो नीः । ।४।१।५०

एषां यङन्तानां द्वित्वे पूर्वस्य नीरन्तः । वनीवच्यते । सनीस्रस्यते । दनीध्वस्यते । बनीभ्रस्यते । चनीकस्यते । पनीपत्यते । पनीपद्यते । चनीस्कद्यते ।।५०।।

द्युतादिध्वंससाहचर्यात् स्रंसूङ् अवस्रंसने इत्यस्यैव द्युतादिध्वंसो ग्रहः, स्रंसुङ् प्रमादे इत्यस्य तु सास्रस्यते इति भवति । भ्रंशिरपि भ्रंशूङ् अवस्रंसने इति भ्वादिरेव गृह्यते भ्वादिध्वंससाहचर्यात् । भ्रंशूच् इत्यस्य तु बाभ्रश्यते इत्येव ।।५०।।

मुरतोऽनुनासिकस्य ।४।१।५१।

आत्परो योऽनुनासिकस्तदन्तस्य यङन्तस्य द्विवत्वे पूर्वस्य मुरन्तः स्यात् । बम्भण्यते । अत इति किम् । तेतिम्यते । अनुनासिकस्येति किम् । पापच्यते ।।५१।।

ये त्वनुनासिकान्तस्य धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्याऽत इति विशेषणं मन्यन्ते तन्मते भामि क्रोधे इत्यस्य बंभाम्यते । तन्मतसंग्रहायातः इति षष्ठी व्याख्येया । स्वमते तु आत्परस्यानुनासिकस्याभावात् बाभाम्यते इति । ॥ ५१ ॥

जपजभदहदशभञ्जपशः ।४।१।५२।

एषां यङन्तानां द्वित्वे पूर्वस्य मुरन्तः स्यात् । जञ्जप्यते । जञ्जभ्यते । दन्दह्यते । दन्दश्यते । बम्भज्यते । पम्पश्यते । ॥ ५२ ॥

पम्पश्यते—पशिति सौत्रो धातुः दशिति लुप्तनकारनिर्देशाद् यङो लुप्यपि दंशेर्नलोपो भवति । 'गृलुप० ।३।४।१२। इत्यत्रापि ज्ञापितं, परं 'द्विर्बद्धं सुबद्धं०" भवतीति न्यायेन अत्रापि ज्ञापितम् । जंजपीति, जंजभीति दंदहीति, दंदशीति, बम्भञ्जीति, पंपशीति यङ्लुपि एतानि रूपाणि भवन्ति । 'आगमशासनमनित्यमिति न्यायात् जंजभीतीत्यत्र 'जभः स्वरे ।४।४।१००। इति नागमाभावः ॥५२॥

चरफलाम् ।४।१।५३।

एषां यङन्तानां द्वित्वे पूर्वस्य मुरन्तः स्यात् । चञ्चूर्यते । पम्फुल्यते ॥५३॥

बहुवचनं फलनिष्पत्तौ, त्रिफला विशरणे इति द्वयोः परिग्रहार्थम् । अन्यथा 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' इति न्यायात् त्रिफला इत्यस्य ग्रहणं न स्यात् ॥५३॥

ति चोपान्त्यातोऽनोदुः ।४।१।५४।

यङन्तानां चरफलां तादौ च प्रत्यये उपान्त्यस्यात उः स्यान्नच तस्यौत् । चञ्चूर्यते । पम्फुल्यते । चूर्त्तिः । प्रफुल्लिः । अत किम् । चञ्चार्यते । पम्फाल्यते । अनोदिति किम् । चंचूर्त्तिः । पम्फुल्लिः ॥५४॥

वृत्तिः—"श्यादिभ्यः" ।५।३।८२। इति क्तिः **चञ्चार्थते**—चरन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् वृद्धिः चारयतीति क्विप् 'णेरनिटि' ।४।३।८३। चारिवाचरति 'कर्तुः क्विप्०' ।३।४।२५। गर्हितं चारतीति 'एकदेशविकृतमनन्यवदिति न्यायात् 'गृलुप०' ।३।४।१२। इति यङ् । एवं पम्फाल्यते ॥५४॥

ऋमतां रीः ।४।१।५५।

ऋमतां यङन्तानां द्वित्वे पूर्वस्य रीरन्तः स्यात् नरीनृत्यते ॥५५॥

बहुवचननिर्देशो लाक्षणिकपरिग्रहार्थः तेन प्रच्छि-व्रश्चि-ग्रहीणामृकारे कृते ऋमत्त्वात्तेषामपि ग्रहणम् ॥५५॥

रिरौ च लुपि ।४।१।५६।

ऋमतां यङो लुपि द्वित्वे पूर्वस्य रिरौ रीश्चान्तः स्यात् । चरिकर्ति, चर्कर्ति, चरीकर्ति ॥५६॥

चरीकर्ति—'यङ्तुरुस्तो०' ।४।३।६४। इत्यनेन ईत् ॥५६॥

निजां शित्येत् ।४।१।५७।

निजिविजिविषां शिति द्वित्वे पूर्वस्यैत्स्यात् नेनेक्ति, वेवेक्ति, वेवेष्टि । शितीति किम् ? निनेज ॥५७॥

निजामिति बहुवचनेन णिजृंकी शौचे च, विजृंकी पृथग्भावे, विष्लृंकी व्याप्तौ इत्यदादौ जुहोत्यादिपर्यन्तपठितास्त्रय एव गृह्यन्ते । वर्तमाना, सप्तमी, पञ्चमी, ह्यस्तनी एताश्चतस्रः शितः ॥५७॥

पृभृमाहाङामिः ।४।१।५८।

एषां शिति द्वित्वे पूर्वस्य इः स्यात् । पिपर्ति, इयर्ति, बिभर्ति, मिमीते । जिहीते । हाङिति किम् ? जहाति । शितीत्येव-पपार ॥५८॥

पृ ऋ मा हाङ् इत्येतेषां शिति द्वित्वे सति पूर्वस्येकारो भवति । केचित्तु पृ पालनपूरणयोः इति जुहोत्यादौ दीर्घत्वं पठन्ति तन्मतसंग्रहार्थं पृश्च ऋश्च इति विग्रहः, अत एव च बहुवचनम् । शिति इति भणनात् पृङ् इत्यस्य व्युदासः । इयर्ति–अत्र पूर्वस्येकारे कृते 'पूर्वस्यास्वे स्वरे० ४।१।३७। इत्यनेन इय्, माङ्क् शब्दयोः, हाङित्यत्र ङकारकरणात् ओहांक् त्यागे इत्यस्य न ग्रहणम् ॥५८॥

सन्यस्य ।४।१।५९।

द्वित्वे पूर्वस्यातः सनि परे इः स्यातः । पिपक्षति । अस्येति किम् । पापचिषते ॥५९॥

'चजः कगम् ।२।१।८६। 'नाम्यन्तस्था० ।२।३।१५ इति सूत्रप्रवृत्तिः पिपक्षति इत्यत्र ॥५९॥

ओर्जान्तस्थापवर्गेऽवर्णे ।४।१।६०।

द्वित्वे पूर्वस्योतोऽवर्णान्ते जान्तस्थापवर्गे परे सनि इः स्यात् । जिजविषति । जिजावयिषति । यियविषति । यियावयिषति । रिरावयिषति । पिपविषते । पिपावयिषते । मिमावयिषते । जान्तस्थापवर्गे इति किम् ? जुहावयिषति । अवर्ण इति किम् ? बुभूषति ॥६०॥

जिजावयिषति—जु सौत्रो धातुः, जवन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् 'नामिनोऽकलि-हलेः ।४।३।५१ इति वृद्धिः औः, 'ओदौतोऽवाव् ।१।२।२४। इत्याव् । युक् मिश्रणे, टु क्षु रु कु क् शब्दे, लूञ् छेदने । जावयितुं यावयितुं रावयितुं,

लावयितुमिच्छति इति सन् 'णौ यत्कृतं यत्सर्वं स्थानिवद्' इति न्यायात् । जु, प्रु, रु, लु, एतेषां द्विवचनम् यतः "ओर्जान्त०" ।४।१।६० इत्यनेनाभ्यासे इकारः । पिपावयिषते, मिमावयिषते इति प्रयोगद्वयं पवर्गे इत्यस्य । ननु ण्यन्तानां वृद्ध्यवादेशयोः कृतयोः द्वित्वे सति पूर्वस्योकारान्तता न सम्भवति । तत्र 'सन्यस्य' ।।४।१।५९। इत्यनेनैव सिद्धे किं गुरूणां सूत्रेण ? एतावत्तु विधेयम् 'ओः पयेऽवर्णे' इति । पिपविषति, पियविषतीत्यत्र पूर्वस्योकारान्तस्येत्वं यथा स्यात् । सत्यं 'णौ यत्कृतं तत्सर्वं स्थानिवद् भवति "इति न्यायज्ञापनार्थं वचनम्, तेन पुरस्कारयिषति, चुक्षावयिषतीत्याद्यपि सिद्धम् ।।६०।।

श्रु-स्रु-द्रु-प्रु-प्लु-च्योर्वा ।४।१।६१।

एषां सनि द्वित्वे पूर्वस्योतोऽवर्णान्तायामन्तस्थायां परस्यामिर्वा स्यात् । शिश्रावयिषति शुश्रावयिषति । सिस्रावयिषति । सुस्रावयिषति । दिद्रावयिषति । दुद्रावयिषति । पिप्रावयिषति । पुप्रावयिषति । पिप्लावयिषति । पुप्लावयिषति । चु । च्यवयिषति ।।६१।।

वचनादेकेन वर्णेनान्तस्थायाः व्यवधानमाश्रीयते । ततः इत्वं सिध्यति । शुश्रावयिषतीत्यादौ णौ वृद्ध्यावोः कृतयोः 'णौ यत्कृतं कार्यं तत्सर्वं स्थानिवद्' इति न्यायेन' श्रु द्रु स्रु, द्रु, प्रु, प्लु, च्यु, इति द्विवचनम् ।।६१।।

स्वपो णावुः ।४।१।६२।

स्वपेर्णौ सति द्वित्वे पूर्वस्योत्स्यात् । सुष्वापयिषति । णाविति किम् ? सिष्वापकीयिषति । स्वपो णाविति किम् ? स्वापं चिकीर्षति । सिष्वापयिषति । स्वपो णौ द्वित्व इति किम् ? सोषोपयिषति ।६२।

सनीति निवृत्तं कार्यान्तरविधानात् । **सिष्वापकीयिषति**--णकः, स्वाप-

कमिच्छति क्यन् स्वायकीयितुमिच्छति सन् ततो 'णिस्तो० ।२।३।३७ इति षत्वम । **सिष्वापयिषति**—अत्र न स्वपेर्णि: षत्रा व्यवधानात् । स्वप्धातु:, स्वपनं-स्वाप:, स्वापं करोतीति 'णिज्बहुलं नाम्न: कृगादिषु ।३।४।४२। इति णिच् ,स्वापयितुमिच्छतीति सन् 'अन्यस्य' ४।१।८ इत्यनेन 'स्वा' इति द्वित्वम् । अत्र न स्वपेर्णिग्, किन्तु स्वापतो णि: । **सोषोपयिषति**-अत्र स्वप्धातु:, भृशं पुन: पुनर्वा स्वपितीति यङ् 'स्वपेर्यङ्-ङेच' ।४।१।८०। इति य्वृत्, सुप् 'सन्यङश्च' ।४।१।३ इत्यनेन 'सुप्' इति द्वित्वम 'आगुणा० ।४।१।४८। इति द्वित्वे पूर्वस्य गुण: 'बहुलं' लुप् ।३।४।४। इति यङ्लोप: । सोषुपन्तं प्रयुङ्क्ते इति णिग् लघोरूपान्त्यस्य ।४।३।४ इति गुण:, सोषोप् सोषोपयितुमिच्छतीति सन् 'णिस्तोरे० २।३।३७। इति सस्य षत्वम् अत्र यङि सति द्वित्वम् ततो यङ्लुबन्तात् णिग् ॥६२॥

असमानलोपे सन्वल्लघुनि ङे ।३।१।६३।

नविद्यते समानस्य लोपो यस्मिस्तस्मिन् ङपरे णौ द्वित्वे पूर्वस्य लघुनि धात्वक्षरे परे सनीव कार्यं स्यात् । अचीकरत् । अजीजवत् । अशिश्रवत् । लघुनीति किम् । अततक्षत् । णावित्येव । अचकमत् । असमानलोप इति किम् । अचकथत् ॥६३॥

सनीव कार्यं स्यात्=यथा सनि परेऽभ्यासेऽकारस्य 'सन्यस्य' ।४।१।५६। इत्यनेन इकारो भवति तथा 'असमानलोपे० ।४।१।६३। इत्यनेनाप्यभ्यासे इकार: भवतीत्यर्थ: । **अचीकरद्**—णिश्रिद्रु० ।३।४।५८। लघोर्दीर्घो०।४।१।६४ इति दीर्घ: । **अजीजवत्**—'श्रुस्रुद्र०' ।४।१।६१। इत्युक्तमिहापि । णाविति जात्यश्रयणात् वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदत् वीणां परिवादकेन, अपीपठन्माणवकमुपाध्यायेन । अत्र णे: समानस्य लोपेऽपि भवति ॥६३॥

लघोर्दीर्घोऽस्वरादे: ।४।१।६४।

अस्वरादेरसमानलोपे ङपरे णौ द्वित्वे पूर्वस्य लघोर्लघुनि धात्वक्षरे परे दीर्घ: स्यात् । अचीकरत् । लघोरिति किम् ।

अचिक्वणत् । अस्वरादेरिति किम् । औण्णुनवत् ॥६४॥

ननु 'स्वरस्य' ।७।४।११०। इति परिभाषया पूर्वस्मिन् इत्वे विधेये स्वरादेशस्य ह्रस्वस्य स्थानित्वेन लघुनीत्यभावादित्वं न प्राप्नोति ? उच्यते क्वचित्परिभाषाया अनित्यता ॥६४॥

स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशेरः ।४।१।६५।

एषामसमानलोपे ङपरे णौ द्वित्वे पूर्वस्यात्स्यात् । अससमरत् । अददरत् । अतत्वरत् । अपप्रथत् । अमम्रदत् । अतस्तरत् । अपस्पशत् ॥६५॥

सन्वद्भावापवादः, 'लघोर्दीर्घोऽ० ।४।१।६४।इत्यस्यापि अपवादः । स्मृदृत्वरप्रथम्रदः इत्येतेषां घटादित्वात् 'घटादेर्ह्रस्वो० ।४।२।२४। इत्यनेन ह्रस्वः । स्तृ—अतस्तरत् । स्पशिः, सौत्रः स्पशिण् इति णिजन्तो वा ॥६५॥

वा वेष्टचेष्टः ।४।४।६६।

अनयोरसमानलोपे ङपरे णौ द्वित्वे पूर्वस्याद्वा स्यात् । अववेष्टत् । अविवेष्टत् । अचचेष्टत् । अचिचेष्टत् ॥६६॥

'णिश्रि० ।३।४।५८। इति ङः ॥६६॥

ई च गणः ।४।१।६७।

गणेङ्परे णौ द्वित्वे पूर्वस्य ईरच स्यात् । अजीगणत् । अजगणत् ॥६७।

गणेरदन्तधातुत्वेन समानलोपित्वात्सन्वद्भावो दीर्घत्वं च न प्राप्नोतीत्व-

विधिः । ननु "ई वा गण" इति सूत्र्यतां गणेरदन्तत्वेन समानलोपित्वादेव पक्षेऽजगणदिति भविष्यति ? सत्यं, चुरादिभ्यो णिज् अनित्यः, णिच्सन्नियोगे एव एषामदन्तता, अतस्तदभावे तदभावादजगणदिति सिध्येत् किन्त्वजीगणदित्येव । अचीकथः इति प्रयोगदर्शनादन्येषामपि ईत्वमिच्छन्त्येके ॥६७॥

अस्यादेराः परोक्षायाम् ।४।१।६८।

अस्यां द्वित्वे पूर्वस्यादेरत आः स्यात् । आदुः । आरतुः । आस्येति किम् । ईयुः । आदेरिति किम् । पपाच ॥६८॥

'लुगस्यादेत्यपदे' ।२।१।११३। इत्यस्यापवादोऽयम । परोक्षायामित्युत्तरार्थमिह तु परोक्षाया अन्यस्मिन् यङादौ द्वित्वे सति आदावकारस्यासम्भवात् । ईयुः० इंण्क् गतौ, परोक्षाया उस्, ततो द्वित्वम्, 'इणः ।२।१।५१। इत्यनेनेयादेशः ॥६८॥

अनातो नश्चान्त ऋदाद्यशौ संयोगस्य ।४।१।६९।

ऋदादेरश्नोतेः संयोगान्तस्य च परोक्षायां द्वित्वे पूर्वस्यादेरात्स्थानादन्यस्यास्य, आः स्यात्, कृतातो नोऽन्तश्च । आनृधुः । अनाशे । आनञ्ज । ऋदादीति किम् । आर । अनात इति किम् । आञ्छ ॥६९॥

न विद्यते आत् आकारः स्थानितयाऽस्याकारस्य सः अनात् तस्य । अशाविन्यौकार अश्नातेर्निवृत्त्यर्थः । आर—'ऋंक् गतौ' 'ऋं प्रापणे च' णव्, द्वित्वम् 'ऋतोऽत्' ।४।१।३८। इत्यकारः 'अस्यादेराः परोक्षायाम्।४।१।६८। इत्याकारस्ततो 'नामिनोऽकलिहलेः ।४।३।५१। इति वृद्धिः । 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति न्यायादपि न, यतो यदाऽन्त्यव्यपदेशस्तदापि ऋदादित्वम्, यदाऽऽदिव्यपदेशस्तदा ऋदन्तत्वम् ततः ऋत् आदिरेवेत्यवधारणेनैवास्य निरासः आछि आयामे—आञ्छ ॥६९॥

भूस्वपोरदुतौ ।४।१।७०।

भूस्वपोः परोक्षायां द्वित्वे पूर्वस्य यथासंख्यमदुतौ स्याताम् । बभूव । सुष्वाप ।।७०।।

बभूवेत्यत्र प्रथमं वृद्धिः, ततः 'भुवो वः परोक्षाद्यतन्योः' ।४।२।१३। इत्यनेन उः । केचित्तु कर्त्तर्येव भुवोऽकारमिच्छन्ति, न भावकर्मणोः तेन बुभूवे चैत्रेण इत्येव भवति ।।७०।।

ज्याव्येव्यधिव्यचिव्यथेरिः ।४।१।७१।

एषां परोक्षायां द्वित्वे पूर्वस्य, इः स्यात् । जिज्यौ । संविव्याय । विव्याध । विव्याच । विव्यथे ।।७१।।

ज्यांश् वयोहानौ जिज्यौ । व्येंग् संवरणे—संविव्याय 'व्यस्थव् णवि ।४।२।३। सूत्रेण आत्त्वनिषेधः । 'यजादिवश्वचः० ।४।१।७२। इति य्वृद्बाधनार्थमिकारस्यापि इः क्रियते ।।७१।।

यजादिवश्वचः सस्वरान्तस्था य्वृत् ।४।१।७२।

यजादेर्वश्वचोश्च परोक्षायां द्वित्वे पूर्वस्य सस्वरान्तस्था इउऋरूपा प्रत्यासत्त्या स्यात्। इयाज । उवाय । उवाश । उवाच ।।७२।।

यजीं, वेंग्, व्येंग्, ह्वेंग, टुवपीं, वहीं, ट्वोश्वि, वद, वसं एते यजादयः परमत्र यजादिसूत्रे धातुषट्कं ज्ञातव्यम् ।व्येधातोः 'ज्याव्येव्यधि० ।४।१।७१। इत्यनेन इकारः उक्त, ह्वे श्विधात्वोः पूर्वस्याभ्यासे अन्तस्थाया अभावादेव य्वृत् न प्राप्नोति । वचिति वश्साहचर्यात् वचंक् ब्रूगादेशो वा आदादिको गृह्यते न तु यौजादिकः । प्रत्यासत्त्या—यकारान्तस्थाया इकारः, वकारान्तास्थाने उकारः, रकारान्तस्थास्थाने ऋकारः भवति ।।७२।।

न वयो य् ।४।१।७३।

वेगो वयो य् परोक्षायां य्वृन्न स्यात् ।ऊयुः ।।७३।।

पूर्वस्येति निवृत्तमसंभवात् । **ऊयुरिति**—वेग् 'वेर्वय् ।४।४।१९। इति वयादेशः 'यजादिवचेः० ।४।१।७९। इति वकारस्य य्वृत् । 'व्यञ्जनस्या०' ।४।१।४४। इति यलोपे 'समानानां तेन० ।१।२।१। इति दीर्घः अत्र 'यजादिवचेः किति ।४।१।७९। सूत्रेण यकारस्य वकाराकारेण सह य्वृत्प्राप्नोति । ।। ७३ ।।

वेरयः ।४।१।७४।

वेगोऽयन्तस्य पूर्वस्य परस्य च परोक्षायां य्वृन्न स्यात् । ववौ । अय इति किम् ? उवाय ।।७४।।

ववौ—'वेर्वय् ।४।४।१८। सूत्रेण वयादेशस्य बिकल्पप्रवृत्तेर्वयादेशाभावः । अत्र 'यजादिवश्० ।४।१।७२। इति पूर्ववकारस्य य्वृत्प्राप्नोति । **उवाय**—वयादेशे किदभावात् 'यजादिवचेः०, ।४।१।७९। इत्यस्याप्रवृत्तौ द्वित्वे 'यजादिवश्० ।४।१।७२। इति पूर्ववकारस्थ य्वृत् ।।७४।।

अविति वा ।४।१।७५।

वेगोऽयन्तस्याविति परोक्षायां य्वृद्वा न स्यात् । ववुः, ऊवुः । ।।७५।।

ऊवुः—अत्र पूर्वं य्वृत्ततो द्वित्वं 'य्वृत्सकृद्' ।४।१।१०२। सूत्रात् पश्चाद् वकारस्य न य्वृत् । द्वित्वे कृते पश्चात् धातोरूवादेशे सति पश्चात्पूर्वस्य समानस्य दीर्घः ।।७५।।

ज्यश्च यपि ।४।१।७६।

ज्यो णेगश्च यपि य्वृन्न स्यात् । प्रज्याय । प्रवाय ।।७६।।

ज्यांश् वयोहानी वेंग् तन्तेसन्ताने ।।७६।।

व्यः ।४।१।७७।

व्यो यपि य्वृन्न स्यात् । प्रव्याय ।।७७।।

योगविभाग उत्तरार्थः ।।७७।।

संपरेर्वा ।४।१।७८।

आभ्यां परस्य व्यो यपि य्वृद्वा न स्यात् । संव्याय । संवीय । परिव्याय । परिवीय ।।७८।।

संवीय—क्त्वो यप्, निरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्रागेव य्वृतः "दीर्घमवोऽन्त्यम् ।४।१।१०३। इति दीर्घत्वम्, न तु तोन्तः ।।७८।।

यजादिवचेः किति ।४।४।७९

यजादेर्वचेश्च सस्वरान्तस्था किति परे य्वृत् स्यात् । ईजुः, उवुः, ऊचुः । कितीति किम् । यक्षीष्ट ।।७९।।

नेति निवृत्तम् प्राप्तेरभावात् । यजादिरित्यत्र सूत्रे नवादि यजादयः संगृहीताः, सर्वेषां य्वृत् प्राप्तिः । यजीं, वेग्, ऊयुः, वयादेशपक्षे 'अविति वा' ।४।१।७५। सूत्रात् ववु,ऊवुरित्यपि । वचिति वचंक्, ब्रूगादेशो वा । नित्याणिजतैर्यजादिभिः साहचर्यात् वच्यते इत्यत्र यौजादिकस्य तु न भवति । ।। ७९ ।।

स्वपेर्यङ्–ङे च ।४।१।८०।

स्वपेर्यङि ङे किति च परे सस्वरान्तस्था य्वृत् स्यात् । सोषुप्यते । असूषुपत् । सुषुप्सति ॥८०॥

असूषुपत—णिगमन्तरेण ङस्यासंभवात् स्वपितिर्ण्यन्तो गृह्यते । ङे य्वृत् गुणो, 'उपान्त्यस्या० ।४।२।३५। इति ह्रस्वत्वं, द्विवत्वं 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः ।४।१।६४। इति पूर्वस्य दीर्घत्वमित्यत्र क्रमः । ननु "प्राक् तु स्वरे" इति वचनात् द्विवत्वं पूर्वं भविष्यति, न तु णिगाश्रितः गुणः इति चेत् सत्यं यदि तेनैव द्विवत्वनिमित्तेन प्रत्ययेन यदि स्वरविधिर्जन्येत तदैव न, स्यादत्र तु द्विवत्वनिमित्तप्रत्ययाजन्यः ॥८०॥

ज्याव्यधः क्ङिति ।४।१।८१।

ज्याव्यधोः सस्वरान्तस्था किति ङिति य्वृत् स्यात् । जीयात् जिनाति । विध्यात् । विध्यति ॥८१॥

प्रत्यय इति विशेष्यं क्ङिति च विशेषणम् अतः धातुनिमित्तयोर्यथासंख्यं न भवति । **जीयात्**—आशीःक्यात्, य्वृद् 'दीर्घमवोऽन्त्यम्' ।४।१।१०३। व्यधंच् ताडने ॥८१॥

व्यचोऽनसि ।४।१।८२।

व्यचेः सस्वरान्तस्था अस्वर्जे क्ङिति य्वृत् स्यात् । विचति । अनसीति किम् ? उरुव्यचाः ॥८२॥

व्यचत् व्याजीकरणे । उरु विचतीति 'अस्' । उणादि० ९५२ इत्युणादि-सूत्रेण अस् 'अभ्वादेरत्वसः सौ ।१।४।९०। इति दीर्घत्वम् । 'कुटादे० ।४।३।१७। इति कुटादित्वात् ङित्वम् ॥८२॥

वशेरयङि ।४।१।८३।

वशेः सस्वरान्तस्था अयङि क्ङिति य्वृत् स्यात् । उष्टः, उशन्ति । अयङीति किम् ? वावश्यते ॥८३॥

वशक् कान्तौ इत्यदादौ परस्मैपदी ॥८३॥

ग्रहव्रश्चभ्रस्जप्रच्छः ।४।१।८४।

एषां सस्वरान्तस्था क्ङिति य्वृत् स्यात् । जगृहुः, गृह्णाति । वृक्णः, वृश्चति । भृष्टः, भृज्जति । पृष्टः, पृच्छा ॥८४॥

तेर्ग्रहादिभ्यः ।४।४।३३। इत्यनेन इट्, 'गृह्णो परोक्षायां दीर्घः' ।४।४।३४। इत्यनेन इट् दीर्घः । वृक्णः 'सूयत्याद्योदितः ।४।२।७०। इति नकारः । भृज्जति—अत्र 'तृतीयस्तृतीयचतुर्थे' ।१।३।४९। इति सकारस्य जकारः । पृच्छा 'भिदादयः' ।५।३।१०८। इत्यङ् ॥८८॥

व्ये–स्यमोर्यङि ।४।१।८५।

व्येग्स्यमोः सस्वरान्तस्था यङि य्वृत् स्यात् । वेवीयते । सेसिमीति ॥८५॥

स्यम् शब्दे, यङ्लुपि नेच्छन्त्यन्ये ॥८५॥

चायः कीः ।४।१।८६।

चायोयङि कीः स्यात् । चेकीतः ॥८६॥

चायृग् पूजानिशामनयोः । दीर्घनिर्देशो यङ्लुबर्थः तेन चेकीयते इतिवत्

चेकीत इत्यत्रापि दीर्घः, दीर्घनिर्देशाद् यङ्लुप्यपि आदेश इत्यर्थः, साक्षात् यङि तु व 'दीर्घश्च्वि०' ।४।३।१०८। इति दीर्घः सिद्ध एव । एवं 'प्यायः पीः' ।४।१।९१। इत्यत्रापि ।।८६।।

ह्वित्वे ह्वः ।४।१।८७।

ह्वेगो द्वित्वविषये सस्वरान्तस्था य्वृत् स्यात् । जुहूषति ।।८७।।

अनेनैव सिद्धे उत्तरसूत्रकरणं णेरन्यस्मिन् द्विवत्वनिमित्तप्रत्ययव्यवधायके य्वृत्मा भूदित्येतदर्थम्, तेनेह न भवति—ह्वायकमिच्छति ह्वायकीयति ततः सन् जिह्वायकीयिषति ।।८७।।

णौ ङसनि ।४।१।८८।

ह्वेगः सस्वरान्तस्था ङपरे, सन्परे च णौ विषये य्वृत्स्यात् । अजूहवत् । जुहावयिषति ।।८८।।

णौ विषये इति विषयसप्तम्याश्रयणात् णिविषये एवान्तरङ्गमपि यकारागमं बाधित्वा य्वृद् यथा स्यात् । कृते तु य्वृति यो न भवति अतिरी० ।४।२।२१। इति प्वागमबाधकत्वेन आदन्तात् ह्वाधातोः षा-शा-छा-सा-वे-व्या-ह्वो यः ।४।२।२१। इति योन्तः विधीयते । **अजूहवत्**—ह्वे णिग् अद्यतनी दि 'णिश्रिद्रु० ।३।४।६८। इति ङप्रत्ययः "णौ ङसनि ।४।१।७८। इत्यनेन 'ह्व' इत्यस्य य्वृत् हु, "नामिनोऽकलिहले' ।४।३।५१। इति वृद्धिः हौ, 'ओदौतोऽवाव् ।१।२।२४। इति हाव् 'भ्राजभासभाष० ।४।२।३६। इत्यनेन विकल्पेन ह्रस्वः, णौ यत्कृतं तत्सर्वं स्थानिवद् इति न्यायाद् 'हु' इति द्वित्वम् 'लघोर्दीर्घोऽ० ।४।१।६४।' इति पूर्वस्य दीर्घः 'अजूहवत्' इति सिद्धः । यत्र न ह्रस्वस्तत्र अजुहावत् इति ।।८८।।

श्वेर्वा ।४।१।८९।

श्वेः सस्वरान्तस्था ङपरे सन्परे णौ विषये य्वृद् वा स्यात् । अशूशवत्, अशिश्वयत् । शुशावयिषति, शिश्वाययिषति ॥८९॥

णौ ङसनि ।४।१।८८। श्वेर्वा ।४।१।८९। इति सूत्रद्वये णावित्यत्र विषयसप्तमीयम्, विषयसप्तमीबलादन्तरङ्गमपि वृद्ध्यादिकं य्वृता बाध्यते पूर्वं य्वृत् प्रवर्तते पश्चाद् वृद्ध्यावौ इनि अशूशवद् इत्यादौ पूर्वं य्वृत्, ततो वृद्धिः, आव्, "उपान्त्यस्या० ।४।२।६५। इति उपान्त्यह्रस्वः, ततो णौ कृतस्य वृद्ध्यावादेशस्य स्थानित्वम्, न तु य्वृतः स्थानित्वम् इति 'शु' इति द्वित्वम् । 'लघोर्दीर्घोऽ० ।४।१। ६४। इति दीर्घत्वम् एवं शुशावयिषतीत्यत्र सन् ॥८९॥

वा परोक्षायङि ।४।१।९०।

श्वेः सस्वरान्तस्थापरोक्षायङोर्य्वृद् वा स्यात् । शुशाव, शिश्वाय । शोशूयते, शेश्वीयते ॥९०॥

शुशाव—'णिद् वाऽन्त्यो णव् ।४।३।८५। इति वा णित् "इन्ध्यसंयोगात्०" ४।३।२१। इत्यवित्परोक्षायाः कित्वात् 'यजादिवचेः किति ।४।१।७९। इत्यनेन य्वृति प्राप्ते विति परोक्षायां यङि च परेऽप्राप्ते 'वा परोक्षायङि ।४।१ ९०। इति विकल्पः कृतः ॥९०॥

प्यायः पीः ।४।१।९१।

प्यायः परोक्षायङोः पीः स्यात् । आपिप्ये । आपेपीतः ॥९१॥

ओप्यायैङ् वृद्धौ इति प्याय् । पी-आदेशानन्तरं द्वित्वे कृते 'योऽनेकस्वरस्य ।२।१।५६। इति यत्वम् दीर्घनिर्देशो यङ्लुबर्थः, यदि हि साक्षाद् यङ् तदा तु "दीर्घश्च्वि० ।४।३।१०८। इति दीर्घः सिद्ध एव । **आपेपीतः**—क्तान्तं रूपम्, वर्तमानात्क्तप्रत्यये वा ॥९१॥

क्तयोरनुपसर्गस्य ।४।१।९२।

अनुपसर्गस्य प्यायेः क्तक्तवतोः पीः स्यात् पीनम् । पीनवन्मुखम् । पीनवन्मुखम् । अनुपसर्गस्येति किम् ? प्रप्यानो मेघः ॥९२॥

प्यायते स्म पीनम् 'गत्यार्था० ।५।१।११। इति क्तः, 'सूयत्याद्योदितः । ।४।२।७०। इति नकारः । **प्रप्यानो मेघः**—प्यायते स्म इति क्तः 'य्वोः प्वय्० ।४।४।१२१। इति यकारलोपः 'व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्यः ।४।२।७१। इत्यनेन तकारस्य नकारः ।९२।

आङोऽन्धूधसोः ।४।१।९३।

आङः परस्य प्यायेरन्धूधसि चार्थे क्तयोः परतः पीः स्यात् । आपीनोऽन्धुः । आपीनमूधः । अन्धूधसोरिति किम् ? आप्यानश्चन्द्रः । आङः एवेति नियमात् प्राप्यानमूधः ॥९३॥

अन्धुर्व्रणम्, ऊधसो वा पर्यायः ॥९३॥

स्फायः स्फीर्वा ।४।१।९४।

स्फायतेः क्तयोः परयोः स्फीर्वा स्यात् । स्फीतः, स्फीतवान् । स्फातः स्फातवान् ॥९३॥

विकल्पं नेच्छन्त्यन्ये ॥९४॥

प्रसमः स्त्यः स्तीः ।४।१।९५।

प्रसम्समुदायपूर्वस्य स्त्यः क्तयोःपरयोः स्तीः स्यात् । प्रसंस्तीतः, प्रसंस्तीतवान् । प्रसम इति किम् ? संप्रस्त्यानः ॥९५॥

संप्रस्त्यान इति—व्यावृत्तौ केवलात्प्रोपसर्गान्न दर्शितम्, उत्तरेण विधानात् ॥९५॥

प्रात्तश्च मो वा ।४।१।९६।

प्रात्केवलात्परस्य स्त्यः क्तयोः परयोः स्तीः स्यात् । प्रसंस्तीतः । प्रसंस्तीतवान् । प्रसम इति किम् ? संप्रस्त्यानः ॥९६॥

स्त्यै सङ्घाते च इति भ्वादिधातुः ॥९६॥

श्यः शीर्द्रवमूर्तिस्पर्शे नश्चास्पर्शे ।४।१।९७।

मूर्तिः काठिन्यं द्रवमूर्तिस्पर्शार्थस्य श्यः क्तयोः परयोः शीः स्यात् । तद्योगे च क्तयोस्तोऽस्पर्शविषये नश्च । शीनम् । शीनवद् घृतम् । शीतं वर्तते । शीतो वायुः । ९७॥

शीनं, शीनवद् घृतम्—द्रवावस्थायाः काठिन्यं गतमित्यर्थः । गुणमात्रे तद्वति चार्थे स्पर्शविषयो भवति। शीतं वर्तते इत्यत्र शीतस्पर्शः मुख्यभावेन, शीतोवायु–रित्यत्र तु गौणभावेन वर्तते ॥९७॥

प्रतेः ।४।१।९८।

प्रतेः परस्य श्यः क्तयोः परयोः शीः स्यात्तद्योगे क्तयोस्तो न् च । प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान् ॥९८॥

प्रतिपूर्वोऽयं रोगे वर्ततेइति पूर्वेणाप्राप्तौ वचनम् । रोगे स्पर्शस्या सम्भवात् 'अस्पर्शे' इति नोक्तम् ।

वाभ्यवाभ्याम् ।४।१।९९।

आभ्यां परस्य श्यः क्तयोः परयोः शीर्वा स्यात्तद्योगे च क्तयोस्तोऽस्पर्शे नश्च । अभिशीनः, अभिशीनवान् । अभिश्यानः, अभि-

श्यवान् । अवशीनम् अवश्यानं हिमम् । अवश्यानः । अवश्यानवान् ॥९९॥

अवशीनमित्यादि—द्रव्यमूर्तिस्पर्शयोरप्यनेन परत्वाद् विकल्पो भवति । वाशब्दस्य व्यवस्थित-विभाषार्थत्वादन्योपसर्गाभ्यामभ्यवाभ्यां परस्य श्यायते शीर्नकारश्च न भवति ॥९९॥

श्रः शृतं हविःक्षीरे ।४।१।१००।

श्रातेः श्रायतेश्च क्ते हविषि क्षीरे चार्थे शृर्निपात्यते । शृतं हविः क्षीरं स्वयमेव । हविः क्षीर इति किम् ? श्राणा यवागूः ॥१००॥

श्रांक् पाने, श्रैं पाके श्रातिश्रायती अकर्मकौ कर्मकर्तृविषयस्य पचेरर्थे वर्तेते तयोरेतन्निपातनम् । श्राति स्म श्रायति स्म वा हविः क्षीरं चैत्रः, स एवं विवक्षितवान् । नाहंश्रामि स्म श्रायमि स्म वा किन्तु हविः क्षीरंस्वयमेव श्रायते स्म 'गत्यर्थाक० ५।१।१२। इति क्तः,अण्यन्तयोः पच्यमानकर्तृ-कर्योर्निपातोऽयम् ॥१००॥

श्रपेः प्रयोक्त्रैक्ये ।४।१।१०१।

श्रातेः श्रायतेर्वा ण्यन्तस्यैकस्मिन् प्रयोक्तरि क्ते परे हविः क्षीरयोः शृर्निपात्यते । शृतं हविः क्षीरं वा चैत्रेण । हविःक्षीर इत्येव-श्रपिता यवागूः । अप्रयोक्त्रैक्य इति किम् ? श्रपितं हविश्चैत्रैण मैत्रेण ॥१०२॥

श्राति श्रायति वा हविः क्षीरंस्वयमेव तत् चैत्रेण प्रायुज्यत, निपातने **शृतं हविः क्षीरं वेति** । श्राति स्म श्रायति स्म वा यवागू, स एवं विवक्षितवान् नाहं श्रामि स्म श्रायामि स्म किन्तु यवागूः स्वयमेव श्रायते स्म । यवागूः स्वयमेव श्रायमाणा केनचित् प्रायुज्यत, णिगि 'अर्तिरीव्ली० ।-४।२।२१ इति पोऽन्ते, 'घटादेः०' ४।२।२२ इति ह्रस्वे च **श्रपिता यवागूः** । यदा पुन-

द्वितीये प्रयोक्तरि णिगुत्पद्यते तदा श्रृ न निपात्यते । श्राति स्म श्रायति स्व वा पत्रिः क्षीरं स्वयमेव, तद् चैत्रेण प्रयुच्यते स्मेति वाक्ये णिग्, सोऽपि श्रपयन्मैत्रेण प्रयुज्यते स्मेति वाक्ये पुनर्णिगि श्रपितं हविश्चैत्रेण मैत्रेणेति ॥१०१॥

य्वृत्सकृत् ।४।१।१०२।

अन्तस्थास्थानमि-उ–ऋत्सकृदेव स्यात् । संवीयते ॥१०२॥

यावत्संभवस्तावद् विधिरिति न्यायात्पुनः प्राप्तः प्रतिषिध्यते । संवीयते— अत्र यकारस्य 'यजादिवचेः० ।४।१।७९ इति य्वृति पुनर्वकारस्य प्राप्त-नेन प्रतिषिध्यते ॥१०२॥

दीर्घमवोऽन्त्यम् ।४।१।१०३।

वेग्वर्जस्य य्वृदन्त्यं दीर्घः स्यात् । जीनः । अव इति किम् ? उतः अन्त्यमिति । किम् ? सुप्तः ॥१०३॥

सुप्तः, 'ज्ञानेच्छा० ।५।२।९२। इति क्तः ॥१०३॥

स्वरहन्गमोः सनि धुटि ।४।१।१०४।

स्वरान्तस्य हन्गमोश्च धुडादौ सनि दीर्घः स्यात् । चिचीषति । जिघांसति, जिगांसते । धुटीति किम् ? यियविषति ॥१०४॥

जिघांसति—"अङे हिहनो हो घः पूर्वात् ।४।१।३४। इति हस्य घः । गम्विति इणिकिङादेशस्य गमे र्ग्रहणाद् गच्छतेर्न भवति । "सनीङश्च ।४।४।२५ इति गमुः । यियविषति—"इवृधभ्रस्ज' ४।४।४७ इत्यनेन इट् ॥१०४॥

तनो वा ।४।१।१०५।

तनेर्धुडादौ सनि दीर्घो वा स्यात्। तितांसति, तितंसति। धुटीत्येव-तितनिषति ॥१०५॥

"इवृधभ्रस्य० ।४।४।४७। इत्यनेन इट् ॥१०५॥

क्रमः क्त्वि वा ।४।१।१०६।

क्रमो धुडादौ क्त्वि दीर्घो वा स्यात् क्रान्त्वा, क्रन्त्वा। धुटीत्येव-क्रमित्वा ॥१०५॥

ऊदितो वा ।४।४।४२। इति वेट्। प्रक्रम्येत्यत्र त्वन्तरङ्गमपि दीर्घं बाधित्वा प्रागेव यप् 'अन्तरङ्गानपि विधीन् यबादेशो बाधते इति न्यायात् ॥१०६॥

अहन्पञ्चमस्य क्विक्ङिति ।४।१।१०७।

हन्वर्जस्य पञ्चमान्तस्य क्वौ धुडादौ च क्ङिति दीर्घः स्यात्। प्रशान् शान्तः। शंशान्तः। पञ्चमस्येति किम्? पक्त्वा। अहन्निति किम्? वृत्रहणि। धुटीत्येव यम्यते ॥१०७॥

प्रशान्—अत्र 'मो नो म्वोश्च' ।२।१।६७। इत्यन्तस्य नः। नादेशस्य परेऽसत्त्वान्नलोपाभावः। हन्वर्जनाद् आदेशावस्थायां पञ्चमो गृह्यते तेन सुगणित्यत्र दीर्घो न भवति। **शंशान्तः** इति यङ्लुपि वर्तमानातस्प्रत्ययः। **वृत्रहणि**—संज्ञायां 'पूर्वपदस्थ०' ।२।४।६४। सूत्रेण, असंज्ञायां तु 'कवर्ग०' ।२।३।७६ इति णत्वम्, किम्। कश्चित्त्वाचारक्वावपि दीर्घत्वमिच्छन्ति शमिवाचरति शामति, किम्-कीमति, इदम् इदामति। स्वमते तु धातुत्वाभावान्न दीर्घः ॥१०७॥

अनुनासिके च्छ्वः शूट् ।४।१।१०८।

अनुनासिकादौ क्वौ धुडादौ च धातोः छ्वोर्यथासङ्ख्यं श् ऊटौ

स्यातास् । प्रश्नः । शब्दप्राशौ । पृष्टः । स्योमा । अक्षद्यूः । द्यूतः ॥१०८॥

च्छ्वः" इत्यत्र छकारस्य द्विः पाठात् द्वित्वापन्नस्य छकारस्य द्वयस्य 'श्' इत्यादेशः क्रियते । छ च् च्छ चेति कृते 'पदस्य ।२।१।८९। संयोगान्तस्य लोपे 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' इत्यनेन चस्य छत्वे 'अघोषे प्रथमोऽशिटः' ।१।३।५०। इति पूर्वस्य छस्य चत्वे च च्छ इति साध्यते तदा एकछकारस्यापि वाञ्छ इच्छायाम् इत्यस्य वान् वांशौ वांशः इति सिद्धम् । यदा पूर्वं द्विः च्छकारः द्वितीयस्तु लघुः ततः च्छ छच चेति कृते "पदस्य ।२।१।८९। इति लघुछकारस्य लुक् तदा 'निमित्ताभावे नैमित्तकस्याप्यभावः' इत्यस्य नाश्रयणम् । **शब्दप्राशौ**—शब्दं पृच्छतीति 'दिद्युद्दृ० ।५।२।८३। इत्यनेन क्विप् दीर्घश्च, 'अनुनासिके० ।४।१।१०८। इत्यनेन च्छस्य 'श्' 'यजसृजमृज० ।२।१।८७। इत्यनेन शकारस्य ष् 'धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। इति षस्य ड् 'विरामे वा' ।१।३।५१। इति ट् । पृष्टः—छकारस्य श् 'ग्रहव्रश्च भ्रस्ज० ।४।१।८४। इति यवृत् । स्योमा—सिव् सीव्यतीति स्योमा, 'मन्वन्-क्वनिप्०' ।५।१।१४७। इति मन्प्रत्ययः नित्यत्वात्पूर्वम् 'अनुनासिके च्छ्वः'।४।१।१०८।इत्यनेन वकारस्य ऊट्, न गुणः । ऊटि कृतेऽन्तरङ्गत्वात् पूर्वं यत्वम् तत ऊकारस्य गुणः ओ । **अक्षद्यूः**—अक्षैर्दीव्यतीति क्विप् वस्य ऊट् । धातोरेव भावात् दिवेरौणादिक—डिव्प्रत्ययान्तस्य द्युभ्यां द्युभिः इति । यदा तु दिवेः क्विप् तदा धातुत्वात् द्यूभ्यां, द्युभिरिति ॥१०८॥

मव्यविश्रिविज्वरित्वरेरुपान्त्येन ।४।४।१०९।

एषामनुनासिकादौ क्वौ धुडादौ च प्रत्यये उपान्त्येन सहोट् स्यात् । मोमा । मूः । मूतिः । ओमा । ओं । ऊः । ऊतिः । श्रोमा । श्रूः । श्रूतिः । जूर्मा । जूः । जूर्त्तिः । तूर्मा । तूः । तूर्णः ॥१०९॥

शकारस्य स्थानी छकारोऽत्र सूत्रे न सम्भवतीति 'ऊट्' एवानुवर्तते न श् । ऊडेवानुवर्तते । **मोमा**—मव बन्धने इति 'मन्वन्०' ।५।१।१४७। इति मन्,

वस्य उपान्त्येन सह ऊट्, गुणः। मूः-क्विप्। मूर्ति—क्तिः। अव्—अवतीति ओमा 'मन्वन्० ।५।१।१४७। इति मन्, अवतीति ओम्, औणादिकः म्, 'मव्यवि० ।४।१।१०९। इति अवस्थाने ऊट् गुणः। ऊः—अत्र क्विप्, ऊतिः-क्तिः। श्रोमा—श्रिवूच् गतिशोषणयोः, मन्, क्विप्, क्तिः ज्वर रोगे, जित्वरिष् संभ्रमे "रदादमूर्च्छा०" ।४।२।६९। इति तकारस्य नकारः। श्रिव्यविमवधातूनां पूर्वमुपान्त्यः ततः वकारः विद्यते, ज्वरित्वरोर्वकारात्पर उपान्त्यः इत्थं पूर्वोपान्त्येन सह, परोपान्त्येन च सह वकारस्य ऊट् भवतीत्यर्थः। मव्यादौ 'इकिश्तिव्० ।५।३।१३८। सूत्रेण स्वरूपार्थस्येकारस्य निर्देशात् 'तिवा शवा०' इति न्यायाप्रवृत्तौ यङ्लुप्यपि मामोतीत्यादावृट् सिद्धः ॥१०९॥

राल्लुक् ।४।१।११०।

रात्परयोश्छ्वोरनुनासिकादौ क्वौ धुडादौ च प्रत्यये लुक् स्यात्। मोर्मा। मूः। मूर्त्तिः। तोर्मा, तूः, तूर्णः ॥११०॥

शूटोऽपवादः। मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः, मन् 'भ्वादेर्नामिनो दीर्घो र्वोर्व्यञ्जने ।२।१।६३। इति दीर्घः तस्यासत्त्वाद् गुणे मोर्मा। तुर्वे हिंसायाम् मनि तोर्मा। मूर् तूर् इत्यत्र 'पदान्ते' ।२।१।६४। इत्यनेन दीर्घः ॥११०॥

क्ते ऽनिटश्चजोः कगौ घिति ।४।१।१११।

क्ते ऽनिटो धातोश्चजोर्घिति यथासङ्ख्यं कगौ स्याताम्। पाकः। भोग्यम्। क्तेऽनिट इति किम्। सङ्कोचः कूचः ॥१११॥

पाकः—"भावकर्त्रोः ।५।३।१८। सूत्रेण घञ्। **भोग्यम्**—'ऋवर्णव्यञ्जनाद् घ्यण् ।५।१।१७०। इति घ्यण् ॥१११॥

न्यङ्क्वुद्गमेघादयः ।४।१।११२।

न्यङ्क्वादयः कत्वे उद्गादयो गत्वे मेघादयो घत्वे कृते निपात्यन्ते । न्युङ्कुः । शोकः । उद्गः । न्यूद्गः । मेघः । ओघः ॥११२॥

नि+अञ्च्, न्यञ्चतीति न्यङ्कुः, निपातनात् उप्रत्ययः निपातनात् चस्य कः। शुचेर्घञि शोकः, कं सेट्त्वान्न प्राप्नोति, घञोऽन्यत्र शोच्यम् । उब्जत् आर्जवे उब्जेर्घञि क्ते सेट्त्वान्न प्राप्नोतीति घञि सति जकारस्य निपातनात् गत्वम्, उपान्त्यस्य च दत्वम् उद्गः इति। नि + उब्ज् । मिहेरचि संज्ञायां हस्य घत्वम्, मेघः । अन्यत्र मेहः । वहेरनुपसर्गस्य वकारस्य औत्वं घत्वं च—ओघः=प्रवाहः इत्यर्थः ॥११२॥

न वञ्चेर्गतौ ।४।१।११३।

गत्यर्थस्य वञ्चेः कत्वं न स्यात् । वञ्चं वञ्चन्ति । गताविति किम् ? वङ्कं काष्टम् ॥११३॥

वञ्चं वञ्चन्ति=गन्तव्यं गच्छन्तीत्यर्थः । वङ्कं काष्टम्=कुटिलमित्यर्थः ॥११३॥

यजेर्यज्ञाङ्गे ।४।१।११४।

यज्ञाङ्गवृत्तेर्यजेर्गत्वं न स्यात् । पञ्च प्रयाजाः । यज्ञाङ्ग इति किम् ? प्रयागः ।४।१।११४॥

प्रयाजाः=प्रेज्यन्ते एभिः व्यञ्जनाद् घञ् ।५।३।१३२। प्रथमानि भावे घञ् वा ॥४।३।१३२॥

घ्यण्यावश्यके ।४।१।११५।

आवश्यकोपाधिके घ्यणि चजोः कगौ न स्याताम् । अवश्यपाच्यम्, अवश्यरञ्ज्यम् । आवश्यक इति किम् ? पाक्यम् । ॥४।१।११५॥

अवश्यं पचतीति अवश्यपाच्यम् "मयुरव्यंसकेत्या०" ।३।१।११६। सूत्रात्समासः, 'णिन्चावश्यका० ।५।१।३६। इति घ्यण् । अकारान्तोऽनव्ययप्यवश्यशब्दोऽस्मि ।४।१।११५।

निप्राद्युजः शक्ये ।४।१।११६।

आभ्यां युजः शक्ये गम्ये घ्यणि गो न स्यात् । नियोज्यः, प्रयोज्यः । शक्य इति किम् ? नियोग्यः ।४।१।११६।

नियोक्तुं शक्यः,नियोग्यः।:प्रयोक्तुं शक्यः प्रयोग्यः । 'शक्तार्हे' ।५।४।३५। सूत्रेण घ्यण् ।४।१।११६॥

भुजो भक्ष्ये ।४।१।११७।

भुजो भक्ष्यार्थे घ्यणि गो न स्यात् । भोज्यं पयः । भक्ष्य इति किम् ? भोग्या भूः ॥११७॥

भोग्या भूः=पालनीया इत्यर्थः । 'ऋवर्णव्यञ्जनाद्० ।५।१।१५। इति घ्यण् ॥११७॥

त्यजयजप्रवचः ।४।१।११८।

एषां घ्यणि कगौ न स्याताम् । त्याज्यम्, याज्यम्, प्रवाच्यः । ॥ ११८ ॥

याज्यम् इति अत एव प्रतिषेधात् यजिधातोः परः घ्यणपि भवति अन्यथा

'शकितकिचतियतिशसिसहियजि० ।५।१।२९ सूत्रेण यप्रत्यय एव स्यात्। प्रवचिग्रहणं शब्दसंज्ञार्थमुपसर्गनियमार्थं वा। तेन प्रपूर्वस्यैव वचेः कत्वप्रतिषेधो भवति, नान्योपसर्गपूर्वस्य। अन्योपसर्गपूर्वे तु अधिवाक्यमिति भवति। प्रवाच्यो नाम पाठविशेषः, तदुपलक्षितग्रन्थोऽपि प्रवाच्य इत्युच्यते ॥११८॥

वचोऽशब्दनाम्नि ।४।१।११९।

अशब्दसंज्ञायां वचेर्घ्यणि को न स्यात्। वाच्यम्। अशब्दनाम्नीति किम्? वाक्यम् ॥११९॥

वाक्यम्=विशिष्टः पदसमुदायः ॥११९॥

भुजन्युब्जं पाणिरोगे ।४।१।१२०।

भुजेर्न्युब्जेश्च घञन्तस्य पाणौ रोगे चार्थे यथासंख्यं भुजन्युब्जौ निपात्येते। भुजः पाणिः, न्युब्जो रोगः ॥१२०॥

भुज्यतेऽनेनेति **भुजः** पाणिः। न्युब्जिताः शेरतेऽस्मिन्निति **न्युब्जो** नाम रोगविशेषः 'व्यञ्जनाद् घञ् ।५।३।१३२। इत्यधिकरणे घञ्, गत्वाभावः, भुजेर्गुणाभावश्च निपात्यते, पाणिरोगादन्यत्र तु भोगः, न्युद्ग इति भवति ॥१२०॥

वीरुन्न्यग्रोधौ ।४।१।१२०

विपूर्वस्य रुहेः क्विपि न्यक्पूर्वस्य चाचि वीरुत् न्यग्रोधौ एतौ धान्तौ निपात्येते। वीरुत्, न्यग्रोधः ॥१२०॥

विरोहतीति विरुत् अत्र निपातनाद्दीर्घः, न्यग्रोहतीति न्यग्रोधः ॥१२०॥

❀ अथ चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः ❀

क्या गुरु के नौ अङ्ग की पूजा शास्त्रीय है ?

१. "श्री प्रतिष्ठाविधि समुच्चय, प्रतिष्ठा कल्प" प्रकाशिका—श्री जैन साहित्यवर्धक सभा, शिरपुर। संयोजक—शास्त्रविशारद कविरत्न पू० आचार्य श्रीविजय अमृतसूरीश्वरजी महाराज (पू० आचार्य श्री नेमिसूरीश्वर जी म० के शिष्य) इस ग्रंथ में लिखा है कि—

"सिद्धचक्र की पूजा करे, गुरु के नौ अङ्ग की पूजा करे, यथाशक्ति समस्त संघ को पहेरामणी करे"

इसके सिवाय नीचे के अन्य ग्रन्थों में भी ऊपर मुजब पाठ है इसी कारणहम उन ग्रन्थो के नाम और पृष्ठ नम्बर ही बताते हैं। पाठ एक समान नौ अङ्गी गुरु पूजन का होने से पाठ पुनः नहीं लिखते हैं।

२. श्री शान्तिस्नात्रादि विधि समुच्चय तथा श्री प्रतिष्ठादिविधि समुच्चय प्रतिष्ठा कल्प भाग १–२ (पृष्ठ ८१ पंक्ति ३ री) संयोजक—पू०आ० श्री अमृतसूरीश्वरजी महाराज।

सम्पादक—पू०आ० श्री हेमचन्द्र सूरिजी म० के शिष्य पू० मुनि श्री गुणशील वि०म०

३. श्री कल्याणकलिका—कर्त्ता—पं० श्री कल्याणविजयजी म० पृष्ठ १६६ पंक्ति १२) सम्पादक—मुनिराज श्रीभद्रंकरविजयजी म०

(द्वितीत-तृतीय खण्डात्मक द्वितीय भाग)

प्रकाशक—श्री क०वि० शास्त्रसंग्रह समिति जालोर (राजस्थान)

४. श्री बिम्ब प्रवेश विधि संयोजक तथा प्रकाशक—पोपटलाल, साकरचन्द शाह (पृष्ठ १११ पंक्ति १२)

५. प्रतिष्ठा कल्प-संयोजक और प्रकाशक—श्री सोमचन्द, हरगोविन्द-दास छाणी तथा छबीलदास, केशरीचन्द संघवी (पृष्ठ ४८-पंक्ति१३) एवं खंभात में श्री जैन शाला—स्थापित श्री नीतिविजयजी शास्त्र संग्रह की।

६. हस्तलिखित प्रश्नो—प्रतिष्ठा कल्प—पत्र १२ और प्रतिष्ठा

कल्प–पत्र २२। पोथी नम्बर २४५ और पोथी नम्बर २५२ में अनुक्रम से पेज १०।ए तथा पेज १६।ए पर गुरु की नौ अङ्ग की पूजा करने का स्पष्ट विधि लिखा है।

प्रतिष्ठा कल्प तथा विधिविधान के ग्रंथों में नौ अङ्गी गुरु-पूजन के इतने उल्लेख दिखाने के बाद अन्य ग्रंथों में आते हुए निम्न उल्लेख भी देख लें।

७. पं० श्री हंसरत्नसूरिजी कृत गद्य 'शत्रुजय माहात्म्य' में भी उल्लेख हैं।

८. श्री मेघविजय गणि रचित 'भविष्यदत्त चरित्र' में भी उल्लेख है।

९. श्री ज्ञानसागर गणि शिष्य विरचित 'धन्यचरित्र' में भी गुरु की नौ अङ्गी पूजन का उल्लेख है।

१०. जगद्गुरु श्री हीरसूरीश्वरजी महाराजा के जगह-जगह पर हुए नौ अङ्ग के पूजन का उल्लेख है। ये उल्लेख 'विजय–प्रशस्ति' कर्त्ता श्री हेमविजय गणि, टीकाकार श्री गुणविजय गणि–१३, श्लोक १३ पृ० ४६० पर है।

११. जगद्गुरु—काव्य रचयिता श्री पद्मसागर गणि। प्रकाशक श्रीयशोविजय ग्रंथमाला पृ० २३ श्लोक १६१ में भी उल्लेख है।

१२. मंत्री श्री तेजपाल ने आचार्यदेवादि मुनिवरों की की हुई नवांगी पूजा का उल्लेख श्री प्रशस्ति संग्रह, संपादक अमृतलाल, मगनलाल शाह–प्रकाशक—देशविरति धर्माराधक समाज पृ० १६० पर है।

१३. श्रावक कवि ऋषभदास रचित 'हीरसूरिजी म० के रास' में कवि ने जगद्गुरु श्री हीरसूरिजी ने दीक्षा के पूर्व में स्वगुरु की की हुई नौ अङ्ग की पूजा का और बाद में जगद्गुरु के हुए नवांगी पूजन की बातें लिखी है।

१४. श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी म० की कुमारपाल राजा ने सुवर्णकमलों से नवांग गुरु पूजा की थी। प्रबन्ध ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिजी महाराजा तथा जगद्गुरु श्री हरिसूरिजी महाराज जैसे महापुरुषों ने

नवांगी गुरुपूजन की प्रवृत्ति रोकी नहीं थी। इसमें शास्त्राज्ञा का पालन, इसमें होने वाले देवद्रव्य की वृद्धि, गुरुभक्ति से शिष्य का कल्याण, ये बातें महत्त्व की थी।

१५. प्रह उढीने उपाश्रये आवी, पूजी **गुरु नव अंगे।**
वाजित्र वाजतां मंगल गावतां, गेहुली दिये मन रंगे॥

श्री कल्पसूत्र की ढाल में भी देखो, गुरु की नौ अङ्गी पूजा का विधान है।

पू० आचार्य श्री पादलिप्ताचार्य कृत निर्वाणकलिका
में पृष्ट २६ ए पर देवगुरु संघपूजा
तथा भगवान की पूजा करके
आचार्य की यथाशक्ति पूजा
करके—' ऐसा स्पष्ट
उल्लेख है। इसमें
नौ अङ्ग या
एक का उल्लेख
भले स्पष्ट नहीं है
परन्तु गुरुपूजा का
तो स्पष्ट उल्लेख
है हीं।

आत्सन्ध्यक्षरस्य ।४।२।१।

धातोः सन्ध्यक्षरान्तस्यात् स्यात् । संव्याता, सुग्लः । धातोरित्येव-गोभ्याम् ॥१॥

उत्तरसूत्रेण पृथग्योगाद् निर्निमित्तोऽयमादेशः । निर्निमित्तत्वात् धातोः पूर्वमाकारः क्रियते, पश्चात् आकारान्तधातुमाश्रित्य आकारान्तलक्षणः प्रत्ययः तेन सुष्ठु ग्लायतीति सुग्ल इत्यत्र 'उपसर्गादा० ।५।१।५६। इति डप्रत्ययः सिद्धः । चेतेत्यादावथ भविष्यतीति चेन्मैवमत्र लाक्षणिकत्वान्न भवति ॥१॥

न शिति ।४।२।२।

सन्ध्यक्षरान्तस्य शिति विषयभूते आन्न स्यात् । संव्ययति ॥२॥

व्येंग् तन्तुसन्ताने यजादिः ॥२॥

व्यस्थव्णवि ।४।२।३।

व्यः थवि णवि च विषये आन्न स्यात् ॥३॥

संविव्ययेत्यत्रापि न आत्वम् ॥३॥

स्फुरस्फुलोर्घञि ।४।२।४।

अनयोः सन्ध्यक्षरस्य घञि आत्स्यात् । विस्फारः, विस्फालः ॥४॥

"वेः" ।२।३।५४। इति षत्वस्य विकल्पपक्षे उदाहृतम् ।।४।।

वापगुरो णमि ।४।२।५।

अपपूर्वस्य गुरेः सन्ध्यक्षरस्य णम्याद् वा स्यात् । अपगारमपगारम् । अपगोरमपगोरम् ।।५।।

गुरैति उद्यमे अभीक्ष्णमपगूय अपगुरणं पूर्वं वेति 'ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये' ५।४।४८। इति ख्णं द्वित्वं न । न च ख्णम्प्रत्ययेनैव आभीक्ष्ण्यस्योक्तत्वात् द्वित्वं न प्राप्नोतीति वाच्यं शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् केवलख्णम् आभीक्ष्ण्यं न द्योतयतीत्यतः द्वित्वापेक्षेति ।।५।।

दीङः सनि वा ।४।२।६।

दीङः सन्याद् वा स्यात् दिदासते, दिदीषते ।।६।।

दीङ्च् शब्दे ।।६।।

यबक्ङिति ।४।२।७।

दीङो यप्यक्ङिति च विषये आत्स्यात् । उपदाय, उपदाता, उपदायो वर्तते ।।७।।

उपदायो वर्तते—विषयसप्तमी—निर्देशात्पूर्वमेवात्त्वे सति आकारान्तलक्षणो णो घञ् च भवति । यदा उपादानमिति भावविवक्षा तदा 'युवर्णवृ० ।५।३।२८। इत्यल्विषये आत्वे 'भावाकर्त्रोः ।५।३।१८। इति घञ् यदा तूपादीयते इति कर्तृविवक्षा तदापि णकविषये आत्वे 'तन्व्यधी० ५।१।६४ सूत्रात् णः । न च घञः कथमाकारान्तलक्षणत्वं सामान्येन तस्य विधानादिति वाच्य घञोऽप्याकारान्तलक्षणत्वं सामान्यमस्ति यतः आकाराभावे ईदन्तत्वादल् स्यात् । न च णं बाधित्वा उपसर्गाद् विशेषेण

'उपसर्गादातः' ।५।३।११०। इति डो भविष्यतीति वाच्यं डविषये बाहुलकादात्त्वं नेष्टमिति । अनन्तरसूत्रे दीङ इति सानुबन्धनिर्देशात् यङ्लुपि नाकारः ।।७।।

मिग्मीगोऽखलचलि ।४।२।८।

अनयोर्यपि खल्अच्अल्वर्जेऽक्ङिति च विषये आत्स्यात् । निमाय, निमाता । प्रमाय । प्रमाता । अखलचलीति किम् ? ईषद्विलयः, विलयः, विलयोऽस्ति ।।८।।

डुमिग्ट् प्रक्षेपणे मिनोति इति प्रथमो धातुः, मीग्श् हिंसायाम् मीनाति इति द्वितीयो धातुरत्र सूत्रे गृहीतः । **निमायेति**=प्रक्षेप्येत्यर्थः । न च तृच्प्रत्ययविषये आत्त्वे 'तन्व्यधी० ।५।१।६४ इति णे विसर्गान्तमपीदं रूपम् तर्हि निमातेति कथमिति वाच्यम् 'असरूपोप०' ।५।१।६१। सूत्रादसरूपत्वात्तृजपि । अत्र मिग्मीग इति भणनात् मिङ्च् हिंसायामिति दैवादिकस्य मीण् गताविति युजादेश्च ग्रहणं न भवति । ईषद् अनायासेन निमीयते-ईषन्निमयः, ईषन्निमयः, दुःखेन प्रमीयते=दुष्प्रमयः 'दुःस्वीषतः० ।५।३।१३९। सूत्रेण खल् । मिनोति दुःखमिति मयः कर्तरि अच्प्रत्ययः । आ=सामस्त्येन मीनाति=हिनस्ति प्राणिनमिति=आमयः कर्तर्यच् । अल्प्रत्यये निमयः, प्रमयम् इत्युदाहृतम् । 'मिग्मीग्' इति गकारनिर्देशात् यङ्लुपि नात्त्वम् ।।८।।

लीङ्लिनोर्वा ।४।२।९।

अनयोर्यपि खल्अच्अल्वर्जे क्ङिति च विषये आद् वा स्यात् । बिलाय, विलीय, विलाता, विलेता । अखलचलीति किम् ? ईषद्विलयः विलयः, विलयोऽस्ति ।।९।।

लीङ्च् श्लेषणे, लीश् श्लेषणे इति द्वयोरपि समानं रूपम् । णे विलाय इत्यपि भवति ।।९।।

णौ क्री-जीङः ।४।२।१०।

एषां णौ आत्स्यात् । क्रापयति, जापयति, अध्यापयति ॥१०॥

डुक्रींग्श् द्रव्यविनिमये(क्र्यादिः), जिं अभिभवे (भ्वादिः) इङ्क् अध्ययने अदादिः, अस्याधिनाऽवश्यंभावी योगः। सर्वत्र 'अतिरीव्ली० ।४।२।२१। सूत्रेण पोन्तः ॥१०॥

सिध्यतेरज्ञाने ।४।२।११।

अज्ञानार्थस्य सिध्यतेर्णौ स्वरस्यात् स्यात् । मन्त्रं साधयति । अज्ञान इति किम् ? तपस्तापसं सेधयति ॥११॥

सध्यक्षरप्रस्तावात् 'स्वरस्य' इति लभ्यते, अन्यथा 'पष्ठ्याऽन्त्यस्य ।७।४।१०६। सूत्रात् धकारस्यैव स्यात् । सिध्यतेरित्यत्र यकारनिर्देशात् षिधू'च् संराद्धाविति दिवादिर्गृह्यते षिधू गत्यामिति भ्वादेर्ग्रहणं न भवति । **सेधयति**—सिध्यति जानीते तापसः ज्ञानविशेषमासादयति, तपः तं तापसं प्रयुङ्क्ते तप एवैनं सेधयति अनुभवविशेषमु—त्पादयति इत्यर्थः । अनुभवः साक्षात्कारः स च ज्ञानमेव ॥११॥

चिस्फुरर्नवा ।४।२।१२।

चिस्फुरोर्णौ स्वरस्याद् वा स्यात् । चापयति, चाययति, स्फारयति, स्फोरयति ॥१२॥

'स्फरत् स्फुरणे' धातुनैव सिद्धे स्फुरेरात्त्ववचनं ण्यन्तात्सनि पुस्फारयिषती-त्येवमर्थम् ॥१२॥

वियः प्रजने ।४।२।१३।

गर्भाधानार्थस्य वियो णौ वा आत्स्यात्। पुरो वातो गाः प्रवापयति, प्रवाययति ॥१३॥

प्रजनः=गर्भग्रहणम्। 'भावाकर्त्रोः ।५।३।१८। इतिघञ् 'नजनबधः' ४।३।५४। सूत्रेण वृद्धिर्न भवति। **वातेः प्रजने वृत्तिर्नास्तीत्यारम्भः।** पुरो वातो गाः **प्रवापयति, प्रवाययति**—गर्भं ग्राहयतीत्यर्थः। पूर्वस्या दिश आगतः 'पूर्वापरा०' ।७।२।११५। इत्यस्। वातः=पवनः। गो+द्वितीयाशस्, 'आ अम्शसोऽता० ।१।४।७५। इत्याकारः। वींक् "प्रजनकान्त्यसनखादने च" ॥१३॥

रुहः पः ।४।२।१४।

रुहेर्णौ प् वा स्यात रोपयति, रोहयति वा तरूम् ॥१४॥

रोहत्यर्थे रूप्यतिर्न दृश्यते इति योगारम्भः ॥१४॥

लियो नोऽन्तः स्नेहद्रवे ।४।२।१५।

लियः स्नेहद्रव्ये गम्ये णौ नोन्तो वा स्यात्। घृतं विलीनयति, विलाययति। स्नेहद्रव्य इति किम्? अयो विलाययति ॥१५॥

लीङ्च् श्लेषणे, लीश् श्लेषणे, लींण् द्रवीकरणे इति त्रयाणामपि सामान्येन ग्रहणम्। **घृतं विलीनयति, घृतं विलाययति**—अत्र लीधातोर्णिग् वृद्धिरायादेशः। लिय ई ली इति ईकारप्रश्लेषाद् ईकारान्त स्यैव नोन्तो भवति। 'लीङ्लिनोर्वा ।४।२।९। सूत्रेण विकल्पेनात्त्वविधानं, कृतात्त्वस्य तु 'लो लः ।४।२।१६। इति लोऽन्तः 'अर्तिरी० ।४।२।२१। इति पोन्तश्च भवति। तदा घृतं विलीनयति, विलाययति, विलालयति, विलापयतीति रूपचतुष्टयम् ॥१५॥

लो लः ।४।२।१६।

लारूपस्य णौ स्नेहद्रव्ये गम्ये लोऽन्तो वा स्यात् । घृतं विलालयति, विलापयति वा । स्नेहद्रव्य इत्येव-जटाभिरालापयते ॥१६॥

जटाभिरालापयते—परैः स्वं पूजयतीत्यर्थः लीङ्लिनोर्वा० ।३।३।९० इत्यनेनात्वमात्मनेपदं च ॥१६॥

पातेः ४ ।२।१७।

पातेर्णौ लोऽन्तः स्यात् । पालयति ॥१७॥

पृथग्योगाद् नवेति निवृत्तम् । 'पातेः' इत्यत्र तिब्निर्देशो धात्वन्तरनिवृत्त्यर्थः, तेन पांक् रक्षणे इति पैं अदादिको गृह्यते, पां पाने, पैं शोषेण इति धातुद्वयं निवार्यते । यतोऽनयोः पाययति इति प्रयोगः । तिब्निर्देशो यङ्लुब्निवृत्त्यर्थश्च । पलण् रक्षणे इति चुरादिकेनैव सिद्धे पातेर्णौन्तः स्यादिति वचनम् ॥१७॥

धूग्प्रीगोर्नः ।४।२।१८

धूग्प्रीगोर्णौ नोऽन्तः स्यात् । धूनयति: प्रीणयति ।१८।

धूगट्कम्पने, धूगश् कम्पने, धूग् कम्पने इति त्रयोऽप्यत्र ज्ञातव्याः । 'प्रींगृश् तृप्तिकान्त्योः,प्रीगृण् तर्पणे' । धातुद्वयं प्रीगित्यनेनगृह्यते। अनुबन्धनिर्देशो धवतिप्रीयतिनिवृत्त्यर्थः, यङ्लुब्निवृत्त्यर्थश्च ॥१८॥

वो विधूनेनजः ।४।२।१९।

वा इत्यस्य विधूननेऽर्थे णौ जोऽन्तःस्यात् । पक्षेणोपवाजयति । विधूनन इति किम् ? उच्चैः केशानावाययति ॥१९॥

उपवाजयति—वांक् गतिगन्धनयोरित्यस्य न तु ओवैं इत्यस्य विधूनने वृत्त्यभावात् । आवापयति—शोषयतीत्यर्थः । ओवैं शोषणे 'आत्सन्ध्यक्षरस्य ।४।२।१ इति । वजिनैव सिद्धे वाते रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥१६॥

पाशाछासावेव्याह्वो यः ।४।२।२०।

एषां णौ योऽन्तः स्यातः । पाययति, शाययति, अवच्छाययति, अवसाययति, वाययति, व्याययति, ह्वाययति ॥२०॥

पोरपवादो योगः । पां पाने, पैं शोषणे **पाययति** । पातेस्तु लकार उक्तः । शोच् शाययति । छोंच् छाययति । सों सैं वा अवसाययति । वेंग् वाययति । **वे** इत्यनात्वेन निर्देशो वांक् गतिगन्धनयोः, ओवैं शोषणे इत्यनयोर्निवृत्त्यर्थः । व्येंग्-व्याययति, ह्वेंग् ह्वाययति । एषां कृतात्वानां ग्रहणादिह लाक्षणिकस्यापि ग्रहणं भवति तेन क्राययतीत्यादि सिद्धम् ॥२०॥

अर्तिरीव्लीह्रीक्नूयिक्ष्माय्यातां पुः ।४।२।२१।

एषामादन्तानां च णौ पुरन्तः स्यात् । अर्पयति, रेपयति, व्लेपयति, ह्रेपयति, क्नोपयति, क्ष्मापयति, दापयति, सत्यापयति ॥२१॥

अर्तीति—'ॠ गतौ' 'ॠ प्रापणे च' इत्यनयोर्ग्रहणं 'सामान्यनिर्देशात् । तिब्निर्देशो यङ्लुब्निवृत्त्यर्थः । **रीति**—रीङ्च् स्रवणे, रीश् गतिरेषणयोः इति द्वयोरपि ग्रहणम् । 'व्लीश् वरणे' व्लेपयति । ह्रींक् लज्जायाम् ह्रेपयति । क्नूयैङ् शब्दोन्दनयोः क्नोपयति 'य्वोः प्वय्व्यञ्जने लुक् ।४।४।२१ इति यस्य लुक् । क्ष्मायैङ् विधूनने-क्ष्मापयति । **बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्** तेन नाम्नोपि सत्यमाचष्टे सत्यापयति 'सत्यार्थवेदस्याः ।३।४।४४ इत्याकारः ॥२१॥

स्फाय् स्फाव् ।४।२।२२।

णौ स्फायः स्फाव् स्यात् । स्फावयति ॥२२॥

स्फायैङ् वृद्धौ । अभेदनिर्देशाभावेऽन्त्यस्यादेशः स्यात् ॥२२॥

शदिरगतौ शात् ।४।२।२३।

शदिरगत्यर्थे णौ शात्स्यात् । पुष्पाणि शातयति । अगताविति किम्-गाः शादयति ॥२३॥

शादयति=गोपालो गा गमयतीत्यर्थः ॥२३॥

घटादेर्ह्रस्वो दीर्घस्तु वा ञिणम्परे ।४।२।२४।

घटादीनां णौ ह्रस्वः स्यात् । ञिणम्परे तु णौ वा दीर्घः । घटयति, अघाटि, अघटि, घाटं घाटम्, घटं घटम् । व्यथयति, अव्याथि, अव्यथि, व्याथं व्याथम्, व्यथं व्यथम् ॥२४॥

भ्वादिपर्यन्ते घटादिगणः । सूत्रे घटादयः पठितार्था एव ह्रस्वदीर्घकार्ये गृह्यन्ते, अर्थान्तरे तु घटादीनां न ह्रस्वविधिः, उपसर्गैः प्रायेणार्थान्तरं भवति यथा उद्घाटयति, अत्र न ह्रस्वः । घटिष् चेष्टायाम् घटमानं प्रयुङ्क्ते 'प्रयोक्तृव्यापारे णिग् ।३।४।२०। इत्यनेन णिग् 'ञ्णिति' ।४।३।५० सूत्रेण वृद्धिः **अघाटि, अघटीयत** णिग्, अद्यतनीत 'भावकर्मणोः ।३।४।६८ सूत्रेण ञिच्, अद्यतनीतकारलोपश्च । अभीक्ष्णं घटनं पूर्वम् इति, घाटं-घाटम् "खणम् चाभीक्ष्ण्ये' ।५।४।४८ सूत्रेण खणम्प्रत्ययः णिग्पूर्वः, प्रकृत-सूत्रेण विकल्पेन ह्रस्वः । 'भृशाभीक्ष्ण्या० ।७।४।७३। सूत्रेण द्वित्वम् । ननु णिगो लोपस्य 'स्थानिवद्भावेन घटादीनां व्यवहितत्वात् ञिणम्परे णौ न स्याद्ध्रस्वविकल्पः इति नाऽऽशङ्कनीयं दीर्घविधिं प्रति 'न सन्धि० ।७।४।१११। सूत्रेण स्थानिवद्भावनिषेधात्। क्ञिजदक्ष्यादीनां घटादिपाट-त्वादनुपान्त्यस्यापि दीर्घो भवति ॥२४॥

कगेवनूजनैजृष्क्नस्रञ्जः ।४।२।२५।

एषां णौ ह्रस्वः स्यात् ञिणम्परे तु वा णौ दीर्घः । कगयति । अकागि । अकगि । कागंकागम् । कगंकगम् । उपवनयति । उपावानि । उपावनि । उपवानमुपवानम् । उपवनमुपवनम् । जनयति । अजानि । अजनि । जानंजानम् । जनंजनम् । जरयति । अजारि । अजरि । जारंजारम् । जरंजरम् । क्नसयति । अक्नासि । अक्नसि । क्नासंक्नासम् । क्नसंक्नसम् । रजयति । अराजि । अरजि । राजंराजम् रजंरजम् ॥२५॥

घटादीनां धातुपाठे पठितार्थानामेव ग्रहणमर्थान्तरे तु उद्घाटयतीत्यादौ न ह्रस्वविधिः यतः उपसर्गः प्रायेणार्थान्तरं भवति । पूर्वेण पृथग्योगाद् कगादीनां त्वर्थविशेषो नोपादीयते । कगे इति सौत्रो धातुः एकारश्चैदित्कार्यार्थः तेन अकगीदित्यत्र 'व्यञ्जनादेर्वा० ।४।३।४७। सूत्रेण प्राप्तवृद्धेः 'न श्विजागृ०' ।४।३।४९। सूत्रेणैदित्वात्प्रतिषेधः । 'वनू' इति ऊकारनिर्देशात् 'वनुयि याचने' इति धातुर्ग्राह्यः 'वन संभक्तौ' इत्यस्य न ह्रस्वदीर्घविधिः रजयति—'रञ्जीं रागे इति भ्वादिः रञ्जींच् रागे दिवादिर्वा, णिग् 'णौ मृगरमणे' ।४।२।५१। सूत्रात् नलोपः, नलोपे वचनस्य चरितार्थत्वात् नलोपाभावे 'अरञ्जि, रञ्जं रञ्जम् इत्यत्र वा दीर्घो न भवति ॥२५॥

अमोऽकम्यमिचमः ।४।२।२६।

कम्यमिचमिवर्जस्यामन्तस्य णौ ह्रस्वः स्यात् ञिणम्परे तु वा णौ दीर्घः । रमयति । अरामि । अरमि । रामंरामम् । अकम्यमिचम इति किम् । कामयते । अकामि । कामंकामम् । आचामयति ॥२६॥

रमयति, अरामि, अरमि, रामंरामम्, रमंरमम्—उदाहरणेषु सर्वत्र णिग्

'ञ्णिति' ।४।३।५०। सूत्रेण वृद्धिः, आ, । अद्यतनीत, 'भावकर्मणोः ।३।४।६८। सूत्रेण ञिच्त, लोपश्च । 'ख्णं चाभी० ।५।४।४६। सूत्रेण ख्णम् । 'भृशाभी० ।७।४।७३। सूत्रेण सर्वत्र द्वित्वम् । ख्णमुदाहरणे प्रथमासिः 'अव्ययस्य' ।३।२।७। सूत्रेण सेर्लोपः ॥२६॥

पर्यपात् स्खदः ।४।२।२७।

आभ्यामेव परस्य स्खदेर्णौ ह्रस्वः स्यात् ञ्णिम्परे तु वा दीर्घः । परिस्खदयति । पर्यस्खादि । पर्यस्खदि । परिस्खादं परिस्खादम् । परिस्खदं परिस्खदम् । अपस्खदयति । अपास्खादि । अपास्खदि । अपस्खादमपस्खादम् । अपस्खदमपस्खदम् । पर्यपादिति किम् । प्रस्खादयति ॥२७॥

स्खदेर्घटादिपाठेन सिद्धे आभ्यामेवेति नियमार्थं वचनम् तेनान्योपसर्गपूर्वस्य न भवति । विपरीतनियमस्तु न भवति 'एकोपसर्गस्य'० ।४।२।३४। सूत्रेण परिच्छद इत्यत्रापि ह्रस्वविधानसामर्थ्यात् ॥२७॥

शमोऽदर्शने ।४।२।२८।

अदर्शनार्थस्य शमेर्णौ ह्रस्वः स्यात् ञ्णिम्परे तु वा दीर्घः । शमयति रोगम् । अशामि । अशमि । शामंशामम् । शमंशमम् । अदर्शन इति किम् । निशामयति रूपम् ॥२८॥

दर्शन एव केचिदिच्छन्ति तेषां मते उदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्वैषम्यम् ॥२८॥

यमोऽपरिवेषणे णिचि च ।४। ।२८।

अपरिवेषणार्थस्य यमो णिचि अणिचि च णौ ह्रस्वः स्यात् । ञ्णिम्परे तु वा दीर्घः । यमयति । अयामि । अयमि । यामंयामम् । यमंयमम् । अपरिवेषण इति किम् । यामयत्यतिथिम् ॥२९॥

'यम् उपरमे भ्वादि।, यमण् परिवेषणे चुरादिः' धातुद्वयमप्यत्र ग्राह्यमत एवोक्तं णिचि अणिचि चेति। चकारोऽ णिचि चेत्यस्यानुकर्षणार्थः। **णाविति सिद्धे अस्य णिचि चेति वचनान्नैवेह णिचि न भवति। यामयत्यतिथिम्**-परिवेषणक्रियया तं व्याप्नोतीत्यर्थः । परिवेषणमिह भोजनविषयि सूर्यादिवेष्टनं च गृह्यते तेन यामयति चन्द्रमसमित्याद्यपि ॥२९॥

मारणतोषणनिशाने ज्ञश्च ।४।२।३०।

एष्वर्थेषु ज्ञो णिचि अणिचि च णौ ह्रस्वः स्यात् ञिणम्परे तु वा दीर्घः । संज्ञपयति पशुम् । विज्ञपयति राजानम् । प्रज्ञपयति शस्त्रम् । अज्ञापि, अज्ञपि, ज्ञापंज्ञापम्, ज्ञपंज्ञपम् ॥३०॥

चकारो णिचि चेत्यस्यानुकर्षणार्थः । धातोराकर्षणे फलाभावात्प्रकृतेरपि स्थितः चकारः प्रत्ययमाकर्षति इदमपि स्वरूपाख्यानमेव अधिकारायातमेव चकारेणानुनीयते अन्यथा चानुकृष्टं नानुवर्तेत । ज्ञाधातु 'ज्ञांश् अवबोधने इति क्र्यादिः ज्ञाण मारणादिनियोजनेषु इति चुरादिः द्वयमप्यत्र ज्ञातव्यम् । यदि चुरादिस्तदा 'चुरादिभ्यो णिच्। ।३।४।१७। भवति, यदि च क्र्यादिस्तदा 'अणिच्' इति विशेषः । इह 'यमोऽपरिवेषणे णिचि च, ।४।२।२९। इति पूर्वसूत्रे णिचि अणिचि च णौ रूपसाम्येऽ प्यर्थभेदः । ज्ञाण्धातोः प्रथममेव मारणमिति धात्वर्थः स्वार्थः । ज्ञांश् धातोस्तु प्रयोक्तृ-व्यापारे मारणमर्थः प्रथमं मरणमर्थ इति विशेषः । **संज्ञपयति**— 'आदेशादागमः' इति न्यायात् ह्रस्वात्प्रागेव प्वागमः । **प्रज्ञपयति** निशानं तीक्ष्णीकरणमित्यर्थ ॥३०॥

चहणः शाठ्ये ।४।२।३१।

चहेश्चुरादेः शाठ्यार्थस्य णिचि णौ ह्रस्वः स्यात् ञिणम्परे तु वा दीर्घः । चहयति । अचाहि । अचहि । चाहंचाहम् । चहंचहम् । शाठ्य इति किम् । अचहि ॥३१॥

चहण कल्कने इति अदन्तो धातुः, अदन्तत्वात् दीर्घोऽप्राप्तः ह्रस्वः सिद्ध

एवास्ति **दीर्घार्थं वचनम् कृतम्** । णित्करणाद् भ्वादिकस्य ग्रहणं न भवति । न चादन्तस्य ग्रहणः भ्वादिकस्य च ग्रहेः सर्वमेव सेत्स्यति किमर्थ-मेतद् वचनमिति वाच्यम् सूत्रं विना ग्राहिष्यते इति न सिध्यति तथाहि-भ्वादेः स्वरान्तत्वाभावात् 'स्वर० ।३।४।६६। सूत्रेण ञिट् नायाति । चुरादिग्रहणस्तु अदन्तत्वात् ञिटि सत्यपि वृद्धिप्राप्ता । ननु णिगि सति भ्वादेः सिध्यतीति नेत्तर्हि अर्थभेदः स्यादतः सूत्रं कृतम् ॥३१॥

ज्वलह्वलह्मलग्लास्नावनूवमनमोऽनुपसर्गस्य वा ।४।२।३२

एषामनुपसर्गाणां णौ ह्रस्वो वा स्यात् । ज्वलयति । ज्वालयति । ह्वलयति । ह्वालयति । ह्मलयति । ह्मालयति । ग्लपयति । ग्लापयति । स्नपयति । स्नापयति । वनयति । वानयति । वमयति । वामयति । नमयति । नामयति । अनुपसर्गस्येति किम् । प्रज्वलयति । प्रह्वलयति । प्रह्मलयति । प्रग्लापयति । प्रस्नापयति । प्रवनयति । प्रवमयति । प्रणमयति ॥३२॥

ग्लास्नोरप्राप्ते शेषाणां तु प्राप्ते विभाषा । अनेन वा ह्रस्वविधानात् अज्वालि, अज्वलि । ज्वालं ज्वालम्, ज्वलंज्वलम् इत्यादि षु दीर्घ विकल्पः सिद्ध एवेति ञिणम्परे इति नानूद्यते ॥३२॥

छदेरिस्मन्त्रट्-क्वौ ।४।२।३३।

छदेरिस्मन्त्रट्क्विपरे णौ ह्रस्वः स्यात् । छदिः छद्मः, छत्री, उपच्छत् ॥३३॥

छदण् संवरणे 'चुरादिभ्यो णिच् ।३।४।१७। सूत्रेण णिचि छादयतीति 'रूच्यर्चि० । उणादि० ९८९ इत्युणादिसूत्रेण इस् । छद्म इत्यत्र 'मन्वन्०

।५।२१।४७। सूत्रेण मन् । छत्री छादयतीति छत्रं छत्रो वा घर्मवारणम् । त्रडिति वचनाद्गुणादिशे ह्रस्वो न भवति यथा छात्रः । क्विपि उपच्छत् ॥३३॥

एकोपसर्गस्य च घे ।४।२।३४।

एकोपसर्गस्यानुपसर्गस्य च छदेर्घपरे णौ ह्रस्वः स्यात् । प्रच्छदः । छदः । एकोपसर्गस्य चेति ? समुपच्छादः ॥३४॥

प्रच्छाद्यतेऽनेन=प्रच्छदः, छाद्यतेऽनेन=छदः-"पुन्नाम्नि घः ।५।३।१३० सूत्रात् घप्रत्ययः ॥३४॥

उपान्त्यस्यासमानलोपिशास्वृदितो ङे ।४।२।३५।

समानलोपिशास्वृदिद्वर्जस्य धातोरुपान्त्यस्य ङपरे णौह्रस्वः स्यात् । अपीपचत् । भाववानटिटत् । असमानलोपिशास्वृदित इति किम् ।अत्यरराजत् । अशशासत् । मा भवानोणिणत् ।३५।

कृताकृतप्रसाङ्गित्वं नित्यत्वम् । अत्र नित्यत्वं द्विवर्चनस्य । **नित्यमपिद्विर्वचनं बाधित्वा प्रागेव ह्रस्वो भवति ओणेर्ऋदित्करणज्ञापकात्** । मा भवानटिटदित्यत्र ह्रस्वत्वे कृतेऽकृतेऽपि द्वित्वं प्राप्नोतीतिनित्यम् । ह्रस्वस्तु द्वित्वे कृतेन प्राप्नोतीयनित्यः । न केवलं द्विर्वचनं बाधित्वा प्रागेव ह्रस्वः अपितु 'प्राक्तु स्वरे स्वरविधेः' इत्यपि बाधित्वा । प्राग् द्वित्वे कृते तु अटिटदित्यत्राकारस्य ह्रस्वो न स्यात् । अत्र ओणृधातोः ऋदित्करणं ज्ञापकम् । ऋदित्करणं हि 'मा भवानोणिणत्' इत्यत्र ऋदित्वात् 'उपान्त्यह्रस्वत्वप्रतिषेधः' स्यादित्येवमर्थं क्रियते । यदि चात्र 'ओणिणदित्यत्र नित्यत्वात्प्रागेव द्वितीयावयवस्य द्वित्वं स्यात्तदाऽनुपान्त्यत्वादेव ह्रस्वस्याप्राप्तिरिति किं ह्रस्वनिवृत्त्यर्थेन ऋदित्करणेन ? **अत्यरराजत्**—राजानमतिक्रान्तः=अतिराजः, अतिक्रान्तोः राजानं वा 'राजन्सखेः' ।७।३।१०६। सूत्रेण अट्समासान्तः, 'नोऽपदस्य तद्धिते' ।७।४।६१। सूत्रात् नस्य लोपः ।

अतिराजमाख्यत् "णिज्बहुलं० ।३।४।४२। सूत्रात् णिच्, 'त्र्यन्त्यस्वरादेः ।७।४।४३। सूत्रादन्त्यस्वरलोपः "अन्यस्य' ।४।१।८। सूत्राद् द्वित्वम् । शासे-रूदित्करणं ग्रह्लुब्निवृत्त्यर्थम् । येन नाव्यवधानमिति न्यायादेकेन वर्णेन व्यवधानेऽपि स्वरः ह्रस्वस्य स्थानी भविष्यतीति किमुपान्त्यग्रहणेनेति चेदत्रोच्यते उपान्त्यग्रहणमुत्तरार्थम् अन्यथा 'ऋद्वर्णस्य ।४।२।३७। सूत्रेणा-न्त्यस्यापि ऋकारस्य ऋत् स्यात् ।।३५।।

भ्राज-भास-भाष-दीप-पीड-जीव-मील-कण-रण-वण-भण-श्रण-ह्वे-हेठ-लुट-लुप-लपां नवा ।४।२।३६

एषां ङपरे णावुपान्त्यस्य ह्रस्वो वा स्यात् । अबिभ्रजत्, अबभ्रा-जत् । अबीभषत् अबभाषत् । अदीदिपत् आदिदीपत् ।अपीपिडत्, अपिपीडत् ।अजीजिवत् अजिजीवत्। अमीमिलत् अमिमीलयत्।अची कणत् अचकाणत् ।अरीरणत्,अरराणत् । अवीवणत्, अववाणत् । अबीभणत्, अबभाणत् । अशिश्रणत्, अशश्राणत् । अजूहवत्, अजुह्वावत् । अजीहिठत्, अजिहेठत् । अलूलुटत्, अलुलोटत् । अलूलुपत, अलुलोपत् । अलीलपत्, अललापत् ।।३६।।

एजृङ् भ्रेजृङ् भ्राजि दीप्तौ अथवा राजृग् टुभ्राजी दीप्तौ भ्राज् । भासि दीप्तौ भास् । भाषि च व्यक्तायां वाचि इति भाष् । दीपैचि दीप्तौ इति दीप् । पीडण् गहणे इति पीड् । जीव प्राणधारणे इति जीव । मील निमे-षणे । 'अण रण वणेति दण्डकधातौ कण, रण, वण, भण। श्रण दाने, इत्य-स्य श्रणधातोर्दानार्थस्य घटादित्वात् ह्रस्वत्वं सिद्धमेवास्ति श्रणण् दाने इत्य स्यतु 'यमोऽपरि०' ।४।२।२९ सूत्रेण णिचि यम एवेति नियमादप्राप्तस्य विकल्पः । अत्र च पाकार्थेऽर्थान्तरे सति प्रकृतसूत्रेण विकल्पेन ह्रस्वः । ह्वेग् स्पर्द्धाशब्दयोः । हेठि विबाधायाम् । लुटच् विलोटने । लुप्लृंती छेदने । लप व्यक्ते वचने । बहुवचनं शिष्टप्रयोगानुसारेणान्येषामपि परि-ग्रहार्थं तेन अबिभ्रसत् अबभ्रासदित्याद्यपि सिध्यति ।।३६।।

ऋद्वर्णस्य ।४।२।३७।

उपान्त्यस्य ऋवर्णस्य ङपरे णौ वा ऋः स्यात् । अचीवृतत् । अववर्त्तत् । अचीकृतत् । अचिकीर्त्तत् ॥३७॥

"उपान्त्यस्या०' ४।२।३५। सूत्रात् उपान्त्यस्येत्यनुवृत्तित्वात् उपान्त्य ऋवर्णो ग्राह्यः । अन्यथा यदि तत्र सूत्रेउपान्त्यस्येत्यगृहीतं स्यात्तदा येन नाव्यवधा-नमिति न्यायेनैव तत्र सेत्स्यति परन्त्वत्र अन्त्यस्यापि ऋकारस्य ऋः स्यात् । **अचीवृतदिति**–ऋकारस्यापि ऋत्करणादत्र गुणो बाध्यते । ननु वर्णग्रहणं कथम्, 'ऋद्दतः 'इत्येव सूत्र्यताम् ? यद्येवं क्रियते तदाऽ **चीकृतदित्ययं** प्रयोगो न निष्पद्येत । ह्रस्वाधिकारेणैव सिद्धे ऋत्करणमचीकृतदित्यत्र गुणनिषेधार्थम् । न च ह्रस्वकरणसामर्थ्याद् गुणो न भविष्यतीति वाच्यं गुणकरणे ह्रस्वस्य चरितार्थत्वात् । **अचिकीर्तत्**—'कृतः कीर्त्तिः ।४।२।१२ इति ॥३७॥

जिघ्रतेरिः ।४।२।३८।

घ्र उपान्त्यस्य ङपरे णौ इर्वा स्यात् । अजिघ्रिपत्, अजिघ्रपत् ॥३८॥

तिन्निर्देशो यङ्लुब्निवृत्त्यर्थः ॥३८॥

तिष्ठतेः ।४।२।३९।

स्थ उपान्त्यस्य ङपरे णौ इः स्यात् । अतिष्ठिपत् ॥३९॥

तिन्निर्देशो यङ्लुब्निवृत्त्यर्थः । योगविभागः नित्यार्थः ॥३९॥

ऊद् दुषो णौ ।४।२।४०।

दुषेरुपान्त्यस्य ङपरे णौ ऊत्स्यात् । दूषयति ॥४०॥

पुनर्णिग्रहणं ङनिवृत्त्यर्थम् । दुष्यन्तं प्रयुङ्क्ते—**दूषयति** । धातोः स्वरूपग्रहणे

तत्प्रत्ययविज्ञानात् दोषणं दुट् क्विप्–दुषमाचष्टे–दुषयति इत्यत्र न भवति ॥४०।

चित्ते वा ।४।२।४०।

चित्तकर्तृकस्य दुषेरुपान्त्यस्य णौ परे ऊद् वा स्यात् मनो दूषयति, मनो दोषयति मैत्रः ॥४०॥

मनो दूष्यतितन्मैत्रः प्रयुङ्क्ते । चित्तसहचारित्वात्प्रज्ञाया अपि ग्रहणात् प्रज्ञां दूषयति, दोषयतीत्यत्रापि विकल्पः ॥४०॥

गोहः स्वरे ॥४।२।४१।

कृतगुणस्य गुहेः स्वरादावुपान्त्यस्योत्स्यात् । निगूहति । गोह इति किम् ? निजुगुहुः ॥४१॥

गुहौग् संवरणे । **निजुगुहुः**—'इन्ध्यसंयोगात्० ।४।३।२१। सूत्रेणावित्परोक्षायाः किद्वद्भावाद् गुणाभावः ॥४१॥

भुवो वः परोक्षाद्यतन्योः ।४।२।४३।

भुवो वन्तस्योपान्त्यस्य परोक्षाद्यतन्योरुत्स्यात् । बभूव, अभूवन् । व इति किम् ? बभूवान्, अभूत् ॥४३॥

वृद्धिगुणोवादेशेषु कृतेषु भुवो वकारान्तत्वम् । **बभूव**—'भूस्वपोरदुतौ' ।४।१।७०। सूत्रेण द्वित्वे पूर्वस्याकारः । **अभूवन्**—अद्यतनी अन्, सिच्, अट्, 'पिबैति० ।४।३।६६। सूत्रात् सिच्लोपः, 'धातोरिवर्णो० ।२।४।५०। सूत्रेण भुवः ऊकारस्थाने उः आदेशः, उवादेशे कृते 'भुवो वः० ।४।२।४३। सूत्रेण उकारस्य ऊः आदेशः । **बभूवान्**—क्वसौ परोक्षायां 'उवर्णात्० ।४।४।५८। सूत्रादिड्भावः । व इति कथनाभावे उपान्त्यस्येत्यधिकाराद्

अस्योत् स्यात् । यद्वा नन्वत्र पूर्वसूत्रात् स्वरे इत्यनुवर्त्यं ततश्च परोक्षाद्यतन्यो: स्वरे परे इति व्याख्याने स्वयमेव वकारान्तत्वं लप्स्यते किं वग्रहणेन ? उच्यते यदि स्वरोऽनुवर्त्यते तदोत्तरसूत्रेऽनुवर्तमानो दुर्निवार: स्यात्तथा सति स्रस्त: इत्यादौ "नो व्यञ्जनस्या० ।४।२।४५। सूत्रात् नलोपो न स्यात्, अत एव "गमहन०' ।४।२।४४। सूत्रे स्वरग्रहणं कृतम् ।।४३।।

गमहनजनखनघस: स्वरेऽनङि क्ङिति लुक् ।४।२।४४।

एषामुपान्त्यस्याङ्वर्जे स्वरादौ क्ङिति लुक् स्यात् । जग्मु:, जघ्नु: जज्ञे, चख्नु:, जक्षु: । स्वर इति किम् ? गम्यते । अनङीति किम् ? अगमत् । क्ङितीति किम् ? गमनम् ।।४४।।

जैचि प्रादुर्भावे इति दैवादिको जन् गृह्यते । जनेरात्मनेपदित्वात् **जज्ञे** इति प्रयोग: । जज्ञतु: जज्ञु: प्रयोगौ नास्मन्मते किन्तु एतौ वैदिकौ प्रयोगौ । पाणिनीयास्तु जुहोत्यादौ 'जन जनने' इति परस्मैपदिनं वैदिकं पठन्ति । **जक्षु:**—घस्लृ अदने घसो' द्वित्वम्, 'द्वितीयतुर्ययो: पूर्वौ ।४।१।४२। सूत्रात्पूर्वस्य घस्य ग:, 'गहोर्ज: ।४।१।४०। सूत्रेण गस्य ज:, 'गमजन० ४।२।४४। सूत्रेणोपान्त्याकारलोप: 'अघोषे प्रथमोऽ० १।३।५०। सूत्रात् घस्य क:, 'घस्वस: ।२।३।३६। सूत्रेण सस्य ष: । अथवा अदंक् भक्षणे—परोक्षा 'परोक्षायां नवा ।४।४।१८। सूत्रेण अद: स्थाने घस् आदेश: । "घस्वस:" ।२।३।३६। सूत्रं तु अकृतसकारार्थं आदेशस्य तु कृतत्वात् 'नाम्यन्तस्था० ।२।३।१५। सूत्रेण सस्य षकार: । **अगमद्**—'लृदिद्द्युतादि० ३।४।६४।सूत्रेण ङ् ।।४४।।

नो व्यञ्जनस्यानुदित: ।४।२।४५।

व्यञ्जनान्तस्यानुदितो धातोरुपान्त्यस्य न: क्ङिति परे लुक् स्यात् । स्रस्त:, सनीस्रस्यते ।व्यञ्जनस्येति किम् ? नीयते । अनुदित इति किम् ? नानन्द्यते ।।४५।।

सनीस्रस्यते–'वञ्चस्रंस० ।४।१।५०। सूत्रेण नीरन्तः। नानन्यते—टुनदु समृद्धौ इत्युदिद्धातुः ॥४५॥

अञ्चोऽनर्चायाम् ।४।२।४६।

अनर्चार्थस्यैवाञ्चेरुपान्त्यनो क्ङिति परे लुक् स्यात् । उदक्त-मुदकं कूपात् । अनर्चायामिति किम् ? अञ्चिता गुरवः ॥४६॥

पूर्वेण सिद्धे अनर्चायामेवेति नियमार्थमिदं सूत्रम् । **उदक्तम्**–उदञ्चति स्मेति 'गत्यर्था० ।५।१।११। सूत्रात् क्तः । **अञ्चिताः**–अञ्च्यते स्म इति 'लुभ्यञ्चे० ।४।४।४४। सूत्रादिट् ॥३६॥

लङ्गिकम्प्योरुपतापाङ्गविकृत्योः ।४।२।४७।

अनयोरुपान्त्यनो यथासङ्ख्यमुपतापे ऽङ्गविकारे चार्थे क्ङिति परे लुक् स्यात् । विलगितः, विकपितः। उपतापाङ्ग-विकृत्योरिति किम् ? विलङ्गितः, विकम्पितः ॥४७॥

लङ्गिकम्प्योरुदित्त्वात्पूर्वेणाप्राप्ते वचनम् । द्विवचनं क्ङितीत्यनेन यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थम् । उख नखेति दण्डकधातौ लगुधातुः । विलगितः= रोगादिनोपतापित इत्यर्थः । **विलङ्गितः**–विलङ्गति स्म केनचिदङ्गेन हीन इत्यर्थः । कपुङ् चलने । **विकम्पितः**—विकम्पते स्म, मनसि कम्पितः, चित्ते भीत इत्यर्थः नाङ्गविकृत्यर्थः ॥४७॥

भञ्जेर्ञौ वा ।४।२।४८।

भञ्जेरुपान्त्यनो ञौ परे लुग्वा स्यात् । अभाजि, अभाञ्जि ॥४८॥

अभाजि—'भावकर्मणोः ।३।४।६८। सूत्रात् ञिच् ॥४८॥

दंशसञ्जः शवि ।४।२।४९।

अनयोरुपान्त्यनः शवि लुक् स्यात् । दशति, सजति ।।४९।।

तुदादावपठित्वा अनयोः भ्वादौ पाठः शवर्थः, तेन दशन्ती सजन्तीत्यत्र 'श्यशवः ।२।१।११५। सूत्रेण नित्यमन्तादेशः सिध्यति ।।४८।।

अकट्घिनोश्च रञ्जेः ।४।२।५०।

रञ्जेरकटि घिनणि शवि चोपान्त्यनो लुक् स्यात् । रजकः, रागी, रजति ।।५०।।

रजतीति रजकः "नृत्खन्रञ्जः० ।५।१।६५। सूत्रेण अकट् । रजतीत्येवं शीलो रागी 'युजभुज० ।५।२।५०। सूत्रेण घिनण् ।।५०।।

णौ मृगरमणे ।४।२।५१।

रञ्जेरुपान्त्यनो णौ मृगाणां रमणेऽर्थे लुक् स्यात् । रजयति मृगं व्याधः । मृगरमण इति किम् ? रञ्जयति रजको वस्त्रम् ।।५१।।

रञ्जयति रजको वस्त्रमिति—रजति वस्त्रं रजकः, स एवं विवक्षते नाहं रजामि, रज्यते वस्त्रं स्वयमेव, तद्रज्यमानं प्रयुङ्क्ते ।।५१।।

घञि भावकरणे ।४।२।५२।

रञ्जेरुपान्त्यनो भावकरणार्थे घञि लुक् स्यात् । रागः । भावकरण इति किम् ? आधारे रङ्गः ।।५२।।

रञ्जनं रजत्यनेन वेति रागः, भावे तु "भावाकर्त्रोः ।५।३।१८। सूत्राद् घञ् ।

रजन्ति अस्मिन्निति-रङ्गः । 'व्यञ्जनाद्० ।५।३।१३२। सूत्रात् घञ् ॥५२॥

स्यदो जवे ।४।२।५३।

स्यन्देर्घञि नलुक्वृद्ध्यभावौ निपात्येते वेगेऽर्थे । गोस्यदः । जव इति किम् ? घृतस्यन्दः ॥५३॥

"भावाकर्त्रोः ।५।३।१८। इति व्यञ्जनाद्० ।५।३।१३२। सूत्रात् वा घञ् ॥५२॥

दशनाऽवोदैधोद्म प्रश्रथ-हिमश्रथम् ।४।२।५४।

एते नलोपादौ कृते निपात्यन्ते । दशनम्, अवोदः, एधः, उद्मः, प्रश्रथः, हिमश्रथः ॥५४॥

दश्यतेऽनेनेति=दशनम्, करणाऽऽ 'धारे' ।५।३।१२९। सूत्रादनट् । प्रायेणा-नट्प्रत्ययान्तः क्लीबः स्त्रीलिङ्गो वा । यदि च दन्तपर्यायः दशनशब्दस्तदा पुल्लिङ्गत्वम् । अवपूर्वः उन्दैप् क्लेदने 'भावा० ।५।३।१८। सूत्राद् घञ्, गुणः, गुणे कृते उपसर्गस्या० ।१।२।१९। सूत्रादकारलोपः । ञिइन्धैपि दीप्तौ, घञ् । औद्मः उन्देः परो मन् । प्रपूर्वः श्रन्थ् । हिमपूर्वः श्रन्थ्, घञ् । निपातना-त्सर्वत्र नलोपः घञि वृद्ध्यभावश्च निपात्यते ॥५४॥

यमिरमिनमिगमि हनि मनिवनतितनादे-र्धुटि क्ङिति ।४।२।५५।

एषां तनादीनां च धुडादौ क्ङिति लुक् स्यात् । यतः, रत्वा, नतिः, गतः, हतः, मतः, वतिः, ततः, कृतः, । धुटीति किम् ? यम्यते । क्ङितीति किम् ? यन्ता ॥५५॥

यम्यते स्म=यतः। तनादयो धातुपाठे दर्शिताः। वनतितनाद्योः तिब्गण-निर्देशात् यङ्लुपि नान्तलोप ॥५५॥

यपि ।४।२।५६।

यम्यादीनां यपि लुक् स्यात्। प्रहत्य, प्रवत्य, प्रतत्य, प्रसत्य ॥५६॥

वा मः ।४।२।५७। इति वचनान्नान्तानामेवायं विधिः। 'अन्तरङ्गानपि विधीन्यबादेशो बाधते इति पूर्वसूत्रेणाप्राप्ते वचनम् ॥५६॥

वा मः ।४।२।५७।

यम्यादीनां मान्तानां यपि वा लुग् स्यात्। प्रयत्य, प्रयम्य। विरत्य, विरम्य। प्रणत्य, प्रणम्य। आगत्य, आगम्य ॥५७॥

यमूं उपरमे भ्वादिः, रमिं क्रीडायाम् भ्वाद्यन्तर्गतो ज्वलादिः, णमं प्रह्वत्वे भ्वादिः, गम्लृं गतौ भ्वादिः ॥५७॥

गमां क्वौ ।४।२।५८।

एषां गमादीनां यथादर्शनं क्वौ विङति लुक् स्यात्। जनगत्, संयत्, परीतत्, सुमत्, सुवत्, ॥५८॥

'गमाम्' इति बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थं तेन गमयमतनमनवनादीनामेव पञ्चानां धातूनामन्तस्य लुग्दर्शितः। अत एव सूत्रे यथादर्शनमित्युक्तम्। यथादर्शनम् बहुलमित्यर्थः। 'यमिरमि०' ४।२।५५। सूत्रोक्तगमादिपाठो नानुसरणीयः।। जनं गच्छतीति जनगत्। संयमनं—संयत् 'क्रुत्संपदा-दिभ्यः क्विप् ।५।३।११४। परितनोतीति परीतत्, क्विप्। 'गतिकारकस्य

नहि० ।३।२।८५। सूत्रेण 'परि' इत्यस्य दीर्घः । सुमत्, सुवत्, 'क्रुत्संपदादिभ्यः क्विप् ।५।३।१४। सूत्रात्क्विप् ॥५८॥

न तिकि दीर्घश्च ।४।२।५९।

एषां तिकि लुक् दीर्घश्च न स्यात् । यन्तिः, रन्तिः, नन्तिः, गन्तिः, हन्तिः, मन्तिः, वन्तिः, तन्तिः ॥६९॥

अत्र सूत्रे यमि–रमि० ।४।२।५५। इति सूत्रोक्ताः सर्वे धातवो गृह्यन्ते न तु पूर्वसूत्रोक्ताः गमादय एव । 'यम् उपरमे' यम्यादित्याशास्यमानो यन्तिः, रंसीष्ट इत्याशास्यमानो रन्तिः, नम्यादित्याशास्यमानो नन्तिः, गम्यादित्याशास्यमानो गन्तिः, हन्यादित्याशास्यमानो हन्तिः, मंसीष्टेत्याशास्यमानो मन्तिः, वन्यादित्याशास्यमानो वन्तिः, तन्यादित्याशास्यमान तन्तिः । सर्वत्र 'तिक्कृतौ नाम्नि ।५।१।७१।' सूत्रात् तिक् । प्रकृतसूत्रेण नलोपः, अहन्पञ्चमस्य० ।४।१।१०७। सूत्रेण प्राप्तोऽपि दीर्घविधिः प्रतिषिध्यते ॥५९॥

आः खनिसनिजनः ।४।२।६०।

एषां धुडादौ क्ङिति आः स्यात् । खातः, सातः, जातः, जातिः, क्ङितीत्येव—चङ्खन्ति । धुटीत्येव—जनित्वा ॥६०॥

खायते खन्यते स्मवा=खातः । 'क्त० ।५।१।१७४। सूत्रात् क्तिः, वेटोपतः ।४।४।६२। सूत्रादिडभावः । षणूयी दाने, षण भक्तौ द्वयोरपि ग्रहणम् सन्=सायते स्म सन्यते स्म वा इति सातः । **चङ्खन्ति**—खन्धातोः यङ्, तस्य लोपः, तिप्रत्ययश्च ॥६०॥

सनि ।४।२।६१।

एषां धुडादौ सनि आ स्यात् । सिषासति धुटीत्येव—सिसनिषति ॥६१॥

खनिजनोरिटा भवितव्यमिति धुडादिः सन्न भवति इति हेतोः खनिजनोः प्रयोगावदर्शितौ । सिसनिषति—'इवृध०' ।४।४।४। सूत्रेण वेट् । णिस्तो० ।२।३।३७। इति नषत्वम् । क्ङितीत्यसंभवादिह न सम्बध्यते ॥६२॥

ये नवा ।४।२।६२।

एषां ये क्ङिति आः वा स्यात् । सायते, सन्यते, चाखायते, चङ्खन्यते, सायते, सन्यते, प्रजाय, प्रजन्य । क्ङितीत्येव-सान्यम्, जन्यम् ॥६२॥

'दिवादेः श्यः ।३।४।७२। इति श्ये तु 'ज्ञाजनोऽत्यादौ ।४।२।१०४। सूत्रेण नित्यं जादेशः इति तदुदाहरणं न दर्शितम् ॥६२॥

तनः क्ये ।४।२।६३।

तनः क्ये आः वा स्यात् । तायते, तन्यते । क्य इति किम्—तन्तन्यते ॥६३॥

तन्तन्यते—अत्र यङ्प्रत्ययः ॥६३॥

तौ सनस्तिकि ।४।२।६४।

सनस्तिकि तौ लुगातौ वा स्याताम् । सतिः, सातिः, सान्तिः ॥ ६४ ॥

सान्तिरित्यत्र 'अहन्पञ्चमस्य० ।४।१।१०७। सूत्रेण दीर्घः ।६४।

वन्याङ्पञ्चमस्य ।४।२।६५।

पञ्चमस्य वन्याङ् स्यात् । विजावा । ध्वावा ॥६५॥

पुनराग्रहणं ताविति नवेति च निवृत्त्यर्थम् । ङित्करणं ध्वावेत्यादौ गुणनिषेधार्थम् । जन्:विजायते इति विजावा । धूण् भ्रमणे धुयतीति ध्वावा । 'मन्वन्० ।५।१।१४७। सूत्रेण वन् ॥६६॥

अपाच्चायश्चिः क्तौ ।४।२।६६।

अपपूर्वस्य चायतेः क्तौ चिः स्यात् । अपचितिः ॥६६॥

चायृग् पूजाविशामनयोः ॥६६॥

ह्लादो ह्लद् क्तयोश्च ।४।२।६७।

ह्लादेः क्तक्तवतोः क्तौ च ह्लद् स्यात् । ह्लन्नः ह्लन्नवान् ह्लत्तिः ॥६७॥

'रदादमूर्च्छा० ।४।२।६९। सूत्रेण दकारतकारयोर्नकारः ॥६७॥

ऋल्वादेरेषां तो नोऽप्रः ।४।२।६८।

पॄवर्जात् ऋवन्तात् ल्वादिभ्यश्च परेषां क्तिक्तक्तवतूनां तो नः स्यात् । तीर्णिः, तीर्णः, तीर्णवान् । लूनिः, लूनः, लूनवान । धूनिः, धूनः, धूनवान् । अप्र इति किम् ? पूर्त्तिः, पूर्त्तः, पूर्त्तवान् ॥६८॥

तरणं=तीर्णिः । तीर्यते स्मः तीर्णः, तरति स्म—तीर्णवान् । लवनं=लूनिः ल्वादिषु ये ॠकारान्तास्तॄ हॄ प्रभृतयस्तेषाम् ग्रहणेनैव सिद्धे तत्र पाठः प्वादिकार्यार्थः । क्र्याद्यगणो ल्वादिः । न च ॠकारान्तामिरादेशे रकारा-

न्तत्वादुत्तरेण भविष्यति किम् ऋ ग्रहणेनेति वाच्यम् उत्तरेण क्तयोर्भवति, अनेन तु क्तिक्तक्तवतुषु । अथ क्त्यर्थम् ऋ तां क्ताविन्युच्येत, तर्हि ऋ तां क्तावेव स्यात् क्तयोस्तूत्तरेणापि न स्यात् ॥६८॥

रदादमूर्छमदः क्तयोर्दस्य च ।४।२।६८।

मूर्च्छिमदिवर्जात् रदन्तात् परस्य क्तयोस्तस्य तद्योगे धादतुश्च नः स्यात् । पूर्णः, पूर्णवान् । भिन्नः, भिन्नवान् । अमूर्च्छमद इति किम् ? मूर्तः मत्तः । रदान्तस्येति किम् ? चरितम् मुदितम् ॥६८॥

मूर्तः—'मूर्छा—मोहसमुच्छ्राययोः' मूर्च्छयते स्म इति 'क्तक्तवतू' ।५।१।१७४ इति क्तः, 'राल्लुक् ।४।१।११०। सूत्रेण छलोपः । 'भ्वादे०' २।१।६३ इति दीर्घः । वर्णैकदेशानां वर्णग्रहणेनाग्रहणात्, ऋकारस्य मध्येऽर्धमात्रो रेफः अग्रे पश्चाच्च तुरीयः स्वर भाग इति रेफात्परेण स्वरभागेन व्यवधानाद् वा कृत, कृतवानित्यत्र न भवति ॥६८॥

सूयत्याद्योदितः ४।२।७०।

सूयत्यादिभ्यो नवभ्यः ओदिद्भ्यश्च परस्य क्तयोस्तोनः स्यात् । सूनः, सूनवान् , दूनः, दूनवानः लग्नः, लग्नवान् ॥७०॥

सूयतीति श्यनिर्देशात् सूतिसुवत्योर्न भवति । ओत्=ओकारः इत् अनुबन्धो येषां ते ओदितः । षूङौच् प्राणिप्रसवे, दूङ्च् परितापे, ओलस्जैति व्रीडे लज् लस्ज् वा लज्यते स्म इति 'क्तक्तवतू, चजः कगम् ।२।१।८६ । इति जस्य गः, प्रकृत सूत्रेण तस्य नः ॥७०॥

व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्यः ।४।२।७१।

ख्याध्यावर्जस्य धातोर्यद्व्यञ्जनं तस्मात्परा याऽन्तस्था तस्याः परो य आस्तस्मात्परस्य क्तयोस्तो नः स्यात् । स्त्यानः-स्त्यानवान् व्यञ्जन इति किम् ? यातः । अन्तस्था इति किम् ? स्नातः । आत इति किम् ? च्युतः । धातोर्व्यञ्जनेति ? निर्यातः । अख्याध्य इति किम् ? ख्यातः, ऽयातः । आतःपरस्येति किम् ? दरिद्रितः ॥७१॥

स्त्यै संघाते—स्त्यानः । दरिद्रितः—अत्र इटा व्यवधानम् ॥७१॥

पूदिव्यञ्चेर्नाशाद्यूतानपादाने ।४।२।७२।

एभ्यो यथासङ्ख्यं नाशाद्यर्थेभ्यः परस्य क्तयोस्तो नः स्यात् । पूना यवाः, आद्यूनः, समक्नौ पक्षौ । नाशाद्यूतानपादान इति ? पूतम्, घूतम्, उदक्तं जलम् ॥७२॥

पूना यवाः—विनष्टा इत्यर्थः । **समक्नौ**—पक्षिणः पक्षौ सङ्गतावित्यर्थः । अनपादाने इत्यस्य कोऽर्थः ? अञ्चिवाच्या क्रिया यदि अपादानक्रियासाधिका न भवतीत्यर्थः । **उदक्तं जलम्** । अत्र कूपादेः जलं निष्कासितमिति अपादानकारकसाधिका क्रियाऽस्ति ॥७२॥

सेर्ग्रासे कर्मकर्तरि ।४।२।७३।

सेः परस्य क्तयोस्तो ग्रासे कर्मकर्तरि नः स्यात् । सिनो ग्रासः स्वयमेव । कर्मकर्तरीति किम् ? सितो ग्रासो मैत्रेण ॥७३॥

षिग्ट् बन्धने, षिगृश् बन्धने द्वयोरपि ग्रहणम् । 'षः सोऽष्ट्यै० ।२।३।९८। इति सः । सिनोति सिनाति वा ग्रासं मैत्रः स एवं विवक्षति नाहं ग्रासं सिनामि सिनोमि स्म, अपि तु सितो ग्रासः स्वयमेव ॥७३॥

क्षेः क्षी चाध्यार्थे ।४।२।७४।

ध्यणोऽर्थो भाव-कर्मणी ततोऽन्यस्मिन्नर्थे क्तयोस्तः क्षेः परस्य नः स्यात् तद्योगे क्षेः क्षीश्च । क्षीणः, क्षीणवान् मैत्रः । अध्यार्थ इति किम् ? क्षितमस्य ॥७४॥

क्षयति स्म 'गत्यर्था० ।५।१।११ सूत्रात् क्तः, एवं क्षितवान् । क्षयणं क्षितम् भावे क्तः ॥७४॥

वाक्रोशदैन्ये ।४।२।७५।

आक्रोशे दैन्ये च गम्ये क्षेः परस्याध्यार्थे क्तयोस्तो न् वा स्यात् । तद्योगे क्षीश्च । क्षीणायुः, क्षितायुर्जाल्मः । क्षीणकः क्षितकस्तपस्वी ॥७५॥

आक्रोशश्च दैन्यं चेति कृते "विरोधिना० ।४।१।३०। विरोधानामेव इति समाहाराप्राप्तौ सूत्रत्वात्समाहारः । **क्षीणकः**, **क्षितकः**—'अनुकम्पातद्युक्तनीत्योः ।७।३।३४ सूत्रात् कप् ॥७५॥

ऋह्रीघ्राध्रात्रोन्दनुदविन्तेर्वा ।४।२।७६।

एभ्यः परस्य क्तयोस्तो न् वा स्यात् । ऋणम्, ऋतम् । ह्रीणः, ह्रीतः, ह्रीणवान्, ह्रीतवान् । घ्राणः, घ्रातः । ध्राणः, ध्रातः । त्राणः, त्रातः । समुन्नः, समुत्तः । नुन्नः, नुत्तः । विन्नः, वित्तः ॥७६॥

……**विन्तेर्वा**—तेप्रत्ययान्तमाख्यातपदमनु क्रियते-'इकि-श्तिव् ।५।३।१३८ इति श्तिव्प्रत्ययान्तस्य तु न विनत्तीति रूपं भवति । सूत्रे श्यनिर्देशात् विदिप् विचारणे इत्यस्य विकल्पेन क्तकारस्य नकारः । विदिच् सत्तायाम् इति दिवादेः, विद्लृंती लाभे इति तुदादेस्तु नित्यं नकारः । ऋह्रीभ्याम-

प्राप्ते घ्रादिभ्यस्तु प्राप्ते विकल्पः तेन दकारान्तानां दस्यापि पूर्वेण नत्वं भवति । तकारनत्त्वाभावपक्षे तु सन्नियोगशिष्टत्वाद्दस्यापि नकारो न भवति । व्यवस्थितविभाषेयम् तेन ऋणमिति उत्तमणाधिमर्णयोरेव अन्यत्र ऋतं सत्यमित्यर्थः ॥७६॥

दुगोरु च ४।२।७७।

दुगुभ्यां परस्य क्तयोस्तो नः स्यात् । तद्योगे दुगोरूश्च । दूनः दूनवान् । गूनः गूनवान् ॥७७॥

टुदु दू, उपातापे, गु ङ् शब्दे ॥७७॥

क्षैशु चिपचो मकवम् ॥४।२।७८॥

एभ्यः परस्य क्तयोस्तो यथासङ्ख्यं मकवाः स्युः । क्षामः, क्षामवान् । शुष्कः शुष्कवान् । पक्व । पक्ववान् ॥७८॥

क्षैं क्षये क्षायति ॥७८॥

निर्वाणमवाते ।४।२।७९।

अवातेः कर्तरि निरपूर्वाद् वातेः परस्य क्तयोस्तो नो निपात्यते । निर्वाणो मुनि । अवात इति किम् ? निर्वातो वातः ॥७९॥

वांक् गतिगन्धनयोः निर्वाति स्म 'गत्यर्था० ।५।१।११। इति क्तः, 'स्वरात् ।२।३।८५। सूत्रेण णः ॥ वातिधातुः अकर्मक अत कर्ताऽर्थो लभ्यते॥७९॥

अनुपसर्गाः क्षीबोल्लाघ–कृश-परिकृश-फुल्लो-संफुल्लाः ॥८०॥

अनुपसर्गाः क्तान्ता एते निपात्यन्ते । क्षीबः, उल्लाघः, कृशः, परिकृशः, फुल्लः उत्फुल्लः संफुल्लः । अनुपसर्गा इति किम् । प्रक्षीबितः ॥८०॥

क्षीबादयः सर्वे शब्दाः कप्रत्ययेनाच्प्रत्ययेनापि सिध्यन्ति परन्तु 'क्षीबितः' इत्यादिरूपप्रतिषेधार्थमेतत्सूत्रं कृतम् । क्षीबृङ् मदे, उत्पूर्वो लाघृङ् सामर्थ्ये, कृशच् तनुत्वे परिपूर्वश्च । एभ्यः परस्य क्तकारस्य निपातनाल्लोपः, अकारस्तिष्ठति इडभावश्च । 'त्रिफला विशरणे' केवलः उत्पूर्वः सम्पूर्वश्च । फलतीति फुल्लः, 'ज्ञानेच्छा० ।५।२।६२ सूत्रेण क्तः अथवा 'गत्यार्थ० ।५।१।११ सूत्रेण क्तः, फलितुमारब्ध इति 'आरम्भे । ५।१।१०। सूत्रेण वा क्तः, । ति चोपा० । ४।१।५४ सूत्रेण उपान्त्याकारस्य उकारः, निपातनात् तकारस्य लकारः इडभावश्च । एवमुत्फुल्लः, संफुल्ल इत्यपि । यदा भावारम्भयोरविवक्षा तदा 'आदितः । ४।४।७१ सूत्रात् नित्यमिडभावः । यदा तु भावारम्भविवक्षा तदा 'नवा भावारम्भे ।४।४।७२ सूत्राद् विकल्पेनेट् स्यात् निपातनाच्च नित्यं प्रतिषिध्यते । केचित्तु क्षीबवान् उल्लाघवान् कृशवान्, परिकृशवान्, फुल्लवान्, उत्फुल्लवान्, संफुल्लवान् इति क्तवतावपि रूपमिच्छन्ति तदर्थं क्तक्तवत्वोस्तशब्दावधि निपातनं द्रष्टव्यम्, एतदर्थमेव बहुवचनम् । निपातनस्येष्टविषयत्वात् फल निष्पत्तौ, फल गतौ इत्येतयोस्तु फलितः, फलितवान् ॥८०॥

भित्तं शकलम् ।४।२।८ ।

भिदेः परस्य क्तस्य नत्वाभावे निपात्यते । शकलपर्यायश्चेत् । भित्तं शकलमित्यर्थः । शकलमिति किम् ? भिन्नम् ॥८१॥

शकलम्=खण्डमित्यर्थः । शकलमिति पर्यायनिर्देशात् भिदिक्रियाविवक्षायां शकले विषये भिन्नं शकलमिति भवति, अत्र द्विधाकृतमित्यर्थः । यदा

पर्यायवाचकस्तदा तु शकलशब्दस्य प्रयोगो न भवति, पर्यायाणां हि यौगपद्येन प्रयोगो नेष्यते इति वचनात् ॥८१॥

वित्तं धनप्रतीतम् ।४।२।८२।

विन्दतेः परस्य क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते । धनप्रतीतयोः पर्यायश्चेत् । वित्तं धनम्, वित्तः प्रतीतः । धनप्रतीतमिति किम् ? विन्नः ॥८२॥

विद्लृ ती लाभे इति तुदादेरेव वित्तं प्रयोग, नान्येषाम् । विद्यते=लभ्यते इति वित्तं धनम् । विद्यते–उपलभ्यतेऽसाविति वित्तः प्रतीतः । वेत्तेर्विदितम् प्रयोगः, विन्तेर्विन्नं वित्तं च ॥८२॥

हुधुटो र्हेर्धिः ।४।२।८३।

होर्धुडन्ताच्च परस्य र्हेर्धिः स्यात् जुहुधि, विद्धि ॥८३॥

जुहुतात्त्वम् मितात्त्वमित्यत्र नित्यत्वेन प्रकृत्यनपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वाच्च हेः स्थाने तातङ्, तस्य तातङो न पुनर्धिभावो हेरिति शब्दाश्रयणात् ॥८३॥

शासस्हनः शाध्येधिजहि ।४।२।८४

शास्असहनां ह्यन्तानां यथासंख्यं शाधिएधिजहयः स्युः । शाधि, एधि, जहि ॥८४॥

शास्हन्साहचर्यात् असिति आदादिकस्य गृह्यते । शास्हनोर्यङ्लुप्यपि 'शाधि, जहि' इत्येव प्रयोगः । हनेस्तु यङ्लुपि नेच्छन्त्यन्ये तन्मते जङ्घहि । अस्तेस्तु स्वरादिधातुत्वात् यङ् न भवति ॥८४॥

अतः प्रत्ययाल्लुक् ।४।२।८५।

धातोः परो योऽदन्तः प्रत्ययः ततः परस्य हेर्लुक् । कीण्य ।
अत इति किम् ? राध्नुहि । प्रत्ययादिति किम् पापहि ॥८५॥

पापहि—पथि गतौ, भृशं पयते इति यङ्, द्वित्वम्, बहुलं लुप् ।३।४।१४।
सूत्राद् यङ्लोपः, य्वोः प्वय्व्यञ्जने लुक् ।४।४।१२१। सूत्रात् यलोपः ॥८५॥

असंयोगादोः ।४।२।८६।

असंयोगात्परो य उस्तदंतात्प्रत्ययात्परस्य हेर्लुक् सुनु । असंयो-
गादिति किम् ? अक्ष्णुहि । उरिति किम् ? क्रीणीहि ॥८६॥

असंयोगादित्योर्विशेषणात् आप्नुहीत्यत्रापि लोपो न भवति । यदि संयोगाद्य
उकारान्तः प्रत्यय इति विशेषणं स्यात्तदाऽत्रापि भवेत् ॥८६॥

वम्यविति वा ।४।२।८७।

असंयोगात्परो य उस्तदन्तस्य प्रत्ययस्य लुग्वा स्यात् । वमादौ
अविति परे । सुन्वः, सुनुव, सुन्मः, सुनुमः । अवितीति किम् ?
सुनोमि । असंयोगादित्येव-तक्ष्णुवः ॥८७॥

प्रत्ययादिति औरिति च पञ्चम्यन्तमपि षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते,
अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः इति न्यायात् । असंयोगादित्योर्विशेषणात्
आप्नुवः इत्यत्र न भवति ॥८७॥

कृगो यि च ।४।२।८८।

कृगः परस्योतो यादौ वमि चाविति लुक् स्यात् । कुर्युः, कुर्वः,
कुर्मः ॥८८॥

कृ गृश् हिंसायामित्यस्मात्तु नकारव्यवधानात् उः परो न संभवतीति न

भवति । नच "येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि भवतीत्यपि न्यायोऽस्तीति वाच्यं कुर्यादित्यादाव्यवधानमस्ति । कश्चित्तु कुर्मीत्यपीच्छति तदसंमतम् ॥८८॥

अतः शित्युत् ॥४।२।८९।

शित्यविति य उस्तन्निमित्तस्य कृगोऽ त उः स्यात् । कुरु । अवितीत्येव-करोति ॥८६॥

उविधानबलात् 'लघोरुपान्त्यस्य ।४।३।४। सूत्रात्प्राप्तोऽपि गुणो न भवति अन्यथा ओकार एव विधीयेत । उकारनिमित्तत्वेनाकारविज्ञानात् कुर्यादित्यादावुकारलोपेपि भवति ॥८६॥

श्नास्त्योर्लुक् ।४।२।९०

श्नस्य अस्तेश्चातः शित्यविति लुक् स्यात् । रुन्द्धः । स्तः । अत इत्येव-आस्ताम् ॥६०॥

अतः इत्यधिकारो न स्यात्तदा 'षष्ठ्याऽन्त्यस्य ।७।४।१०६। सूत्रात् अस्तेरन्त्यसकारस्यैव लुक् स्यात्, श्नस्य च 'प्रत्ययस्य ।७।४।१०८। सूत्रात् सर्वस्यापि लुक् स्यात् । अस्तीत्यत्र तिन्निर्देशात् दिवादेरस्यतेर्न लुक् ॥६०॥

वा द्विषातोऽनः पुस् ।४।२।९१।

द्विष आदन्ताच्च परस्य शितोऽवितोऽनः स्थाने पुस् वा स्यात् । अद्विषुः, अद्विषन् । अयुः । अयान् ॥६१॥

पकारः 'पुस्पौ ।४।३।३। इत्यत्र विशेषणार्थः । 'वा द्विषातोऽनःपुस्' इत्यनेन ह्यस्तन्या अनः स्थाने पुस् क्रियते, 'सिज्विदो भुवः ।४।२।९२।

सूत्रेण सिजित्युक्तेरद्यतन्या अनः स्थाने विदस्तु ह्यस्तन्याः अनः स्थाने अद्यतन्यां तु सिजद्वारा अनः स्थाने पुस् अवेदिषुरिति । "द्व्युक्तजक्षपञ्चतः" ।४।२।९३। सूत्रेणापि ह्यस्तन्या अनः स्थाने पुस् । अयुरित्यत्र—"इडेत्पुसि० ।४।३।९४। इत्यातो लुक् ॥९१॥

सिज्विदोऽभुवः ।४।२।९२।

सिच्प्रत्ययाद् विदश्च धातोः परस्य अनः पुस् स्यात् । न चेत् भुवः परः सिच् स्यात् । अकार्षुः, अविदुः । अभुव इति किम् ? अभूवन् ॥९२॥

भूवर्जनेन सिच्प्रत्ययो लभ्यते, अन्यथा 'षिचींत् क्षरणे' इत्यस्य ग्रहणं स्यात् । अभुवन्—अत्र पूर्वं गुणः, अव्, पश्चात् 'भुवो वः० ।४।२।४३। इत्यूव ॥ ९२ ॥

द्व्युक्तजक्षपञ्चतः ।४।२।९३।

कृतद्वित्वात् जक्षपञ्चकाच्च परस्य शितोऽवितोऽनः पुस् स्यात् । अजुहवुः । अजक्षुः । अदरिद्रुः । अजागरुः । अचकासुः । अशासुः ॥ ९३ ॥

द्वे उक्ते वचने यस्य स द्व्युक्तः कृतद्विर्वचन इत्यर्थः । पञ्चानां वर्गः पञ्चत् 'पञ्चद्दशद्वर्गे वा ।६।४।१७५। सूत्रेण पञ्चत् निपातः, जक्षाणां पञ्चत् जक्षपञ्चत् तस्मात् जक्षपञ्चतः । अजुहवुः, अजागरुः इत्यत्र 'पुस्पौ ।४।३।३। सूत्रेण गुणः । जक्षक् भक्षहसनयोः, दरिद्राक् दुर्गतौ, जागृक् निद्राक्षये, चकासृक् दीप्तौ, शासूक् अनुशिष्टौ इति जक्षपञ्चकम् ॥ ९३ ॥

अन्तो नो लुक् ।४।२।९४।

द्वयुक्तजक्षपञ्चकात्परस्य शितोऽवितोऽन्तो नो लुक् स्यात् । जुह्वति, अजुह्वत् । जक्षति, अजक्षत् । दरिद्रति, दरिद्रत् ॥९४॥

जुह्वति, जुह्वत्—अत्र 'ह्निणोरप्विति व्यौ ।४।३।१५। सूत्रेण धातोरुकारस्य व् । जुह्वदित्यत्र 'ऋदुदितः ।१।४।७०। सूत्रेण नोन्तः । दरिद्रतीत्यादौ 'श्नश्चाऽऽतः ।४।२।९६। इत्याकारस्य लुक् ॥९४॥

शौ वा ।४।२।९५।

द्व्युक्तजक्षपञ्चकात्परस्यान्तोऽनः शिविषये लुग्वा स्यात् । ददति ददन्ति कुलानि । जक्षति, जक्षन्ति । दरिद्रति, दरिद्रन्ति ॥ ९५ ॥

'ददति' इत्यादिषु सर्वत्र पूर्वं शतृ, पश्चात् जस् शस् वा 'नपुंसकस्य शिः ।१।४।५५। सूत्रेण जस्शस्स्थाने शिरादेशः ॥९५॥

श्नश्चातः ।४।२।९६।

द्व्युक्तजक्षपञ्चतः श्नश्च शित्यवित्यातो लुक् स्यात् । मिमते, दरिद्रति, क्रीणन्ति, । अवितीत्येव—अजहाम् अक्रीणाम् ॥९६॥

मिमते—'पृ-भृ-मा-हाङामिः ।४।१।५८। सूत्रात् द्वित्वे पूर्वस्येकारः । ॥ ९६ ॥

एषामीर्व्यञ्जनेऽदः ।४।२।९७।

द्वयुक्तजक्षपञ्चतः श्नश्चातः शित्यविति व्यञ्जनादावीः स्यात् ।

न तु दासंज्ञस्य । मिमीते, लुनीतः । व्यजन इति किम् ? मिमते । अद इति किम् ? दत्तः, धत्तः ॥९७॥

दासंज्ञकानामित्ववर्जनात् दांव्देंवोर्न दासंज्ञेति दांव्देंवोर्यङ्लुपि कृतेपि- दादीतः इत्यादौ ईत्वं भवति । **मिमीते**—पॄभृमा० ।४।१।५८। सूत्रेण पूर्वस्य ईः । दत्त, धत्तः इति—'श्नश्चातः ।४।२।९६। 'धाश्स्तथोश्च' ।२।१।७८। इति ॥९७॥

ईर्दरिद्रः ।४।२।९८।

दरिद्रो व्यञ्जनादौ शित्यविति आत इः स्यात् । दरिद्रितः । व्यञ्जन इत्येव—दरिद्रति ॥९८॥

'एताः शितः ।३।३।१०। इति शित्वम् । **दरिद्रति**—'श्नश्चातः ।४।२।९६ सूत्रादातो लुक्, 'अन्तो नो० ।४।२।९६ सूत्रात् नो लुक् ॥९८॥

भियो न वा ।४।२।९९।

भियो व्यञ्जनादौ शित्यविति इर्वा स्यात् । बिभितः, बिभीतः ॥ ९९ ॥

यङ्लुप्यपि बिभितः, बिभीतः ॥९९॥

हाकः ।४।२।१००।

हाको व्यञ्जनादौ शित्यविति आत इर्वा स्यात् । जहितः, जहीतः ॥१००॥

अनुबन्धनिर्देशः ओहाङ्यङ्लुपोर्निवृत्त्यर्थः । योगविभाग उत्तरार्थः । **जहितः**—हा + तस् । द्व्युक्तस्येत्यनुवर्तमानं हाक इत्यस्य विशेषणम् यदि

द्व्युक्तस्येत्यनुवृत्तिर्न स्यात्तदा द्विर्वचनात्प्रागेवेत्वं स्यात् । प्राक् तु स्वरे स्वरविधेरित्यपि न, व्यञ्जननिमित्तत्वात् ॥१००॥

आ च हौ ।४।२।१०१।

हाको हौ आत् इश्च वा स्यात् । जहाहि, जहिहि, जहीहि । ॥ १०१ ॥

अवितीति निवृत्तम्, वितोऽसम्भवाद्, हिविभक्तिमेवाश्रित्य सूत्रप्रवृत्तेः । शिति इत्युनुवर्तते । चेत्यकृते तक्रकौण्डिन्यन्यायेन इर्न स्यात् ॥१०१॥

यि लुक् ।४।२।१०२।

यादौ शिति हाक आ लुक् स्यात् । जह्यात् ॥ १०२ ॥

नवेति निवृत्तम् । इकाराधिकारे नवाधिकृतः, इह लुग्विधीयते अतो निवृत्तः । लुञ्चनं 'क्रुत्संपदादिभ्यः ।५।३।११४। सूत्रात्क्विपि स्त्र्युक्त इति स्त्रीत्वम् । लवनं 'द्रागादयः (८७० उणादि०) इति लुक् पुंस्त्वम्, लुम्पनं 'क्रुत्संपदा० ।५।३।१४। सूत्रात्क्विपि स्त्रीत्वम् । 'गृ.पृदुवि०' ६४३ (उणादि०) इति क्विपि पुंस्त्वम् ॥१०२॥

ओतः श्ये ।४।२।१०३।

धातोरोतः श्ये लुक् स्यात् । अवद्यति । श्य इति किम् ? गौरिवाचरति गवति ॥ १०३ ॥

दोंच् छेदने—अवद्यति । गवति—'कर्तुः क्विप्० ।३।४।२५। सूत्रेण क्विप्, 'अप्रयोगीत्' ।१।१।३७। सूत्रेण क्विप्लोपः, तिव् शव्, अवादेशः ॥१०३॥

ज्ञा ज्ञाजनोऽत्यादौ ।४।२।१०४।

ज्ञाजनोः शिति जाः स्यात् न त्वनन्तरे तिवादौ । जानाति, जायते । अत्यादाविति किम् ? जाज्ञाति, जञ्जन्ति ।।१०४।।

अत्यादौ—यदि धातुतिवादीनां मध्ये श्नाश्यादिप्रत्यया भवन्ति तदा ज्ञाजन्धात्वोर्जादेशो भवति । जाज्ञाति, जञ्जन्ति—यङ्लुपि रूपम्, श्नाश्यादिप्रत्ययेनाव्यवधानात् न जादेशः ।।१०४।।

प्वादेर्ह्रस्वः ।४।२।१०५।

प्वादेः शित्यत्यादौ ह्रस्वः स्यात् । पुनाति, लुनाति । प्वादेरिति किम् ? प्रीणाति ।१०५।।

क्र्यादिषु प्वादिगणः पठितः 'पूग्श् पवने इत्यारभ्य ऋ्श् गतौ इति यावत् । जानातीत्यत्र विधानसामर्थ्यान्न ह्रस्वः ।।१०५।।

गमिषद्यमश्छः ।४।२।१०६।

एषां शित्यत्यादौ छः स्यात् । गच्छति, इच्छति, यच्छति, आयच्छते । अत्यादाविति किम् ? जङ्गन्ति ।।१०६।।

'गमिषत्' इत्यत्रात्निर्देशः 'इषच् गतौ इति दिवादेः, इषश् आभीक्ष्ण्ये' इति क्र्यादेर्निवृत्त्यर्थः ।।१०६।।

वेगे सर्त्तेर्धाव् ।४।२।१०७।

सर्त्तेर्वेगे गम्ये शिति धाव् स्यात् । अत्यादौ । धावति, वेग इति किम् ? धर्ममनुसरति ।।१०७।।

धावधातुना सिद्धे सरतेर्वेगे गम्यमाने सरति इति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं सूत्रमिदम् । सर्त्तेरिति तिनिर्देशात् यङ्लुपि सरते न धावादेशः ॥१०७॥

श्रौति-कृवु-धिवु-पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दम्-दृश्यर्त्तिशदसदः शृ-कृ-धि-पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-शीय-सीदम् ।४।२।१०८।

एषां शित्यत्यादौ यथासंख्यं आदयः स्युः । शृणु, कृणु, धिनु, पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ् । शीयते । सीद ॥१०८॥

श्रौत्यर्त्त्योस्तिव्निर्देशः कृव्धिव्दृशदामामनुबन्धश्च यङ्लुपि 'शृ' इत्यादेशनिवृत्त्यर्थः । उक्तं च **तिवा शवानुबन्धेन, निर्दिष्टं यद्गणेन च । एकस्वरनिमित्तं च, पञ्चैतानि न यङ्लुपि ।**
श्रुंट् श्रवणे—**श्रौति** । कृवुट् हिंसाकरणयोः—कृव् । धिवुट् गतौ **धिव्** । तथा घ्राध्मा-दिभिः साहचर्यात् पा पाने इति भ्वादेरेव ग्रहणम्, तस्य सस्वरः पिबादेशः, स्वरान्तत्वादुपान्त्यलक्षणो गुणो भवति । पैं शोषणे इत्यस्य लाक्षणिकत्वान्न ग्रहणम् ॥१०८॥

क्रमो दीर्घः परस्मै ।४।२।१०९।

क्रमेः परस्मैपदनिमित्ते शिति दीर्घः स्यात् । अत्यादौ । क्राम, क्राम्यति । परस्मैपद इति किम् ? आक्रमते सूर्यः ॥१०९॥

परस्मैपदनिमित्तविज्ञानात् हेलुक्यपि दीर्घः । **क्राम्यति**—'भ्रासभ्लास० ।३।४।७३। सूत्रेण विकल्पेन श्यप्रत्ययः । **आक्रमते**—'आङो ज्योतिरुद्गमे ।३।३।५२। सूत्रादात्मनेपदम् ॥१०९॥

ष्ठिवूक्लम्वाचमः ।४।२।११०।

एषां शित्यत्यादौ दीर्घः स्यात्। ष्ठीव, क्लाम, आचाम।
आङिति किम्? चम ॥११०॥

'ष्ठिव् निरसने' भ्वादेरनेन दीर्घो विधीयते, ष्ठिवूच् निरसने इति दिवादेस्तु 'भ्वादेर्नामिनो० ।२।१।६३। सूत्रेण विहित एव। ष्ठिव्क्लमोक्कारनिर्देशाद् यङ्लुपि न भवति। चमेराङ्पूर्वकस्य ग्रहणात् 'चम' इत्यत्र न भवति ॥११०॥

शम्सप्तकस्य श्ये ।४।२।१११।

शमादीनां सप्तानां श्ये दीर्घः स्यात्। शाम्य, दाम्य, ताम्य, श्राम्य, भ्राम्य, क्षाम्य, माद्य। श्य इति किम्? भ्रमति। अत्यादादित्येव शंशन्ति ॥१११॥

शमू दमूच् उपशमे, तमूच् काङ्क्षायाम्, श्रमूच् खेदतपसोः भ्रमूच्, अनवस्थाने, क्षमूच् सहने, मदैच्. हर्षे इति शम्सप्तकम्। भ्रमति—'भ्रमूच् अनवस्थाने' धातोः भ्रमतीति रूपमन्यथा द्व यङ्गवैकल्यं स्यात् 'भ्रासभ्लास० ।३।४।७३। सूत्रेण वा श्यः। शमादिगणनिर्देशात् यङ्लुपि दीर्घो न भवति श्यस्तु भवत्येव 'भ्रासभ्लास०' ।३।४।७३। इति प्रतिपदोक्तत्वात् तेन बम्भ्रम्यतीति सिध्यति ॥१११॥

ष्ठिवसिवोऽनटि वा ।४।२।११२।

ष्ठिव्सिवोरनटि दीर्घो वा स्यात्। निष्ठीवनम्, निष्ठेवनम्। सीवनम्, सेवनम् ॥११२॥

षिवूच् उतौ दिवादिः ॥११२॥

मव्यस्याः ।४।२।११३।

धातोर्विहिते मादौ वादौ चात आ दीर्घः स्यात्। पचामि, पचावः, पचामः ॥११३॥

धातोः प्रत्ययेन सहाभिसम्बन्धः, न अकारेण सहेति प्रत्ययाकारस्यापि दीर्घो भवति। वृत्तौ आकारस्य दीर्घत्वेन विशेषणमाकारो दीर्घ एव स्यादित्येवमर्थमन्यथा केचित् 'प्रश्ने च० ।७।४।९८। सूत्रेणानन्त्यस्यापि प्लुतत्वमिच्छन्ति इति प्लुतत्वं मा भूदित्येवमर्थम् स्वमते तु अन्त्यस्यैव भवति ॥११३॥

अनतोऽन्तोऽदात्मने ।४।२।११४।

अनतः परस्यात्मनेपदस्थस्यान्तोऽत् स्यात्। चिन्वते। आत्मनेपद इति किम्? चिन्वन्ति। अनत इति किम्? पचन्ते संविदते ॥११४॥

शीङो रत् ।४।२।११५।

शीङः परस्यात्मनेपदस्थस्यान्तो रत् स्यात्। शेरते ॥११५॥

'इङितः० ।३।३।२२। सूत्रादात्मनेपदम् ॥११५॥

वेत्तेर्नवा ।४।२।११६।

वेत्तः परस्यात्मनेपदस्थस्यान्तो रद् वा स्यात्। संविद्रते ॥११६॥

संविद्रते, संविदते—इत्यत्र 'समो गमृच्छि० ।३।३।८४। सूत्रादात्मनेपदम्। वेत्तेस्तिन्निर्देशः रुधादे विद् धातोरग्रहणार्थो यङ्लुपि निवृत्त्यर्थश्च ॥११६॥

तिवां णवः परस्मै ।४।२।११७।

वेत्तेः परेषां परस्मैपदानां तिवादीनां परस्मैपदान्येव णवादयो यथासंख्यं वा स्युः । वेद, विदतु, विदुः । वेत्थ, विदथु,विद । वेद विद्व, विद्म । पक्षे वेत्तीत्यादि ॥११७॥

तिव्, तस् अन्ति । सिव्, थस्, थ । मिव्, वस्, मस्, इति नवानां णव्, अतुस्, उस् । थव् अथुस्, अ । णव्, व, म इति नव आदेशा भवन्ति । णवः इति बहुवचनेन नव प्रत्ययाः गृह्यन्ते । 'स्थानीवा० ।७।४।१०९। सूत्रेण स्थानिवद्भावात्परोक्षाकार्यं न भवति ।।११७।।

ब्रूगः पञ्चानां पञ्चाहश्च ।४।२।११८।

ब्रूगः परेषां तिवादीनां पञ्चानां यथासङ्ख्यं पञ्च णवादयो वा स्युः तद्योगे ब्रूग आहश्च । आप आहतु आहु । आत्थ आहथुः । पक्षे ब्रवीतीत्यादि ॥११८॥

तिव स्थाने णव, तसस्थानेऽतुस्, अन्तिस्थाने उस्, सिस्थाने थव्, थस्स्थाने अथुस् । आत्थ 'नहाहोर्धतौ ।२।१।८५ सूत्रेण हकारस्य तकारः । **ब्रवीति**— 'ब्रूतः परादिः ।४।३।६३। सूत्राद् परादिरीत् ॥११८॥

आशिषि तुह्योस्तातङ् ।४।२।११९

आशीरर्थयोस्तुह्योस्तातङ् वा स्यात् । जीवतात् जीवतु भवान् । जीवतात् जीव त्वम् । नन्दतात् नन्दत्वम् । आशिषीति किम् ? जीवतु ।

ङिकरणं गुणनिषेधार्थम् । ङित्करणात्स्थानिनस्तुवो विस्त्वं बाध्यते तेन युतात् रुतादित्यादौ विद्व्यञ्जनप्रत्यया भावात् 'उत और्विति० ।४।३।५९ सूत्रात् नौकारः । शित्वं तु न बाध्यते, यतः शितो ङित्वं, ङित्वेन वित्त्वमेव

वाध्यते न तु शित्त्वं तेन 'श्नास्त्योर्लुक ।४।२।९० इति लुग् भवत्येव ।।११९।।

आतो णव औः ।४।२।१२०।

आतः परस्य णव औः स्यात् । पपौ ।।१२०।

नवेति शितीति सम्बद्धं णव्ग्रहणात् शिन्निवृत्तौ नवेति निवृत्तं तेनात्र नित्यमौकारः । ओकारेणैव सिद्धे औकारकरणं ददरिद्रावित्याद्यर्थमन्यथा 'अशित्यस्सन्० ।४।३।७७। सूत्रादाकारलोपे इदं न सिध्येत् । ननु ददरिद्रावित्यत्र तु आमादेशो भविष्यतीति चेत्सत्यमौकारकरणादामादेशस्यानित्यत्वम् ।।१२०।।

आतामाते आथामाथे आदिः ।।४।२।१२१।।

आत्परेषामेषामात इः स्यात् । पचेताम्, पचेते, पचेथाम, पचेथे । आदिति किम् ? मिमाताम् ।।१२१।।

मिमाताम्—'पृ.भृमा० ।४।१।५८ सूत्रादिकारः ।

यः सप्तम्याः ।४।२।१।२२।

आत्परस्य सप्तम्या याशब्दस्य इः स्यात् । पचेत्, पचेः ।।१२२।।

निर्दिश्यमानस्यैवादेशा भवन्तीति न्यायात् याशब्दस्यादेशः ।।१२२।।

याम्युसोरियमियुसौ ।४।२।१२३।

आत्परयोर्याम्युसोर्यथासंख्यमियम्, इयुसौ स्याताम् । पचेयम्, पचेयुः ।।१२३।।

आत्परयोः—अकारात्परयोरित्यर्थः ।।१२३।।

'इति चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः''

नामिनो गुणोऽक्ङिति ।४।३।१।

नाम्यन्तस्य धातोः क्ङिद्वर्जे प्रत्यये गुणः स्यात् । चेता । अक्ङितीति किम् ? युतः ॥१॥

'आसन्नः' ७।४।१२०। सूत्रात् चेतेत्यत्र गुण एकारः । ग्लायतीत्यादौ ऐकारोपदेशबलान्न गुणः । यद्वा "अवर्णा नामी ।१।१।६। सूत्रे संज्ञासंज्ञिनो भिन्नवचननिर्देशात् ज्ञापितम् यत्र संज्ञिनः संज्ञाऽधिका तत्रैव नामिसंज्ञेति ग्लायतीत्यादौ नामिसंज्ञाभावान्न गुणः । यद्वा गुणः इति सान्वयसंज्ञेयं तेन ग्लायतीत्यादौ हानिरूप एकारो न भवति, गुणस्योत्कर्षरूपत्वात् ॥१॥

उश्नोः ।४।३।२।

धातोरुश्नोः प्रत्यययोरक्ङिति गुणः स्यात् । तनोति । सुनोति ॥२॥

धातोस्तु पूर्वेणोत्तरेण च गुणः ॥२॥

पुस्पौ ।४।३।३।

नाम्यन्तस्य धातोः पुसि पौ च गुणः स्यात् । ऐयरुः, अर्पयति ॥३॥

ऋंक् गतौ ह्यस्तनी, द्वित्वम् 'ऋतोऽत् ।४।१।३८। सूत्रादभ्यासेऽकारः 'पृभृमाहा० ।४।१।५८। सूत्रादभ्यासे इः, पूर्वस्यास्वे० ।४।१।३७। सूत्रादभ्यासे इय्, 'द्वयुक्त० ।४।२।६३। सूत्रादनः स्थाने पुस्, 'पुस्पौ ।४।३।३। इत्यनेन गुणः अर् 'स्वरादेस्तासु ।४।४।३१। सूत्रादभ्यासे वृद्धिः ऐः, ऐयरुः । ऋंक् गतौ

ऋ' प्रापणे च वा, णिग्, अर्तिरी० ।४।२।२१। सूत्रेण पोऽन्तः अनेन प्रकृत-सूत्रेण गुणः । नन्वत्र पुग्रहणं कथम् ? 'अर्त्तिरी० ।४।२।२१। सूत्रे पोरागमत्वमपनीय प्रत्ययत्वे कृतो सर्वं सिध्यति प्रत्ययत्वे कृते 'नामिनो० ।४।३।१। सूत्रेण रेपयतीत्यादावपि गुणः सिध्यति, आगमत्वे तु अर्पयतीत्यत्र 'लघोरूपान्त्यस्य ।४।३।४ सूत्रेण गुणः सिध्यति परन्तु रेपयतीत्यादौ न सिध्यतीति चेन्मैवम् प्रत्ययत्वे कृते 'अरीरिपद्, अदीदिपदित्यादौ उपान्त्यत्वाभावात् 'उपान्त्यस्या० ।४।२।३५। सूत्रेण ह्रस्वत्वं न स्यादिति ध्येयम् ॥३॥

लघोरूपान्त्यस्य ।४।३।४।

धातोरूपान्त्यस्य नामिनो लघोरक्ङिति गुणः स्यात् । भेत्ता । लघोरिति किम् ? ईहते । उपान्त्यस्येति किम् ? भिनत्ति ॥४॥

ननु 'नामिनो गुणो० ।४।३।१। सूत्रेणान्त्यविधानसामर्थ्यादनेनोपान्त्यस्यैव भविष्यति किमुपान्त्यस्येत्युपादानेन ? नच 'नामिनो० ।४।३।१ सूत्रेणाक्ङिति अनेन क्ङिति अपि गुणो भवत्येतदर्थः स्यादिति वाच्यं 'जागुः किति ।४।३।६। 'ऋवर्णदृशोऽङि' ।४।३।७। सूत्रयोरारम्भात् । वस्तुतस्तु जागुः कित्येव गुणः इति विपरीतनियमाशङ्का निवारणार्थमनामिनो वा गुणः स्यादिति सन्देहनिरासार्थमुपान्त्यग्रहणम् ॥४॥

मिदः श्ये ।४।३।५।

मिदेरूपान्त्यस्य श्ये गुणः स्यात् । मेद्यति ॥५॥

'ञिमिदाच् स्नेहने' इति दिवादिः ॥५॥

जागुः किति ।४।३।६।

जागुः किति गुणः स्यात् जागरितः ॥६॥

ङिति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम्, अङिति तु पूर्वेणैव गुणः ॥६॥

ऋवर्णदृशोऽङि ।४।३।७।

ऋवर्णान्तानां दृशेश्चाङि परे गुणः स्यात् । आरत्, असरत्, अजरत् अदर्शत् ॥७॥

आरत्, असरदित्यत्र 'सत्यर्त्तेर्वा ।३।४।१६ सूत्रादङ्', 'ऋवर्णदृशोऽङि ।४।३।७। सूत्रेण गुणः, अर् । अजरत् अदर्शत्—'ऌदिच्छ्विस्तम्भूम्रुचू-म्लुचूग्रुचूग्लुचूग्लुञ्चूज्रो वा ।३।४।६५। दृशेः ऌदित्वात् जृधातुग्रहणाच्चानेनाङ् ॥७॥

स्कृच्छृतोऽकि परोक्षायाम् ।४।३।८।

स्कृऋच्छोः ऋदन्तानां च नामिनः परोक्षायां गुणः स्यात् नतु कोपलक्षितायां क्वसुकानोः । सञ्चस्करुः । आनर्छुः, तेरुः । अकीति किम् ? सञ्चस्कृवान् ॥८॥

सञ्चस्करुः—'संपरे कृगः स्सट् ।४।४।९१। सूत्रात् स्सट् । आनर्छुरिति—अनातो नश्चान्तः० ।४।१।६९। तेरुः, 'तृत्रप० ।४।१।२५। सूत्रादेत्वं द्वित्वाभावश्च ॥८॥

संयोगादृदर्त्तेः ।४।३।९।

संयोगात्परो य ऋत् तदन्तस्यार्त्तेश्च परोक्षायामकि गुणः स्यात् । सस्मरुः, सस्वरुः, आरुः । संयोगादिति किम् ? चक्रुः । ॥ ९ ॥

गुणप्रतिषेधाविषये पुनःप्रसवार्थं वचनम् । ऋतः संयोगेन विशेषणादर्ति-ग्रहणम् । तित्निर्देश उत्तरार्थः ॥९॥

क्ययङशीर्ये ।४।३।१०।

संयोगाद् य ऋत् तदन्तस्यार्त्तेश्च क्ये यङ्याशीर्ये च गुणः स्यात् । स्मर्यते, स्वर्यते, अर्यते, सास्मर्यते, सास्वर्यते, अरार्यते, स्मर्यात्, अर्यात्, ॥१०॥

स्वाभाविकसंयोगग्रहणान् संस्क्रियते इत्यादौ न भवति । अर्त्तेस्तिव्निर्दे-शात् यङ्लुपि न गुणः ॥१०॥

न वृद्धिश्चाविति क्ङिल्लोपे ।४।३।११।

अविति प्रत्यये यो कितो ङितश्च लोपस्तस्मिन् सति गुणो वृद्धिश्च न स्यात् । चेच्यः मरीमृजः ॥११॥

चिञ्ट् चयने भृशं पुनः पुनर्वा चिनोति 'व्यञ्जनादेरेकरा० ।३।४।९। सूत्रात् यङ्, द्वित्वम्, 'आगुणावन्यादेः ।४।१।४८। सूत्राद् गुणः । चेचीयते इति 'अच् ।५।१।४९। सूत्रादच्, 'अचि' ।३।४।१५। सूत्रेण यङ्लोपः, यङ् सस्वर एव लुप्यते, यदि च 'अतः' ।४।३।८२। सूत्राद् यकाराकारस्य लोपः, ततो यङ्लोपस्तर्हि 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ ।७।४।११०। सूत्रात् लुप्ताकारस्य स्थानिवद्भावात्, स्थानित्वे च गुणप्राप्तिरेव नास्ति इति हेतोः 'अचि ।३।४।१५। सूत्रात्सस्वरस्य यङो लोपः, यङ्लोपानन्तरं **चेच्य** इत्यत्र 'योऽनेकस्वरस्य ।२।१।५६। सूत्राद् धातुस्वरस्य यः । **मरीमृजः**—अचि ऋतः स्वरे वा ।४।३।४३। सूत्राद् वृद्धिप्राप्तिः ॥११॥

भवतेः सिज्लुपि ।४।३।१२।

भुवः सिज्लुपि गुणो न स्यात् । अभूत् । सिज्लुपीति किम ? व्यत्यभविष्ट ॥१२॥

तिव्निर्देशात् यङो लुपि न प्रतिषेधः । अभूत्—'पिबैति० ।४।३।६६। सूत्रात्सिचो लुप् ॥१२॥

सूतेः पञ्चम्याम् ।४।३।१३।

सूतेः पञ्चम्यां गुणो न स्यात् । सुवै ॥१३॥

तिव्निर्देशाद् यङ्लुपि गुणो भवत्येव ॥१३॥

द्व्युक्तोपान्त्यस्य शिति स्वरे ।४।३।१४।

द्व्युक्तस्य धातोरुपान्त्यस्य नामिनः स्वरादौ शिति गुणो न स्यात् । नेनिजानि । उपान्त्यस्येति किम् ? जुहवानि । शितीति किम् ? निनेज ॥१४॥

द्वे उक्ते यस्य स द्व्युक्तः सूत्रत्वाद् क्तान्तं न पूर्वं निपतति । नेनिजानि—'निजां शित्येत्' ।४।१।५८। सूत्राद्द्वित्वे पूर्वस्यैत् ॥१४॥

ह्विणोरप्विति व्यौ ।४।३।१५।

ह्वोरिणश्च नामिनः स्वरादावपित्य—विति शिति यथासंख्यं व्यौ स्याताम् । जुह्वति, यन्तु । अप्वितीति किम् ? अजुहवुः अयानि ॥१५॥

अयानि—इंण्क् गतौ+आनिप्रत्ययः, विस्वात् ङिद् नास्ति अतो गुणः । ॥ १५ ॥

इको वा ।४।३।१६।

इकः स्वरादावविति शिति य् वा स्यात् । अधियन्ति, अधीयन्ति ॥१६॥

इंक् स्मरणे ॥१६॥

कुटादेर्ङिद्वदञ्णित् ।४।३।१७।

कुटादेः परो ञ्णिद्वर्जप्रत्ययो ङिद्वद् स्यात् । कुटिता, गुता । अञ्णिदिति किम् ? उत्कोटः, उच्चुकोट ॥१७॥

तुदाद्यन्तर्गतः कुटत् कौटिल्ये इत्यारभ्य गुरैति उद्यमे इतिपर्यन्तः कुटादिगणः ॥१७॥

विजेरिट् ।४।३।१८।

विजेरिट् ङिद्वत्स्यात् । उद्विजिता । इडिति किम् ? उद्वेजनम् । ॥ १८ ॥

ओविजैति भयचलनयोः, ओविजैप् भयचलनयोः, द्वयो–र्ग्रहणम् ॥१८॥

वोर्णोः ।४।३।१९।

ऊर्णोरिड् वा ङिद्वत् स्यात् । प्रोर्णुविता, प्रोर्णविता ॥१९॥

विकल्पेन ङित्वात्पक्षे गुणः ॥१९॥

शिदवित् ।४।३।२०।

धातोर्विद्वर्जः शित्प्रत्ययो ङिद्वत् स्यात् । इतः, क्रीणाति । अविदिति किम् ? एति । शिदिति किम् ? चेषीष्ट ॥२०॥

क्रीणातीत्यत्र श्नाप्रत्ययः ङिद्वद् ॥२०॥

इन्ध्यसंयोगात्परोक्षा किद्वद् ।४।३।२१।

इन्धेरसंयोगान्ताच्च परा अवित्परोक्षा किद्वज् स्यात् । समीधे, निन्युः । इन्ध्यसंयोगादिति किम् ? सस्रंसे ॥२१॥

ङिद्वदित्यधिकारे किद्वचनं यजादिवचिस्वपीनां य्वृदर्थम् जागर्त्तेश्च गुणार्थम् । ङित्वे हि य्वृद्गुणौ न स्याताम् । ननु 'निन्यु' इत्यत्र यत्वे कृते 'नो व्यञ्जनस्यानुदितः ।४।२।४५। सूत्रादुपान्त्यस्य नकारलोपो कथं नेति चेत्सत्यं अन्तरङ्गे नकारलोपे कर्तव्ये बहिरङ्गस्य यत्वस्यासिद्धत्वमथवा यत्वे कृते संयोगान्तो धातुरतः कित्त्वमेव नास्ति ॥२१॥

स्वञ्जेर्नवा ।४।३।२२।

स्वञ्जे परोक्षा वा किद्वद् स्यात् । सस्वजे, सस्वञ्जे ॥२२॥

कित्त्वात् 'नो व्यञ्जनस्या० ।४।२।४५। सूत्रादुपान्त्यनकारस्य लुग् सिद्धः । ॥ २२ ॥

जनशो न्युपान्त्ये तादिः क्त्वा ।४।३।२३।

जन्तान्नशेश्च न्युपान्त्ये सति तादिः क्त्वा किद्वद् वा स्यात् । रक्त्वा, रङ्क्त्वा । नष्ट् वा । नीति किम् ? भुक्त्वा । उपान्त्य इति किम् ? निक्त्वा । तादिरिति किम् ? विभज्य ॥२३॥

नंष्ट्वा—'नशो धुटि' ।४।४।१०९ सूत्रात् नः । निक्त्वा—निज्धातुः नात्र उपान्त्ये नः किन्त्वादौ ॥२३॥

ऋत्तृष-मृश-कृश-वञ्च-लुञ्च-थफः सेट् ।४।३।२४।

न्युपान्त्ये सत्येभ्यो वा क्त्वा सेट् किद्वद् स्यात् । ऋतित्वा, अर्तित्वा । तृषित्वा, तर्षित्वा । मृषित्वा, मर्षित्वा । कृशित्वा, कर्शित्वा । वचित्वा, वञ्चित्वा । लुचित्वा,लुञ्चित्वा । श्रथित्वा, श्रन्थित्वा । गुपित्वा, गुम्फित्वा । न्युपान्त्य इति किम् ? कोथित्वा, रेफित्वा । सेडति किम् ? वक्त्वा ॥२४॥

न्युपान्त्य इति विशेषणं थफान्तान्ताम् नान्येषां संभव्यभिचाराभावात् । कृशां न सम्भवः वञ्चलुञ्चोर्न व्यभिचारः एतत्तु समुदितानां लक्षणम् । 'क्त्वा ।४।३।२९ सूत्रात् कित्त्वप्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । ऋत घृणागतिस्पर्धेषु । श्रन्थश्—मोचनप्रतिहर्षयोः । गुम्फत् ग्रन्थने । कुथच् पूतिभावे— व्यावृत्तिबलादुत्तरेणापि न विकल्पः किन्तु क्त्वेत्येनेन नित्यं प्रतिषेधः। वञ्च्-वक्त्वा—'ऊदितो वा ।४।४।४२ सूत्रादिड्विधेर्विकल्पत्वादत्र नेट् ॥२४॥

वौ व्यञ्जनादेः सन् चायवः ।४।३।२५।

वौ उदित्युपान्त्ये सति व्यञ्जनादेर्धातोः परः क्त्वा सन् च सेटौ किद्वद् वा स्यातां न तु यवन्तात् । द्युतित्वा, द्योतित्वा, दिद्युतिषते, दिद्योतिषते । लिखित्वा, लेखित्वा । लिलिखिषति, लिलेखिषति । वाविति किम् ? वर्तित्वा । व्यञ्जनादेरिति किम् ? उषित्वा । अयव इति किम् ? देवित्वा ॥२५॥

दिद्युतिषते—'द्युतेरिः ।४।१।४१। सूत्रादिकारः । उषित्वा—'क्षुधवसस्तेषाम्' ।४।४।४३। सूत्रादिट् 'यजादिवचेः किति ।४।४।७८ सूत्राद् य्वृत् ॥२५॥

उति शवर्हाद्भयः क्तौ भावारम्भे ।४।३।२५।

उत्युपान्त्ये सति शवर्हेभ्य अदादिभ्यश्च परौ भावारम्भयोः

क्तक्तवतू सेटौ वा किद्वद् स्याताम् । कुचितम्, कोचितमनेन। प्रकुचितः, प्रकोचितः, प्रकुचितवान् । रुदितम्, रोदितममेभिः, प्ररुदितः, प्ररोदितः प्ररुदितवान्, प्ररोदितवान् । उतीति किम् ? श्वितितमेभिः । शवर्हा -य इति किम् ? प्रगुधितः । भावारम्भ इति किम् ? रुचितः ॥२६॥

कुचितम्—कुच्यते स्मेति भावे क्तः । **प्रकुचितः इत्यादि**—प्रकोचितुमारभते स्म आरब्धवान् वेति क्तक्तवतूप्रत्ययौ । **रुचितः**–रोचते स्म ॥२६॥

न डीङ्शीङ्पूङ्धृषिक्ष्विदिस्विदिमिदः ।४।३।२७।

एभ्यः परौ सेटौ क्तक्तवतू किद्वद् न स्याताम् । डयितः, डयितवान् । शयितः, शयितवान् । पवितः पवितवान् । प्रधर्षित, प्रधर्षितवान् । प्रक्ष्वेदितः प्रक्ष्वेदितवान् । प्रस्वेदितः, प्रस्वेदितान् । प्रमेदितः, प्रमेदितवान् । सेटावित्येव-डीनः, डीनवान् ॥२७॥

डीङ्शीङ्पूङामनुबन्धनिर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । डीङ् विहायसां गतौ, शीङ्क् स्वप्ने 'श्लिष्शीङ्० ।५।१९। सूत्रात् क्तः । पूङ् पवने 'पूङ्क्लिशिभ्यो नवा ।४।४।४५। सूत्राद् विकल्पेन इट् । ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये प्रधर्षितुमारब्धवान् प्रधृष्यते स्मेति वा प्रधर्षितः, प्रधर्षितवान् । ञिक्ष्विदाङ् मोचने च ञिष्विदाच् गात्रप्रक्षरणे 'षः सोऽष्टयै० ।२।३।९८ ञिमिदाङ् स्नेहने 'आदितः ४।४।७१। सूत्रेण सर्वत्र इट् । डीनः, **डीनवान्**–डीङ्च् गतौ दैवादिकः 'सूयत्याद्योदितः ।४।२।७०। सूत्रेण नकारः । मूलोदाहरणे भ्वादेरेव डयितः, अस्य इडेव । दैवादिकस्य 'डीयश्व्यै०।४।४।६१।सूत्रेण इडिनिषेधः उक्तोऽस्ति ॥२७॥

मृषः क्षान्तौ ।४।३।२८।

क्षामार्थान्मृषः सेटौ क्तक्तवतू किद्वन्न स्याताम् । मर्षितः, मर्षि-क्षान्ताविति किम् ? अपमृषितं वाक्यम् ।।२८।।

अपमृषितं वाक्यम्—सासूयं समत्सरं वचनमित्यर्थः। सेडिति भणनात् मृषू सहने च "इत्यस्य तु 'वेटोऽपतः ।४।४।६२ सूत्रादनिट्त्वात् ग्रहणमेव न भवति ।।२८।।

क्त्वा ।४।३।२६।

धातोः क्त्वा सेट् किद्वन्न स्यात् । देवित्वा । सेडित्येव-कृत्या ।।२८।।

देवित्वेत्यत्र किन्वाभावाद् गुणः ।।२९।।

स्कन्दस्यदः ।४।३।३०।

आभ्यां क्त्वा किद्वन्न स्यात् । स्कन्त्वा, स्यन्त्वा ।।३०।।

अनिडर्थं वचनम्, सेटि तु पूर्वसूत्रेण स्यन्दित्वेत्येव भवति । स्कन्दृं गतिशोषणयोः, स्यन्दौङ् स्रवणे । केचित्तु प्रस्कद्य, प्रस्यद्येति यपः क्त्वि-मिच्छन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं क्त्त्वेति द्वितकारनिर्देशः, तकारादिः क्त्वेत्यर्थः ।।३०।।

क्षुधक्लिशकुष-गुध-मृड-मृद-वद--वसः ।४।३।३१।

एभ्यः क्त्वा सेट् किद्वत्स्यात् । क्षुधित्वा, क्लिशित्वा, कुषित्वा, गुधित्वा, मृडित्वा, मृदित्वा, उदित्वा, उषित्वा ।।३१।।

नेति निवृतम् मृदादीनामुपादानात् अन्यथा एभ्यः 'क्त्वा' ४।३।२६। सूत्रेण

प्रतिषेधः सिद्ध इति तदुपादानमनर्थकं स्यात्। क्षुधादीनामप्युपादानाद् 'वौ व्यञ्जनादेः०' ।४।३।२५। सूत्राद् विकल्पे प्राप्तेऽनेन प्रतिषेधः। उषित्वा—इत्यत्र 'क्षुधवसस्तेषाम् ।४।४।४३। सूत्रादिट्, 'घस्वसः' ।२।३।३६। सूत्रेण षकारः ॥३१॥

रुदविदमुषग्रहस्वपप्रच्छः सन् च ।४।३।३२।

एभ्यः क्त्वा सन् च किद्वद् स्यात्। रुदित्वा, रुरुदिषति। विदित्वा, विविदिषति। मुषित्वा, मुमुषिषति। गृहीत्वा, जिघृक्षति। सुप्त्वा, सुषुप्सति। पृष्ट्वा, पिपृच्छिषति ॥३२॥

रुदविदमुषां 'वौ व्यञ्जनादेः सन्चाय्वः ।४।३।२५। सूत्राद् विकल्पे, ग्रहेस्तु 'क्त्वा' ।४।३।२९। सूत्रेण प्रतिषेधे सूत्रमिदम्। विद इति विदक् ज्ञाने इत्यस्य ग्रहणं नान्येषाम् तेषां हि अनिट्त्वात् निषेधाभावात् किद्वदेव क्त्वा। सेडिति निवृत्तम् स्वपिप्रच्छोरसंभवात्। स्वपिप्रच्छोः सन्नर्थमेव, क्त्वा हि किदेव। **जिघृक्षति**—'ग्रहीश् उपादाने' ग्रहीतुमिच्छतीति सन्, द्वित्वम् 'रुदविद०' ।४।४।३३। सूत्रेण सन् किद्वत्, ग्रहव्रश्चभ्रस्जप्रच्छः ४।१।८४। सूत्रेण य्वृत्—रकारस्य ऋः, 'हो धुट्पदान्ते ।२।१।८२। सूत्रात् हस्य ढः, 'गडदबादे० ।२।१।७७। सूत्राद् गकारस्य घः, 'षढोः कस्सि ।२। ।६२। सूत्रात् ढस्य क्, 'नाम्यन्तस्था० ।२।३।१५। सूत्रेण सस्य षत्वम्। **पृष्ट्वा**—प्रच्छ्, क्त्वा, किद्वद्भावात् 'ग्रहव्रश्चभ्रस्जप्रच्छः ।४।१।८४। सूत्रात् य्वृत्, रस्य ऋः, 'अनुनासिके च च्छ्वः शूट् ।४।१।१०८। सूत्रेण छकारस्य स्थाने तालव्यशकारः 'यजसृजमृज० ।२।१।८७। सूत्रात् शकारस्य षकारः, तवर्गस्य श्चवर्ग ।१।३।६०। सूत्रेण प्रत्ययतकारस्य टकारः। **पिपृच्छिषति**—'ऋस्मि० ।४।४।८४। सूत्रादिट् ॥३२॥

नामिनोऽनिट् ।४।३।३३।

नाम्यन्ताद्धातोरनिट् सन् किद्वत्स्यात्। चिचीषति। अनिडिति किम्? शिशयिषते ॥३३॥

चिग्ट् चयने स्वादिः ॥३३॥

उपान्त्ये ।४।३।३४।

नाम्युपान्त्ये सति धातोः सन्ननिट् किद्वद् स्यात् । बिभित्सति ॥३४॥

भिदृंपी विदारणे ॥३४॥

सिजाशिषावात्मने ।४।३।३५।

नाम्युपान्त्ये सति धातोरात्मनेपदविषयावनिटौ सिजाशिषौ किद्वत्स्याताम् । अभित्त, भित्सीष्ट । आत्मन इति किम् ? अस्राक्षीत् ॥३५॥

अस्राक्षीत्—सृज, अद्यतनीदि, सिच्, 'सः सिजस्ते० ।४।३।६५। सूत्रात् ईत्, 'अः सृजिदृशोऽकिति ।४।४।१११। सूत्रात् धातुमध्ये अकारः, 'व्यञ्जनानामनिटि ।४।३।४५। सूत्राद् वृद्धिः, 'यजसृजमृज० ।२।१।८७। सूत्रात् जस्य षकारः, 'षढोः कस्सि ।२।१।६२। सूत्रात् षस्य कः, 'नाम्यन्ता० ।२।३।१५। सूत्रात् सस्य षः ॥३५॥

ऋवर्णात् ।४।३।३६।

ऋवर्णान्ताद् धातोरनिटावात्मनेपदविषयौ सिजाशिषौ किद्वत्स्याताम् । अकृत, कृषीष्ट । अतीर्ष्ट, तीर्षीष्ट ॥३६॥

अकृत—अनेन सिचः कित्त्वात् गुणाभावः । 'धुड्ह्रस्वा० ।४।३।७०। सूत्रात् सिचः लुक् । **अतीर्ष्ट**—'कित्त्वादिर् 'भ्वादे० ।२।१।६३। सूत्रात् दीर्घः । अत्र 'एकधातौ कर्मक्रियये० ।३।४।८६। सूत्रेण कर्मकर्तरि आत्मनेपदं भवति,

आत्मनेपदतप्रत्यये सति 'स्वरदुहो वा । ३।४।६०। सूत्राद् विकल्पेन ञिच् प्राप्नोति, विकल्पत्वादत्र न ञिच्, कर्मविवक्षायां सत्यां तु नित्यं ञिच् ॥३६॥

गमो वा ।४।३।३७।

गमेरात्मनेपदविषयौ सिजाशिषौ किद्वद् वा स्याताम् । समगत, समगंस्त । संगसीष्ट, संगंसीष्ट ॥३७॥

समगत—'समो गमच्छि० ।३।३।८४। सूत्रादात्मनेपदम्, 'यमिरमि० ४।२।५५। सूत्रात् धातोर्मलुक् ॥३७॥

हनः सिच् ।४।३।३८।

हन्तेरात्मनेपदविषयः सिच् किद्वद् स्यात् । आहत ॥३८॥

हनंक् हिंसागत्योरदादिः ॥३८॥

यमः सूचने ।४।३।३९।

सूचनार्थाद्यमेरात्मनेपदविषयः सिच् किद्वत् स्यात् । उदायत । सूचन इति किम् ? आयंस्त रज्जुम ॥३९॥

सूचनं परदोषाविष्करणम् । **उदायत**—'आङो यमहनः०' ।३।३।८६। सूत्रादात्मनेपदम्, सकर्मकात् 'समुदाङो यमेः० ।३।३।९८। सूत्रादात्मनेपदम् । **आयंस्त रज्जुम्**—उद्धतवान् कूपादिति ज्ञेयम् ॥३९॥

वा स्वीकृतौ ।४।३।४०।

स्वीकारार्थाद्यमेरात्मनेपदविषयः सिच् किद्वद् वा स्यात् ।

उपायत, उपायंस्त महास्त्राणि । स्वीकृताविति किम् ? आयंस्त पाणिम् ॥४०॥

उपायत—'यमः स्वीकारे'० ।३।३।६५। सूत्रादात्मनेपदम् । उद्वाह एवेच्छन्त्यन्ये ॥४०॥

इश्च स्थादः ।४।३।४१।

स्थः दासंज्ञकाच्चात्मनेपदविषयः सिच् किद्वत् स्यात्, तद्योगे स्थादोरिश्च । उपास्थित, आदित, व्यधित ॥४१॥

न चेकारविधानादेव गुणो न भविष्यतीति किं सिचः किद्विधानेनेति वाच्यं विधानस्य ह्रस्वद्वारा 'धुड्ह्रस्वा० ।४।३।७०। सूत्रात् सिज्लोपे चरितार्थत्वाद् गुणः स्यादिति । उपास्थित—'उपात्स्थः' ।३।३।८३। सूत्रादात्मनेपदम् । आदित—देङ् पालने, डुदांगक् दाने । व्यधित—डुधांगक् धारणे च ॥४१॥

मृजो ऽस्य वृद्धिः ।४।३।४२।

मृजेर्गुणे सति अस्य वृद्धिः स्यात् । मार्ष्टि । अत इति किम् ? मृष्टः ॥४२॥

मृजौक् शुद्धौ अदादिः ॥४२॥

ऋतः स्वरे वा ।४।३।४३।

मृजे ऋतः स्वरादौ प्रत्यये वृद्धिर्वा स्यात् । परिमार्जन्ति, परिमृजन्ति । ऋत इति किम् ? माम्मर्ज । स्वर इति किम् ? मृज्यः ॥४३॥

ममार्ज—अत्र गुणे कृते पूर्व सूत्रेण नित्यं वृद्धिः, न त्वनेन विकल्पः ॥४३॥

सिचि परस्मै समानस्याङिति ।४।३।४४।

समानान्तस्य धातोः परस्मैपदविषये सिच्यङिति वृद्धिः स्यात् । अचैषीत् । परस्मैपद इति किम् ? अच्योष्ट । समानस्येति किम् ? अगवीत् । अङितीति किम् ? न्यनुवीत् ॥४४॥

'आसन्नः ।७।४।१२०। सूत्रादासन्ना वृद्धिर्भवति । गोरिवाचारीत्=अगवीत् 'कर्तुः० ।३।४।२५। सूत्रात् क्विप्, अद्यतनी दि, सिच् 'सः सिज० ।४।३।६५ सूत्रात् ईत् 'स्ताद्य० ।४।४।३२। सूत्रादिट् 'इट ईति ।४।३।७१ सूत्रात्सिचो लोपः । णूधातोः० न्यनुवीत् ॥४४॥

व्यञ्जनानामनिटि ।४।३।४५।

व्यञ्जनान्तस्य धातोः परस्मैपदविषये अनिटि सिचि समानस्य वृद्धिः स्यात् । अराक्षङीत् । समानस्येत्येव-उदवोढाम् । अनिटीति किम् ? अतक्षीत् ॥४५॥

बहुवचनं व्याप्त्यर्थम् तेनानेकव्यञ्जनव्यवधानेऽपि भवति यथा रञ्जधातोः **अराङ्क्षीत्**—'सिजद्यतन्याम् ।३।४।५३। सूत्रात्सिच्, 'सः सिजस्तेर्दिस्योः ।४।३।६५। सूत्राद् सिच पर ईत्, 'व्यञ्जनानाममनिटि ।४।३।४५। सूत्रादुपान्त्यवृद्धि । जस्य गः, गस्य ककारः 'नाम्य० ।२।३।१५। सूत्रात्सस्य षः । **उदवोढाम्**—उत्पूर्वकवह, अद्यतनीताम्, 'अड्धातो० ।४।४।२९। सूत्रादट्, सिजद्य० ।३।४।५३। सूत्रात् सिच, व्यञ्जनानाम० ।४।३।४५। इत्यनेन वृद्धिः, ततः वाह् 'धुड्ह्रस्वाल्लु० ।४।३।७०। सूत्रात्सिचो लोपः, 'हो धुट्पदान्ते ।२।१।८२। सूत्राद् हस्य ढः, 'अधश्चतुर्थात्तथो—र्धः ।२।१।७९। सूत्रात् क्ततकारस्य धकारः, 'तवर्गस्य० ।१।३।६०। सूत्रात् धकारस्य ढः 'सहिवहे० ।१।३।४३। सूत्रात् धातुढकारस्य लोपः सूत्रे वहेरित्युक्त तथापि

'एकदेश- विकृतमनन्यवत्' इति न्यायात् बाहेरपि ओकार:, तदनन्तरं "भूतपूर्वकस्तद्वदुपचार:" इति न्यायाद्, हस्य परेऽ सत्वाद् वा व्यञ्जनान्तधातुत्वे सति पुनरपि 'व्यञ्जनानामनिटि ।४।३।४५। इत्यनेन ओकारस्य वृद्धि: प्राप्नोति, परन्तु 'समानस्य' इति व्यावृत्तिबलात् वृद्धि: प्रतिषिध्यते। **अतक्षीत्**—तक्षौ तनूकरणे तक्ष+दि+अट् 'सिजद्यतन्याम् ।३।४।५३। सूत्रात्सिच्, 'स: सिजस्तेर्दिस्यो: ।४।३।६५। सूत्रात्सिच: पर ईत्, धूगौदित: ।४।४।३८। सूत्राद् विकल्पेनेट् ।।४५।।

वोर्णु ग: सेटि ।४।३।४६।

उर्णो: सेटि सिचि परस्मैपदे वृद्धिर्वा स्यात् । प्रोर्णावीत्, प्रोर्णवीत् । प्रोर्णु वीत् ।।४६।।

सानुबन्धोपादानं यङ्लुब्निवृत्त्यर्थम् । सेटीत्युत्तरार्थम् । **प्रोर्णु वीत्**-ऊर्णु गुक् आच्छादने 'वोर्णो: ।४।३।१८। सूत्रात् विकल्पेन ङिद्वद् तेन गुणाभाव: । संयोगात् ।२।१।५२। सूत्रादुव् ।।४६।।

व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्य ।४।३।४७।

व्यञ्जनादेर्धातोरुपान्त्यस्यात: सेटि सिचि परस्मैपदे वृद्धिर्वा स्यात् । अकाणीत्, अकणीत् । व्यञ्जनादेरिति किम् ? मा भवानटीत् । उपान्त्यस्येति किम् ? अवधीत् । अत इति किम् ? अदेवीत् । सेटीत्येव अधाक्षीत् ।।४७।।

अवधीत्—हनंक् अद्यतनीदिविषये 'अद्यन्यां वा० ।४।४।२२। सूत्रात् वधोऽ दन्त आदेश:, सिच्, ईत्, इट्, 'अत: ।४।३।८२। सूत्रादकारलोप: ।४७।।

वद्व्रजलर: ।४।३।४८।

वदव्रजोर्लन्तरन्तयोश्चोपान्त्यस्यास्य परस्मैपदे सेटि सिचि वृद्धिः स्यात् । अवादीत्, अव्राजीत्, अज्वालीत्, अक्षारीत् ॥४८॥

पूर्वस्यापवादोऽयम् ॥४८॥

न श्विजागृशसक्षणह्म्येदितः ।४।३।४९।

एषां ह्म्यन्तानामेदितां च परस्मैपदे सेटि सिचि वृद्धिर्न स्यात् । अश्वयीत्, अजागरीत्, अशसीत्, अक्षणीत्, अग्रहीत्, अवमीत्, अहयीत्, अकगीत् ॥४९॥

"सिचि परस्मै० ।४।३।४४। सूत्राद् वृद्धौ अन्येषां च 'व्यञ्जनादेर्वोपा०' ।४।३।४७। सूत्राद् विकल्पे प्राप्ते वचनम् । अस्मिन् सूत्रे विशेषोऽयम्-श्विजागादीनां यङ्लुबन्तानामपि वृद्धिप्रतिषेधः, एदितां तु यङो लुपि वृद्धिप्रतिषेधो न भवति ॥४९॥.

ञ्णिति ।४।३।५०।

ञिति णिति च परे धातोरुपान्त्यस्यातो वृद्धिः स्यात् । पाकः, पपाच ॥५०॥

ञिति=ञकारानुबन्धे, णिति=णकारानुबन्धे ॥५०॥

नामिनोऽकलिहलेः ।४।३।५१॥

नाम्यन्तस्य धातोर्नाम्नो वा कलिहलिवर्जस्य ञ्णिति वृद्धिः स्यात् । अचायि, कारकः, अपीपटत् । कलिहलिवर्जनं किम् ? अचकलत् ॥५१॥

कलिहलिवर्जनान्नाम्नोऽपि तेन पटुमाख्यातवान् अपीपटत् इत्यत्र वृद्धावन्त्यस्वरादिलोपे च सन्वद्भावः सिध्यति । अयं भावः पटुरित्यत्र उकारः, उकारश्च समानः 'त्र्यन्त्यस्वरादेः ।७।४।४३। सूत्राल्लोपे सन्वद्भावो न सिध्यति, यदि वृद्धिं कृत्वा लोपे तु सिध्यति औकारस्य समानत्वाभावात् । यद्यपि लुचो नित्यत्वात् 'बलवन्नित्यमनित्यात्' इति न्यायात्प्रथमं लुक् प्राप्नोति तथापि कलिहलिवर्जनात् प्रथमं वृद्धिः, अन्यथा कलिहलिशब्दयोरिकारस्य प्रथमं लुचि वृद्धिप्राप्तिरेव नास्तीति वर्जनं व्यर्थं स्यात् । **अपीपटत्** इत्यत्र णिच् 'नामिनोऽ० ।४।३।५१। सूत्राद् वृद्धिः औ, 'त्र्यन्त्यस्वरादेः ।७।४।४३। सूत्रादन्त्यस्वरादिलोपः, 'पट्' इति शब्दः, ततोऽद्यतनीदि, 'णिश्रि० ।३।४।५८। सूत्रात् ङप्रत्ययः, द्विर्वचनम्, अभ्यासेऽसमानलोपित्वात् सन्वद्भावः 'लघोर्दीर्घो० ।४।१।६४। सूत्रात् दीर्घः । कलिं हलिं वाऽग्रहीत्=अचकलत्, अजहलत् ।।५१।।

जागुर्ञिणवि ।४।३।५२।

जागुर्ञौ णव्येव च ञ्णिति वृद्धिः स्यात् । अजागारि, जजागार । ञिणवीति किम् ? जागरयति ।।५२।।

पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थोऽयं योगः । जागुर्ञौ णवि वृद्धिरेव अथवा जागुरेव ञौ णवि च वृद्धिरिति विपरीतनियमस्तु अन्त्यणवो वा णित्वविधानात्, 'न जनवधः ।४।३।५४। इत्यादौ ञिप्रत्यये वृद्धिनिषेधाच्च न भवति ।।५२।।

आत ऐः कृञ्ञौ ।४।३।५३।

आदन्तस्य धातोर्ञ्णिति कृति ञौ च ऐः स्यात् । दायः, दायकः, अदायि । कृदिति किम् ? ददौ ।।५३।।

दायः—अत्र घञ् । दायकः—अत्र णकः । **अदायि**—'भावकर्मणोः' ३।४।६८। सूत्रात् ञिच् ।।५३।।

न जनबधः ।४।३।५४।

अनयोः कृति ञ्णिति ञौ च वृद्धिर्न स्यात् । प्रजनः, जन्यः, अजनि । बधः, बध्यः, अबधि ॥५३॥

बधिरत्र वन्धने इव्ययं गृह्यते । हन्यादेशस्य तु वधेरदन्तत्वात् वृद्धिप्रसङ्ग एव नास्ति । प्रजनः अत्र घञ्, जन्यः, अत्र घ्यण्, अजनि—अत्र ञिच् ॥५५॥

मोऽकमियमिरमिनमिगमिवमाचमः ।४।३।५५।

मन्तस्य धातोः कम्यादिवर्जस्य ञ्णिति कृति ञौ च वृद्धिर्न स्यात् । शमः, शमकः, अशमि । कम्यादिवर्जनं किम् ? कामः, कामुकः, अकामि । यामिः, रामः, नामः, अगामि, वामः, आचामकः ॥५५॥

कामुकः—शृ–कम० ।५।२।४०। सूत्रादुकण् ॥५५॥

विश्रमेर्वा ।४।३।५६।

विश्रयोर्ञ्णिति कृति ञौ च वृद्धिर्वा स्यात् । विश्रामः, विश्रमः, विश्रामकः, विश्रमकः, व्यश्रामि, व्यश्रमि ॥५६॥

विश्रामः विश्रमः—अत्र घञ् । विश्रामकः, विश्रमकः—अत्र णकः । व्यश्रामि, व्यश्रमिः—अत्र ञिच् । अन्ये तु विश्रमेर्वृद्धिं नेच्छन्त्येव । अपरे तु नित्यमेव वृद्धिमिच्छन्ति । एके तु घञ्येव विकल्पमातिष्ठन्ते ॥५६॥

उद्यमोपरमौ ।४।३।५७।

उदुपाभ्यां यमिरम्योर्घञि वृद्ध्यभावो निपात्यते । उद्यमः उपरमः ।।५७।।

उदुपाभ्यामन्यत्र निरुपसर्गे उपसर्गान्तरे सति च पूर्वेण वृद्धिरेव ।।५७।।

णिद्वाऽन्त्यो णव् ।४।३।५८।

परोक्षाया अन्त्यो णव् णिद् वा स्यात् । अहं चिचय, चिचाय । चुकुट, चुकोट । अन्त्य इति किम् ? स पपाच ।।५८।।

परोक्षातृतीयत्रिकैकवचनमन्त्यो णव् । णित्त्वाश्रयं कार्यं पक्षे प्रतिषिध्यते । णित्त्वाश्रयस्य विकल्पनात् णवाश्रयं नित्यमेव यथा पपौ । णित्त्वविकल्पनात् कुटादीनां गुणविकल्पः ।।५८।।

उत और्विति व्यञ्जनेऽद्वेः ।४।३।५९।

अद्व्युक्तस्योदन्तस्य धातोर्व्यञ्जनादौ विति औः स्यात् । यौति । उत इति किम् ? एति । धातोरित्येव—सुनोति । वितीति किम् ? स्तुतः । व्यञ्जन इति किम् ? स्तवानि । अद्वेरिति किम् ? जुहोति ।।५९।।

तोः स्थाने तातङो ङित्त्वात्स्थानिवत्त्वं बाधते तेन युतात् इत्यादौ वित्त्वाभावात् नौकारः । केचित्तु यङ्लुबन्तस्यापि इच्छन्ति ।।५९।।

वोर्णोः ।४।३।६०।

ऊर्णोरद्व्युक्तस्य व्यञ्जनादौ वित्यौर्वा स्यात् । प्रोर्णौति, प्रोर्णोति । अद्वेरित्येव-प्रोर्णोनोति ।।६०।।

पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः। यङ्लुबन्तस्यापीच्छन्त्यन्ये ॥६०॥

न दिस्योः ।४।३।६१।

ऊर्णोर्दिस्योः परयोरौर्न स्यात् । प्रौर्णोत्, प्रौर्णोः ॥६१॥

पृथग्योगात् पूर्वेण 'उत औ० ।४।३।५९। इति सूत्रेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते अन्यथा 'व्रोर्णोरदिस्योः' इति सूत्रं क्रियेत। दिसाहचर्यात् ह्यस्तन्या एव सिः गृह्यते नेन वर्तमानासिप्रत्यये न भवति। **प्रौर्णोत्**—'स्वरादेस्तासु ४।४।३१। सूत्राद् वृद्धिः ॥६१॥

तृहः श्नादीत् ।४।३।६२।

तृहेः श्नात्परो व्यञ्जनादौ विति परे ईत् स्यात् । तृणेढि ॥६२॥

तृहप् हिंसायाम् वर्तमानातिव् 'रुधां स्वरात्० ।३।४।८२। सूत्रात् धातुमध्ये श्नः, अनेन सूत्रेण ईत्, 'हो धुट्पदान्ते ।२।१।८२। सूत्रात् हस्य ढः, अधश्चतुर्थात्० ।२।१।७९। सूत्रात्तस्य धः, 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। सूत्रात् धस्य ढः, 'ढस्तड्डे' ।१।३।४२। सूत्रात् पूर्वस्य ढस्य लोपः, 'तृणेढि' इति सिद्धम्। **दीर्घनिर्देश उत्तरार्थः** ॥६२॥

ब्रूतः परादिः ।४।३।६३।

ब्रुव ऊतः व्यञ्जनादौ विति परादिरीत् स्यात् । ब्रवीति । ऊत इति किम् ? आत्थ ॥६३॥

ब्रवीति—ईतः परावयवत्वे शित्त्वात् वचादेशो न भवति। ननु तर्हि परादिः कथं कथितम् 'शित्' इत्येव कथ्यताम् किं गुरूणा सूत्रेण ? इति चेन्न तथा सति 'ब्रवीति' इत्यादौ गुणो न स्यात्। नच 'श्वित्' इति क्रियतामिति वाच्यं तथा सत्यपि 'जंगमीति, जाज्ञेति' इत्यादौ 'गमिषमद्यम०।४।२।१०६।

जाज्ञाजनो० ।४।२।१०४। सूत्राभ्यामन्तरत्यादित्वाभावात् छः, जादेशश्च स्यात् । परादित्वे तु परभक्तत्वेन त्यादेरानन्तर्यान्नि भवति । आत्थ—ब्रू, वर्तमानासिः, 'ब्रूगः पञ्चानां पञ्चाहश्च ।४।२।११८। सूत्राद् ब्रूस्थाने आह्, सिस्थाने थ इति, 'नहाहोर्धतौ ।२।१।८५ सूत्रात् हकारस्य तकारः।।६३।।

यङ्तुरुस्तोर्बहुलम् ।४।३।६४।

यङ्लुबन्तात् तुरुस्तुभ्यश्च परो व्यञ्जनादौ विति ईत् बहुलं परादिः स्यात् कव्चिद्वा-बोभवीति, बोभोति । कव्चिन्न-वर्वर्ति । तवीति, तौति । रवीति, रौति । स्तवीति,स्तौति । अद्वेरित्येव-तुतोथ, तुष्टोथ ।।६४।।

यङिति सामान्याभिधानेऽपि यङ्लुबन्तस्य ग्रहणम्, यङन्तस्यात्मनेपदि-दित्वात् वितो व्यञ्जनादेरसम्भवात् । बहुलं=शिष्टप्रयोगानुसारेण । वृत् वर्वर्ति । तु क्-वृत्तिहिंसापूरणेषु । रुक् शब्दे । स्तु=स्तवीति, स्तौति।।४३।।

सः सिजस्तेर्दिस्योः ।४।३।६५।

सिजन्ताद्धातोरस्तेश्च सन्तात् परो दिस्योः परयोः परादिरीत् स्यात् । अकार्षीत्, अकार्षीः । आसीत्, आसीः । स इति किम् ? अदात् ।।६५।।

आसीत्, आसीः—इत्यत्र ह्यस्तन्या एव दिव् सिव् नतु अद्यतन्याः दि सि गृह्यते, अद्यतन्यां सत्याम् "अस्ति-ब्रुवो० ।४।४।१ सूत्राद् भ्वादेश-विधानात् । किञ्चास्तेश्च सन्तात्पर इति व्यर्थं स्यात्, सिजद्वारेणैव ईत् स्यात् इति ह्यस्तन्या एव दिव् सिव् गृह्यते । विधानसामर्थ्याच्चं व्यञ्ज-नाद्दे० ।४।३।७८। सूत्रात् ईत्सहितस्य देर्न लुक् । आसीरित्यत्र 'आदेशा-दागमः' इति न्यायात् 'अस्ते सि० ।४।३।७३। सूत्रात्सकारलोपात् प्रागेव इकारागमप्राप्तिः ।।६५।।

पिबैतिदाभूदस्थः सिचो लुप् परस्मै न चेट् ।४।३।६६।

एभ्यः परस्य सिचः परस्मैपदे लुप् स्यात् । लुब्योगे न चेट् । अपात्, अगात्, अध्यगात्, अदात्, अधात्, अभूत् अस्थात् परस्मैपद इति किम् ? अपासत पयांसि तैः ॥६६॥

"पिब' इति निर्देशात् 'पां पाके' इति भ्वादेरेव ग्रहणम्, पातिपाययत्योर्न ग्रहणम्, तयोः अपासीदिति प्रयोगः । एतीति निर्देशात् 'इंण्क् गतौ, इंक् स्मरणे' इत्येतयोर्ग्रहणम, एतयोः 'अगात्' इत्युदाहरणम्. इकोऽध्यगात् । भू इति निर्देशाद् भवतेः अस्त्यादेशस्य 'भू' इत्यस्यापि ग्रहणम् । लुकमकृत्वा लुब्विधानं स्थानिवद्भावाभावार्थम्, तेनाबोभोदित्यत्र न वृद्धिः॥६६॥

ट्घेघ्राशाच्छासो वा ।४।३।६७।

एभ्यः परस्य सिचः परस्मैपदे लुब् वा स्यात्, लुब्योगे न चेट् । अधात्, अधासीत् । अघ्रात्, अघ्रासीत् । अशात्, अशासीत् । अच्छात्-अच्छासीत् । असात् असासीत् ॥६७॥

ट्धेः धातोः पूर्वेण नित्यं प्राप्ते, शेषेभ्योऽप्राप्ते विकल्पोऽयम् । सों सें वा वा उभयोर्ग्रहणं न तु छाशोः साहचर्याद् दैवादिकस्यैव ॥६७॥

तन्भ्यो वा तथासि ञ्णोश्च ।४।३।६८।

तनादिभ्यः परस्य सिचः ते थासि च लुप् वा स्यात्, तद्योगे ञ्णो श्च लुप् चेट् । अतत, अतनिष्ट । अतथाः,अतनिष्ठाः । असत, असनिष्ट । असथाः असनिष्ठाः ॥६८॥

इह परस्मै इति निवृत्तम थास् ग्रहणात्, थास्याहचर्यात्तप्रत्यययोऽप्यात्मनेपद-सम्बन्ध्येव गृह्यते तेने 'अतनिष्ट यूयमिह न भवति ॥६८॥

सनस्तत्रावा ।४।३।६९।

सनो लुपि सत्यामा वा स्यात् । असात, असत । असाथाः, असथाः । तत्रेति किम् ? असनिष्ट ।।६९।।

असनिष्ट—'तन्भ्यो वा० ४।३।६८। सूत्रेण विकल्पेन सिचो लुक्, अत्र सिच् न लुप्तः । केदित्वं न मन्यते, नित्यमेवान्ये ।।६९।।

धुड्ह्रस्वाल्लुगनिटस्तथोः ।४।३।७०।

धुडन्ताद् ह्रस्वान्ताच्च धातोः परस्यानिटः सिचस्तादौ थादौ च लुक् स्यात् । अभित्त, अभित्थाः । अकृत, अकृथाः । अनिट इति किम् ? व्यद्योतिष्ट ।।७०।।

अकृतेति—यदि तनादौ पाठः स्यात्तदा 'तन्भ्यो वा० ।४।३।६८। सूत्राद् वा लुक् स्यात् । लुबधिकारे लुग्ग्रहणं सिज्लुक्यपि स्थानित्वेन 'तत्कार्यप्रतिपत्त्यर्थम्, तेनावात्तामात्यादिषु सिचि विधीयमाना वृद्धिस्तदभावेपि सिद्धा भवति । (अवात्ताम्=वसं निवासे+अद्यतन्याः ताम् 'सस्तः सि ।४।३।९२ सूत्रात् धातुसकारस्य तः, तत्पश्चात् पूर्वं 'धुड्ह्रस्वा० ।४।३।७० सूत्रात् सिचो लुक्, सिचो लुक्यपि स्थानित्वात् 'व्यञ्जनानामनिटि ।४।३।४५ सूत्राद् वृद्धिःक्रियते)तथासीति अनुवर्तमाने तथग्रहणं व्याप्त्यर्थम्, तेन साहचर्यं नास्ति । तथोरिति द्विवचनं यथासंख्यपरिहारार्थम् ।।७०।।

इट ईति ।४।३।७१।

इटः परस्य सिच ईति लुक् स्यात् । अलावीत् । इट इति किम् ? अकार्षीत् । ईतीति किम् ? अभणिषम् ।।७१।।

अलावीदित्यत्र—सिचो लुक्यपि स्थानिवद्भावात् 'सिचि० ।४।३।४४। सूत्राद् वृद्धिः ।।७१।।

सो धि वा ।४।३।७२।

धातोर्धादौ प्रत्यये सो लुग्वा स्यात् । चकाधि, चकाद्धि । अलविध्वम्, अलविद्ध्वम् ॥७२॥

सिच्यनुवर्तमाने सग्रहणं सामान्यसकारपरिग्रहार्थं तेन प्रकृति–सकारस्यापि ग्रहणम् । **चकाद्धि**—'हुधुटो हेर्धिः ।४।२।८३ सूत्राद् हेर्धिः, 'तृतीयस्तृतीय०' ।१।३।४९। सूत्रात्, सकारस्य दकारः । **अलविद्ध्वम्**—अद्यतनी ध्वम्, सिच्, इट्, अट्। 'सो धिवा ।४।३।७३। सूत्रेण सिच्सकारस्य विकल्पेन लोपे **अलविध्वम्**, अन्यत्र 'नाम्यन्तस्था० ।३।२।१५ सूत्रात् सस्य षः, 'तृतीयस्तृतीयचतुर्थे ।१।३।४९ सूत्रात् षस्य डः, 'तवर्गस्य श्च० ।१।३।६०। सूत्रात् ध्वमो धस्य ढः । इदं रूपयुग्मं '**लूधातोः**' ।विकल्पं नेच्छन्त्येके, अन्ये तु सिच नित्यं लोपमिच्छन्ति ॥७२॥

अस्तेः सि हस्त्वेति ।४।३।७३।

अस्तेः सः सादौ प्रत्यये लुक् स्यात् । एति तु सो हः । असि, व्यतिसे, व्यतिहे, भावयामाहे ॥७३॥

असक् भुवि व्यतिपूर्वम्, वर्तमानासे, 'श्ना 'श्नास्त्योर्लुक् ।४।२।९० सूत्रेण अस्तेः सकारस्य लोपः **एवमकारसकारयोर्लोपे प्रत्ययमात्रं 'व्यतिसे' इति पदम् । भावयामाहे**—'भू, वृद्धिः, भाव्, परोक्षा ए, 'धातोरनेक० ।३।४।४६ सूत्रेण परोक्षा एस्थाने आम् 'आमन्तालवाय्येत्नाव्यय् ।४।३।८५। सूत्रेण णिग् स्थाने अय् 'धातोरनेक० ।३।४।४६।सूत्रेण आम्परतः 'अस्+ए' इत्यनुपयोगः 'अस्यादेराः परोक्षायाम्' ।४।१।६८। सूत्रात् आकारः । 'अस्तेः सि० । ४।१।६८ सूत्रात् सकारस्य हकारः ।परोक्षाया एकारे नेच्छन्त्यन्ये-भावयामासे ॥७३॥

दुहदिहलिहगुहो दन्त्यात्मने वा सकः ।४।३।७४।

एभ्यः परस्य सको दन्त्यादौ आत्मनेपदे लुग्वा स्यात् । अदुग्ध,

अधुक्षत, अदिग्ध, अधिक्षत ।अलीढाः, अलिक्षथाः, । न्यगुह्वहि, न्यघुक्षावहि । दन्त्य इति किम् ? अधुक्षामहि ॥७४॥

त, थास् ध्वम्, वहि—एते प्रत्यया दन्त्या उच्यन्ते, 'लृवर्णतर्गलसा दन्त्याः, वो दन्त्योष्ठ्य इति न्यायात् । **अधुक्षतेत्यादिसर्वोदाहरणेषु** 'हशिटोनाम्यु० ।३।४।५५। सूत्रात्सक्, 'दुहदिह० ।४।३।७४। सूत्राद् वा सको लुग्, 'भ्वादे-र्दादेर्घः' ।२।१।८३। सूत्रात् दुहदिहयोःहस्य घः लिहगुहयोः हस्य 'हो धुट्० ।२।१।८२। सूत्रात् ढः, सकि सति 'गडदबादेः० ।२।१।७७। सूत्रात् दस्य धः, गस्य घः, सर्वत्र प्रत्ययतथोर्धकारः, 'तवर्गस्य० ।१।३।६०। सूत्रात् धस्य ढः, 'ढस्तड्ढे ।१।३।४२। सूत्रात् ढलोपः, उपान्त्यस्य दीर्घः, 'अघोषे प्रथमोऽ० ।१।३।५०।सूत्रात् घस्य क्, 'नाम्यन्तस्था० ।२।३।१५। सूत्रात् सस्य षकारः । **अधुक्षामहि**—मकारो न दन्त्यः, अपि तु ओष्ठ्यः ॥७४॥

स्वरेऽतः ।४।३।७५।

सकोऽस्य स्वरादौ प्रत्यये लुक् स्यात् । अधुक्षाताम् ॥७५॥

अधुक्षाताम्—सकोऽकारलोपात् 'आतामाते० ।४।२।१२१। सूत्रादित्वम्' अव-र्णस्ये० ।१।२।६। सूत्रादेत्वं च न भवति ॥७५॥

दरिद्रोऽद्यतन्यां वा ।४।३।७६।

दरिद्रोऽद्यतन्यां विषये लुग्वा स्यात् । अदरिद्रीत्, अदरिद्रासीत् ॥ ७६ ॥

अदरिद्रीत्—दरिद्रा, अद्यतनीदि, सिच्, ईत्, विषयव्याख्यानात् 'आदेशा-दागमो बलवानिति न्यायात् पूर्वं 'यमिरमि' ।४।४।८६। सूत्रेण इट् सोऽन्तश्च न भवति इति हेतोः पूर्वं विकल्पेन दरिद्र आकार लोपः पक्षे इट् सोन्तश्च, 'इट ईति ।४।३।७१। सूत्रात् सिज्लोपः ॥७६॥

अशित्यस्सन्णकजणकानटि ।४।३।७७।

सादिसन्नादिवर्जे अशिति विषये दरिद्रो लुग् स्यात् । दुर्दरिद्रम्, अशितीति किम् ? दरिद्राति, सन्नादिवर्जनं किम् ? दिदरिद्रासति, दरिद्रायको याति, दरिद्रायकः, दरिद्राणम् ॥७७॥

विषयसप्तमीविज्ञानात् पूर्वमेवाकारलोपे दुर्दरिद्रमित्यत्र 'शासू—युधि—दृशि० ।५।३। ४१। सूत्रादाकारान्मलक्षणोऽनो न भवति । 'इवृध० ।४।४।४७ सूत्रेण दरिद्रो वेट्त्वात् इटि सति "इडेत्पुसि० ।४।३।६४। सूत्रादाल्लुकि दिदरिद्रिषतीति भवति । इट्भावेऽनेन लुक् स्यादतः सन्वर्जनम् । 'ननु सादिः सन्निति विशेषणेन किम् इट्सत्त्वे तु 'इडेत्पुसि० ।४।३।६४। सूत्रं प्रवर्तते इति चेन्न सादिसन्निति विशेषणाभावे विशिष्टकथनत्वेनानेन सेटि सन्यपि आकारलोपनिषेधः स्यात् ॥७७॥

व्यञ्जनाद्दे: सश्च दः ।४।३।७८।

धातोर्व्यञ्जनात्परस्य देर्लुक् स्यात् यथासम्भवं धातो सो दश्च । अचकात्, अजागः, अबिभः, अन्वशात् । व्यञ्जनादिति किम् ? अयात् ॥७८॥

अचकादित्यादिषु क्रमेण चकास्, जागृ, भृ, शास् धातवः । अत्र व्यञ्जनादिति भणनात् दिः ह्यस्तन्या एव संभवति । धातोरित्येव—अभैत्सीत् । अत्र ईतः परादित्वेन सेतोऽपि देर्लुक् प्राप्नोति इति प्रतिषेधः । अत्र सिचः परो दिः, न धातोः परः इति न लुक् ॥७८॥

सेः स्द्धां च रुर्वा ।४।३।७९।

व्यञ्जनान्ताद् धातोः परस्य सेर्लुक् स्यात् यथासम्भवं सदधां च

रुश्च । अचकास्त्वम्, अचकास्त्वम् । अभिनस्त्वम् । अरुणस्त्वम्, अरुणस्त्वम् ॥७६॥

पूर्वसूत्रे ह्यस्तनीदिः गृहीतः तत्साहचर्यात् अर्थात् तत्प्रत्यासत्तेः अत्र सूत्रेपि सिः ह्यस्तनीसम्बन्ध्येव गृह्यते तेन 'भिनत्सि' इत्यत्र लुग् न भवति। **रोरुवित्करणमुत्वादिकार्यम् यथा स्यादित्येवमर्थम्** तेन 'अभिनोऽत्र, अरुणोऽत्र' इत्यत्र 'अतोऽति रोरुः ।१।३।२०। सूत्रेण उत्वं सिद्धम् 'उत्वादिकार्ये' आदिशब्दात् 'रोर्यः' ।१।३।२६। इत्यादि कार्यं ग्राह्यम् ॥७६॥

योऽशिति ।४।३।८०।

धातोर्व्यञ्जनान्तात्परस्य योऽशिति प्रत्यये लुक् स्यात् । जङ्गमिता । व्यञ्जनादित्येव—लोलूयिता । अशितीति किम् ? बेभिद्यते ॥८०॥

अनेन सूत्रेण 'य्' इति स्वरहीनो लुप्यते, न तु सस्वरो यकारः । यदि सस्वरस्य यकारस्य लुक् स्यात्, तदा जङ्गमितः' इत्यादौ 'गमहन० ।४।२।४४। सूत्रादुपान्त्यलोपः स्यात् । स्थिते तु अस्य व्यवधायकत्वम् । अन्ये तु लाक्षणिकव्यञ्जनान्तेभ्यो यलोपं नेच्छन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं व्यञ्जनान्ताद्धातोर्विहितस्येति विहितविशेषणं कार्यम् । 'क्ङिति यि शय् ।४।३।१०५। सूत्रेण शय आदेशः ॥८०॥

क्यो वा ।४।३।८१।

धातोर्व्यञ्जनात्परस्य क्योऽशिति प्रत्यये लुग्वा स्यात् । समिधिष्यति, समिध्यिष्यति । दृषदिष्यते, दृषद्यिष्यते ॥८१॥

'क्यो वा' इति सामान्यनिर्देशात् क्यन्क्यङोर्ग्रहणम्, क्यङ्षस्तु व्यञ्जनान्तात्प्राप्तिरेव नास्ति । समिधमिच्छतीति क्यन् । दृषदिवाचरतीति क्यङ् । **क्य इति व्यञ्जनात्षष्ठी अतो लुकि कृते लुगर्था ।** अन्यथा हि अतो

लुगपवादः क्यलुग् विज्ञायेत एवं पूर्वत्रापि । अकाररहितस्य क्यस्य लुचः फलमिदं ज्ञातव्यम्—अवध्वंसमिच्छतीति क्यनि क्तप्रत्यये अवध्वंसित इत्यत्र 'अतः ।४।३।८२। सूत्रादकारलोपस्य स्थानिवद्भावात् 'नो व्यञ्जनस्या० ।४।२।४५। सूत्रात्, नस्य न लोपः । सस्वरस्य तु क्यनो लोपे स्वरव्यञ्जन-विधित्वात् समुदायलोपात् 'स्वरस्य परे० ।७।४।११०। सूत्रात्स्थानिवद्भावा-भावात् नस्य लुक् स्यादेव ॥८१॥

अतः ।४।३।८२।

अदन्ताद् धातोर्विहितेऽशिति प्रत्यये धातोरतो लुक् स्यात् । कथयति । विहितविशेषणं किम् ? गतः ॥८२॥

'कथण् वाक्यप्रबन्धे' अदन्तो धातुः ॥८२॥

णेरनिटि ।४।३।८३।

अनिट्यशिति प्रत्यये णेर्लुक् स्यात् । अततक्षत्, चेतनः । अनिटीति किम् ? कारयिता ॥८३॥

अनिटीत्यत्र विषयसप्तम्यपि तेन चेतयते इत्येवं शीलः **चेतनः** इत्यत्र प्रागेव णेर्लोपि 'इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात्' ।५।२।४४। सूत्रेण अनः सिद्धः अन्यथाऽनेक-स्वरत्वात् चेतेः परो 'निन्दहिंसक्लिश० ।५।२।६८। सूत्रेण णकः स्यात् ॥८३॥

सेट्क्तयोः ।४।३।८४।

सेटोः क्तयोः परयोर्णेर्लुक् स्यात् । कारितः, गणितवान् ॥८४॥

सेडिति किमर्थम् ? इटि कृते लोपो यथा स्यात् । शाकितः, शाकितवान् । अन्यथेह 'एकस्वरादनुस्वारेतः ।४।४।५६ सूत्रात् निषेधात् इड् न स्यात् । न च एकस्वराद् विहिताभावादेव इड्निषेधो न भविष्यतीति वाच्यं विषय

एव णिलोपापेक्षयेदमुक्तम् ॥८४॥

आमन्ताल्वाय्येत्न्वावय् ।४।३।८५।

एषु परेषु णेरय् स्यात् । कारयाञ्चकार, गण्डयन्तः, स्पृहयालुः, महयाय्यः, स्तनयित्नुः ॥८५॥

लुचोऽपवादः । गडु वदनैकदेशे 'उदितः स्वरान्नोन्तः ।४।४।९८। सूत्रात् नोन्तः । 'गण्डयतात् इत्याशास्यमानः इति वाक्ये 'तृ जिभूवदि० । उणा० २२१ सूत्रेण अन्तप्रत्ययः । स्पृहयतीत्येवं शीलः 'शीङ्-श्रद्धा० ।५।२।३७। सूत्रादालुः । महण् पूजायायाम् (अदन्तो धातुः) मह्यन्ते देवता गुरवः च अस्मिन् इति 'श्रूदक्षिगृहि० उणा० ।३७३। सूत्रेण आय्यप्रत्ययः । स्तन शब्दे, णिग्, हृषिपुणि० उ० ।७९७। सूत्रेण इत्नुप्रत्ययः ॥८५॥

लघोर्यपि ।४।३।८६।

लघोः परस्य णेर्यप्यय् स्यात् । प्रशमय्य । लघोरिति किम् ? प्रतिपाद्य ॥८६॥

वचनसामर्थ्यादेकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयते न तु भूतपूर्वन्यायः, अत इति अकरणात् । अयं भावः चुराद्यन्तेषु यद्यपि अनन्तरमकारो भूतपूर्वगत्या सम्भवति तथा सति 'अतो यपि' इत्येव सूत्रकरणं शोभनम् अत एव-लघोरिति विधानसामर्थ्यादेकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयते ।८६॥

वाऽऽप्नोः ।४।३।८७।

आप्नोः परस्य णेर्यप्यय् वा स्यात् । प्रापय्य, प्राप्य । आप्नोरिति किम् ? अध्याप्य ॥८७॥

श्नु निर्देशात् इङादेशस्य न भवति **अध्याप्येति** । इङ्क् अध्ययने अधिपूर्वः

अधीयानं प्रयुङ्क्ते इति 'प्रयोक्तृ० ।३।४।२०। सूत्रात्, णिग्, 'णौ क्रीजीङः ।४।२।१०। सूत्रादिकारस्य आकारः, अतिरीव्ली० ।४।२।२१। सूत्रात् पोन्तः इति । अत्र आप् लाक्षणिकः । 'आप्लं ण् लम्भने इत्यस्यापीच्छन्त्यन्ये ।।८७।।

मेङो वा मित् ।४।३।८८।

मेङो यपि मिद् वा स्यात् । अपमित्य, अपमाय ।।८८।।

अत्र मिरादेशेपि 'ह्रस्वस्य तः०।४।४।११३। सूत्रात् तान्तः सिध्यति,लाघवार्थं तु मिदादेशः । अपमातुं याचते इति 'निमील्या० ।५।४।४६। सूत्रेण क्त्वा-प्रत्ययः । मेङ् प्रतिदाने इति मेङ् धातु ।।८८।।

क्षेः क्षीः ।४।३।८९।

क्षेर्यपि क्षीः स्यात् । प्रक्षीय ।।८९।।

क्षि क्षये भ्वादिः । निरनुबन्धनिर्देशात् क्षिंच्श् हिंमायामित्येतस्य ग्रहणं न भवति, पूर्वाचार्यप्रसिद्धानुबन्धग्रहणाच्च क्षित्, निवासे इत्यस्य ग्रहणम् ।।८९।।

क्षय्यजय्यौ शक्तौ ।४।३।९०।

क्षिज्योन्तस्य शक्तौ गम्यायां ये प्रत्ययेऽय् निपात्यये । क्षय्यो व्याधिः, जय्यः शत्रुः । शक्ताविति किम् ? क्षेयं पापम्, जेयं मनः ।।९०।।

क्षेतुं शक्यः क्षय्यो व्याधिः । जेतुं शक्यः **जय्यः शत्रुः** । 'य एच्चातः ।५।१।२८।, शक्तार्हे कृत्याश्च ।५।४।३५। इति । अर्हे तु क्षेयम्, जेयम्, ।।९०।।

क्रय्यः क्रयार्थे ।४।३।९१।

क्रियोऽन्तस्य ये प्रत्ययेऽय् निपात्यते । क्रयाय चेत्प्रसारितोऽर्थः । क्रय्यो गौः । क्रयार्थं इति किम् ? क्रेयं ते धान्यं न चास्ति प्रसारितम् ॥६१॥

धातूनामनेकार्थत्वात्प्रसारितेऽर्थेऽत्र क्रीधातुः । क्रय्यो गौरिति=जनाः क्रीणन्तु इति विचारेण हट्टे चत्वरे वा प्रसारिता गौरित्यर्थः ॥६१॥

सस्तः सि ।४।३।६२।

धातोः सन्तस्याऽशिति सादौ प्रत्यये विषयभूते तः स्यात् । वत्स्यति । सः इति किम् ? यक्षीष्ट । सीति किम् ? वसिषीष्ट । ॥ ६२ ॥

विषयसप्तमीविज्ञानात् अवात्ताम्, अवात्त इत्यत्र प्रागेव सस्य तः । पश्चात्, सिच्, सिचो लुच्यपि वृद्धिर्भवति । 'धुड्ह्रस्वा० ।४।३।७०। सूत्रे लुबधिकारे लुग्ग्रहणं सिचो लुक्यपि स्थानित्वेन तत्कार्यप्रतिपत्त्यर्थत्वात् । ननु सिचो लुच्यपि स्थानित्वात् तो भविष्यति इति न च वाच्यम्, यतः सकारे तकार उक्तः, सस्य च वर्णविधित्वात्, वर्णविधौ च स्थानिवद्भावाभावात्, वर्णविधौ स्वरादेशस्य स्थानित्वं भवति न तु व्यञ्जनादेशस्य ॥ ६२ ॥

दीय् दीङः क्ङिति स्वरे ।४।३।९३।

दीङः क्ङिति अशिति स्वरे दीय् स्यात् । उपदिदीयते । क्ङितीति किम् ? उपदानम् । स्वर इति किम् ? उपदेदीयते ॥९३॥

दीङ्च् क्षये । परोक्षायामिति सिद्धे क्ङिति स्वरे इत्युत्तरार्थम् । दीङो ङित्करणं यङ्लुब्निवृत्त्यर्थम् । उपदेदीयते—अत्र यङ् ॥९३॥

इडेत्पुसि चातो लुक् ।४।३।९४।

क्ङित्यशिति स्वरे इटि इति पुसि च परे आदन्तस्य धातोर्लुक् स्यात्, पपु, अदधत्, पपिथ, व्यतिरे, अदुः ॥९४॥

अक्ङिदर्थं शिदर्थं चेडादिग्रहणम् । अदधत्—'ट्धेश्वेर्वा । ३।४।५९। सूत्रात् ङ । व्यतिरे—रांक् दाने, वर्तमाना ए । अदुः— दा, अद्यतनी अन् ॥ ९४ ॥

संयोगादेर्वा-शिष्ये: ।४।३।९५।

धातोः संयोगादेरादन्तस्य क्ङित्याशिषि एर्वा स्यात् । ग्लेयात्, ग्लायात् । संयोगादेरिति किम् ? यायात् । क्ङितीत्येव ग्लासीष्ट ॥९५॥

अपच्छायादित्यत्र तु छकारस्य द्वित्वे सति लाक्षणिकत्वान्न भवति ॥९५॥

गापास्थासादामाहाकः ।४।३।९६।

एषां क्ङित्याशिष्येः स्यात् । गेयात्, पेयात्, स्थेयात्, अवसेयात्, देयात्, धेयात्, मेयात्, हेयात् ॥९६॥

गैं शब्दे (इति गा) न तु गाङ् गतौ आत्मनेपदित्वात्क्ङित्याशिषि असंभवात् । तथा गास्थामध्ये पाठात् भ्वादेरेव 'पैं पा' इत्येतयोः पाशब्देन ग्रहणम् आदादिक–पांक् रक्षणे इत्यस्य पायादित्येव । षोंच् अन्तकर्मणि अथवा सें क्षये उभावपि साशब्देन ग्राह्यौ । सें इत्यस्य लाक्षणिकत्वान्नेच्छन्त्यन्ये । दासंज्ञकाः सर्वेऽपि ग्राह्याः । माशब्देन 'मांक् माने, मांङ्क् मानशब्दयोः, मेंङ् प्रतिदाने' इति त्रयोऽप्यत्र । ओहांक् त्यागे इत्यस्यैव एत्वम्, न तु ओहांङ्क् गतौ इत्यस्य, सूत्रे 'हाक्' इति पाठात् । तथा गाङ्—माङ्—मेङां यङ्लुबन्तानामपि एत्वम्, अन्यथा गाङ्–माङ्–मेङामात्मनेपदित्वात्किदाशीर्न संभवति, यङो लुपि च परस्मैपदिन एते । हाकः ककारो यङो लुपि एत्वनिषेधाय । शेषाणां गापास्थासादामानां यङो लुप्यपि एत्वं भवति ॥९६॥

ईर्व्यञ्जनेऽयपि ।४।३।९७।

गादेर्यब्वर्जे क्ङित्याशिषि व्यञ्जनादावीः स्यात् । गीयते, जेगीयते, पीयते, स्थीयते, अवसीयते, दीयते, धीयते, मीयते, हीनः । व्यञ्जन इति किम् ? तस्थुः । अयपीति किम् ? प्रगाय । ॥ ९७ ॥

स्वरादौ क्ङिति परे 'इडेत्पुसि० ।४।३।९४। सूत्रात् अन्तलोपविधानात् व्यञ्जनादौ लब्धेऽपि 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि ।४।३।९७। इत्यत्र व्यञ्जनग्रहणं साक्षाद् व्यञ्जनप्रतिपत्त्यर्थम् तेन क्विप्लुकि स्थानिवद्भावेनापि न भवति-शंस्थाः पुमान् । शं सुखं तत्र तिष्ठतीति 'शमो नाम्न्यः ।५।१।१३४। इत्यप्रत्ययापवादे 'स्थापा० ।५।१।१४२। इति के प्राप्तेऽसरूपत्वात्क्विप् । शंस्थाशब्दादन्यत्र लुप्तव्यञ्जनेऽपीच्छन्त्येके । हीनः—'सूयत्याद्यो० ।४।२।७० सूत्रात् तो नः, सूत्रे हाक इति भणनात् हाङो न भवति ॥९७॥

घ्राध्मोर्यङि ।४।३।९८।

घ्राध्मोर्यङि ईः स्यात् । जेघ्रीयते, देध्मीयते ॥९८॥

यङो लोपे कृते 'घ्राध्मोर्यङि' ।४।३।९८। इत्यनेन ईकारो न भवति । केचिद् यङो लुप्यपि इच्छन्ति ॥९८॥

हनो घ्नीर्वधे ।४।२।९९।

हन्तेर्वधार्थस्य यङि घ्नीः स्यात् । जेघ्नीयते । वध इति किम् ? गतौ-जङ्घन्यते ॥९९॥

दीर्घनिर्देशात् यङ्लुप्यपि घ्नीरादेशः । यदि पूर्वसूत्रवद् यङ्येव स्यात्तदा घ्निरित्येव कुर्यात् "दीर्घश्च्वि० ।४।३।१०८। सूत्राद् दीर्घसिद्धेः । जंघन्यते-'अङे हि० ।४।१।३४। सूत्रात् हो घः ॥९९॥

ञ्णिति घात् ।४।३।१००।

ञिति णिति च परे हन्तेर्घात्स्यात् । घातः, घातयति ॥१००॥

हनंक् हिंसागत्योः ॥१००॥

ञिणवि घन् ।४।३।१०१।

ञौ णवि च परे हन्तेर्घन् स्यात् । अघानि, जघान ॥१०१॥

'अङे हिहनो०. ।४।१।३४। सूत्रेणैव सिद्धे 'ञिणवि घन् ।४।३।१०१। इति प्रकृतसूत्रे णव्ग्रहणं घातादेशबाधनार्थम् ॥१०१॥

नशेर्नेश् वाङि ।४।३।१०२।

नशेरङि नेश् वा स्यात् । अनेशत् अनशत् ॥१०२॥

'लृदिद्द्युतादि० ।३।४।६४। सूत्रेण नशधातोः पुष्यादित्वादङ् ॥१०२॥

श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम् ।४।३।१०३।

एषामङि यथासंख्यं श्वादयः स्युः । अश्वत्, आस्थत्, अवोचत्, अपप्तत् ॥१०३॥

ट्धे-श्वेर्वा ।३।४।५६। सूत्रादङि **अश्वत्** । श्वयतेस्तिव्निर्देशो यङो लुपि निवृत्त्यर्थः । **अवोचत्**—वच् ब्रूग् वा । **अपप्तत्**—पप्लृ गतौ 'लृदिद्द्यु-तादि० ।३।४।६४। सूत्रादङ् । असूवच्पतां यङो लुपि मूलसदृशप्रयोगा एव ॥१०३॥

शीङ एः शिति ।४।३।१०४।

शीङः शीत्येः स्यात् । शेते ॥१०४॥

ङिन्निर्देशाद्यङो लुपि न एकारः ॥१०४॥

क्ङिति यि शय् ।४।३।१०५।

शीङः क्ङिति यादौ शय् स्यात् । शय्यते, शाशय्यते । क्ङिन्तीति किम् ? शेयम् ॥१०५॥

यङो लुपि न शयादेशः ॥१०५॥

उपसर्गादूहो ह्रस्वः ।४।३।१०६।

उपसर्गात्परस्योहतेरूतः क्ङिति यादौ परे ह्रस्वः स्यात् । समुह्यते । उपसर्गादिति किम् ? ऊह्यते । यीत्येव—समूहितम् । ऊ ऊह इति प्रश्लेषः किम् ? आ ऊह्यते, ओह्यते, समोह्यते । ॥ १०६ ॥

ओह्यते—आ+ऊह्यते इत्यत्र आङ्पूर्वः ऊहधातुः, क्यः, ते 'उपसर्गा-दूहो ह्रस्वः, 'अवर्णस्येवर्णादि० ।१।२।६। सूत्रेत्र 'ओत्वे कृते 'उभयस्थाननिष्प-न्नोऽन्यतरव्यपदेशभाक् 'इति 'एकदेशविकृतमनन्यवद्' इति न्यायात् वा ह्रस्वः प्राप्नोति इति ऊ ऊह इति प्रश्लेषः कृतः ॥१०६॥

आशिषीणः ।४।३।१०७।

उपसर्गात्परस्येणः ईतः क्ङिति यादावाशिषि ह्रस्वः स्यात् । उदियात् । ई ईण इति प्रश्लेषः किम् ? आ इयात् एयात् । समेयात् ॥१०७॥

उत्तरेण दीर्घत्वेऽनेन ह्रस्वः । ई इण इति ईकारप्रश्लेषात् एयात समेयात् इत्यत्र न भवति ॥१०७॥

दीर्घश्च्विवयङ्यक्क्येषु च ।४।३।१०८।

एषु यादावाशिषि च दीर्घः स्यात् । शुचीकरोति, तोष्टूयते, मन्तूयति, दधीयति, भृशायते, लोहितायते, स्तूयते, ईयात् ॥१०८॥

च्विक्यानां ग्रहणादधातोरप्ययं विधिः । बहुवचनात् क्यशब्देन क्यन्क्यङ्-क्यङ्ष्क्यानामविशेषेण ग्रहणमन्यथैकानुबन्धस्यैव क्यस्य ग्रहणं स्यात् । **शुचीकरोति**—च्व्यन्तस्य 'ऊर्याद्य० ।३।१।२ सूत्राद् गतिसंज्ञा, 'गतिः' ।१।१।३६। सूत्राद् गतिसंज्ञमव्ययम्, 'अव्ययस्य।३।२।७।सूत्रात् सेर्लुप् । मन्तूयति 'धातोः कण्ड्वादेर्यक् ।३।४।८सूत्राद् यक् । **दधीत्यत्र** क्यन् । **भृशायते**-अत्र क्यङ् । **लोहितायते**-अत्र क्यङ्ष् । **स्तूयते**-अत्र क्यः । स्तूयात्-अत्र यादिराशीः ॥१०८॥

ऋतो रीः ।४।३।१०९।

च्व्यादौ परे ऋदन्तस्य ऋतः स्थाने रीः स्यात् । पित्रीस्यात्, चेक्रीयते, मात्रीयते पित्रीयते । ऋत इति किम् ? चेकीर्यते ॥१०९॥

धातोरधातोरयं विधिः । **चेकीर्यते**—कॄत् विक्षेपे ॥१०९॥

रिः शक्याशीर्ये ।४।३।११०।

ऋदन्तस्यः धातोः ऋतः शे, क्ये, आशीर्ये च परे रिः स्यात्। व्या-व्याप्रियते, क्रियते, ह्रियता ॥११०॥

ह्रस्वविधानात्पूर्वेण दीर्घत्वं न भवति। यदि 'दीर्घश्च्वि० ।४।३।१०८। सूत्रेण दीर्घः स्यात् तदा रिविधानं व्यर्थं स्यात् 'ऋतो रीः ।४।३।१०९। सूत्रेणैव सिद्धेः। 'तुदादेः शः ।३।४।८१। अथवा 'कृगः शश्च वा ।५।३।१०० इत्यर्थ शो ज्ञेयः ॥११०॥

ईश्च्वावर्णस्याऽनव्ययस्य ।४।३।१११।

अनव्ययस्यावर्णान्तस्य च्वावीः स्यात्। शुक्लीस्यात्, मालीस्यात्। अनव्ययस्येति किम्? दिवाभूता रात्रिः ॥१११॥

दीर्घत्वापवादो योगः ॥१११॥

क्यनि ।४।३।११२।

अवर्णान्तस्य क्यनि ईः स्यात्। पुत्रीयति, मालीयति॥११२॥

योगविभागः उत्तरार्थः। अनव्ययस्येति निवृत्तम् अव्ययात्क्यनोऽभावात् 'अमाव्ययात् क्यन् च ।३।४।११२। सूत्रात् ॥११२॥

क्षुत्तृड्गर्द्धेऽशनायोदन्यधनायम् ।४।३।११३।

एष्वर्थेषु यथासंख्यमशनादयः क्यन्नता निपात्यन्ते। अशनायति, उदन्यति, धनायति। क्षुदादाविति किम्? अशनीयति, उदकीयति, धनीयति दातुम् ॥११३॥

अशनमिच्छति=**अशनायति** 'अमाव्ययात् क्यन् च । ३।४।२३। सूत्रात् क्यन्, क्षुधि गम्यमानायामशनशब्दस्य आत्वम्। **उदकमिच्छति**=तृषि गम्यमानायामुदकशब्दस्य 'उदन्' इत्यादेशः। गर्द्धे वाञ्छायां गम्यमाने धनशब्दस्य आत्वं निपात्यते: धनमिच्छति=धनायति। **धनीयति दातुमिति**–अत्र दानबुद्धया (दातुं) धनमिच्छतीति नात्र गृद्धिः ॥११३॥

वृषश्वान्मैथुने स्सोऽन्तः ।४।३।११४।

आभ्यां मैथुनार्थाभ्यां क्यनि स्सान्तः स्यात् । वृषस्यति गौः, अश्वस्यति वडवा । मैथुन इति किम् ? वृषीयति, अश्वीयति ब्राह्मणी ॥११४॥

सूत्रे 'स्स' इति द्विसकारनिर्देशः षत्वनिषेधार्थः, तेनोत्तरत्र दधिस्यति' इत्यत्र षत्वं न भवति । ननु 'सर्पिष्यति' इत्यत्रोत्तरेण सागमे तस्य षत्वं दृश्यते तत्कथम् 'सस्य शषौ ।१।३।६१। सूत्राद् भवति ॥११४॥

अस् च लौल्ये ।४।३।११५।

भोगेच्छातिरेको लौल्यं तत्र गम्ये क्यनि परे नाम्नः स्सोऽस् चान्तः स्यात् । दधिस्यति, दध्यस्यति । लौल्य इति किम् ? क्षीरीयति दातुम् ॥११५॥

दधि भक्षितु--मिच्छति=दधिस्यति, दध्यस्यति । अस्विधानमनकारान्तार्थम् । अकारान्तेषु हि 'लुगस्या० ।२।४।११२ सूत्रात् लुकि सति विशेषो नास्ति, अन्यस्तु लुचममन्यमानः क्षीरास्यति, इत्युदाहरति, तच्च न बहुसम्मतम् ॥११५॥

"इति चतुर्थाध्याये तृतीय पादः"

"हम भगवान का शासन बराबर बोले और आप समझो यह ही 'रचनात्मक कार्य' है । आपको समझना नहीं और हमको बोलना नहीं यह 'ढोंगात्मक' कार्य' है । हम संस्था स्थापकर तुम्हारा पोषण करें यह हमारा धंधा नहीं है । साधु को पतित मत बनाओ ।

प० पू० अनेकान्ताभासतिमिरतरणि, कलिकालकल्पतरु आचार्य देव श्री विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा ।

अस्तिब्रुवोर्भूवचावशिति ।४।४।१।

अस्तिब्रुवोर्यथासंख्यं भूवचौ स्याताम्, अशिति विषये । भव्यम्, अवोचत् । अशितीति किम् ? स्यात्, ब्रूते ॥१॥

अस्तीति निर्देशात् 'असूच् क्षेपणे,' इत्यस्यतेः, असी गत्यादानयोश्च इत्यसतेर्न भ्वादेशः । **भव्यम्**—अत्र विषयसप्तमीबलात् पूर्वमस्तेर्भू इत्यादेशः, तदनन्तरं 'य एच्चातः' ।५।१।२८। सूत्रात् यप्रत्ययः सिद्धः । अन्यथा 'भव्यम्' इति न सिध्येत् । यद्वा 'भव्यगेय० ।५।१।७। सूत्रात्कर्तरि निपातनम् । 'भू सत्तायाम्, वचंक् परिभाषणे' इत्येताभ्यां सिध्यति **किमस्तिब्रुवोर्भू** वन्वादेशविधानम् ? सत्यम्—धात्वन्तरेणैव सिद्धेऽस्तिब्रुवोरशिति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् ब्रूगादेशस्य फलवत्यात्मनेपदार्थं च । अन्यथा वचंक् भाषणे इत्यस्य परस्मैपदित्वात्परस्मैपदमेव स्यात् ॥ चकरामासेत्यादौ तु अनुप्रयोगे कृभ्वस्तीनां निर्देशात् अस्तेर्भ्वादेशो न भवति, अन्यथा कृभ्वोरिति द्वयोरेवोपादानं कुर्यात् ॥१।

अघञ्क्यबलच्यजेर्वी ।४।४।२।

अघञादावशिति विषये अजेर्वी स्यात् । प्रवेयम् । अघञ्क्यबलचीति किम् ? समाजः, समज्या, उदजः, अजः पशुः ॥२॥

अनुस्वारेत्करणमिड्भावार्थम् । **प्रवेय**मित्यत्र–विषयविज्ञानात्प्रागेवादेशे यप्रत्ययः । समाजः (घञ्), **समज्या**=समजति अस्यामिति समज्या सभा 'समज० ५।३।९८। सूत्रात्क्यप् । **उदजः** 'समुदोऽजः पशौ ।५।३।३०। सूत्रादल् । उदजः=पशूनां रणमित्यर्थः । अजतीति—**अजः** ॥२॥

त्रने वा ।४।४।३।

अनयोर्विषयभूतयोरजेर्वी वा स्यात् । प्रवेता, प्राजिता, प्रवयणः, प्राजनो दण्डः ॥३॥

प्राज्यतेऽनेनेति प्रवयणः, प्राजनो दण्डः 'करणाधारे० ।५।३।१२६। सूत्रादनट् ॥३३॥

चक्षो वाचि क्शांग् ख्यांग् ।४।४।४।

चक्षो वागर्थस्याशिति विषये क्शांग्-ख्यांगौ स्याताम् । आक्शास्यति । आक्शास्यते । आख्यास्यति । आख्यास्यते । आक्शेयम्, आख्येयम् । वाचीति किम् बोधे—विचक्षणः ॥४॥

गकारः फलवद्विवक्षायामात्मनेपदार्थस्तेन स्थानिवद्भावेन नित्यमात्मनेपदं न भवति । अनुस्वारेत्करणमिडभावार्थम् । विषयसप्तमीविज्ञानात् आक्शेयम्, आख्येयम् । **आक्शास्यति**—'शिटयाद्यस्य द्वितीयो वा ।१।३।५९। सूत्रात् ककारस्य खकारे आख्शास्यति एवं आक्शास्यते इत्यत्रापि । विचष्टे इति **विचक्षणः** 'नन्द्यादिभ्योऽनः । ५।१।५२। सूत्रादनप्रत्ययः ॥४॥

नवा परोक्षायाम् ।४।४।५।

चक्षो वाचि क्शांग्ख्यांगौ परोक्षायां वा स्याताम् । आचक्शौ । आचख्यौ । आचचक्षे ॥५॥

एवम् आचख्शौ इत्यपि ॥५॥

भृज्जो भर्ज् ।४।४।६।

भृज्जतेरशिति भर्ज् वा स्यात् । भर्ष्टा । भ्रष्टा ॥६॥

भर्ष्टा, **भ्रष्टा**—'संयोगस्यादौ स्कोर्लुक् ।२।१।८८। सूत्रेण सलोपः,

'यजसृज० ।२।१।८७। सूत्रात जस्य ष् । लुप्ततिव्निर्देशो यङ्लुब्निवृत्त्यर्थः । लुप्ततिव्निर्देशरूपानुकरणे 'सस्य शषौ ।१।३।६१। सूत्रात् सस्य शत्वे, 'तृतीयस्तृतीयचतुर्थे ।१।३।४९। 'ग्रहव्रश्च० ।४।१।८४। सूत्रात् यृवृत् ॥६॥

प्राद् दागस्त्त आरम्भे क्ते ।४।४।७।

आरम्भार्थस्य प्रपूर्वस्य दागः क्ते परे त्तो वा स्यात् । प्रत्तः । प्रदत्तः । प्रादिति किम् ? परीत्तम् ।

दागः—डुदांग्क् दाने इति एकस्यैव दागः स्थाने त्तादेशः, नान्येषां दासंज्ञकानामित्यर्थः । त्त इत्यत्र अकार उच्चारणार्थः । **प्रत्तः**—प्रपूर्वक–दा, दातुं प्रारब्धवान्=प्रत्तः, 'आरम्भे ।५।१।१०। सूत्रेण क्तः । सूत्रे द्वितकारः 'त्त' इत्यादेशः प्रक्रियालाघवाय अर्थात् साधनिकाप्रयासोत्तारणाय कृतः अन्यथा, धात्वाकारस्य स्थाने त इत्यादेशे कृते 'अघोषे प्रथमोऽशिटः ।१।३।५०। सूत्रेण 'द्' इत्यस्य त् स्यात्तथासति इष्टं सेत्स्यति स्म । **प्रदत्तः**—'दत् ४।४।१०। सूत्रात् 'दत्' इत्यादेशः । **परीत्तम्**—परिदीयते स्म इति क्तः '**स्वरादु**० ।४।४।६। **सूत्रान्नित्यं त्तादेशः** 'धुटो धुटि स्वे वा ।१।३।४८। सूत्रेण तकारत्रयमध्यात् मध्यमतकारस्य लुक्, 'दस्ति ।३।२।८८। सूत्रेण 'परि' इत्यत्र दीर्घः । द्वितकारादेशः सर्वादेशार्थः । अन्यथा 'षष्ठ्याऽन्त्यस्य ।७।४।१०६। सूत्रं प्रवर्तेत ॥७॥

नि–वि–सु–अनु–अवात् ।४।४।८।

एभ्यः परस्य दागः क्ते त्तो वा स्यात् । नीत्तम्, निदत्तम्, वीत्तम्, विदत्तम् । सूत्तम्, सुदत्तम् । अनूदत्तम्, अनुदत्तम् । अवत्तम्, अवदत्तम् ॥८॥

उत्तरेण नित्य त्तादेशे प्राप्ते विभाषेयम् **नीत्तम्**—'दस्ति ।३।२।८८। सूत्रेण दीर्घः, एवमग्रेऽपि । **निदत्तम्**—'दत् ।४।४।१०। सूत्रेण ददादेशः ॥८॥

स्वरादुपसर्गाद् दस्ति कित्यधः ।४।४।९।

स्वरान्तादुपसर्गात् परस्य धावर्जस्य दासंज्ञस्य तादौ किति त्तो नित्यं स्यात् । प्रत्तः, परीत्त्रिमम् । उपसर्गादिति किम् ? दधि दत्तम् । स्वरादिति किम् ? निर्दत्तम् । द इति किम् ? प्रदाता व्रीहयः । तीति किम् ? प्रदाय । अध इति किम् ? निधीतः ॥९॥

पृथग्योगाद् वेति निवृत्तम् । प्रदातुमारब्धवान् 'आरम्भे' ।५।१।१०। सूत्रेण प्रदीयते स्मेति वा क्ते प्रत्तः, 'स्वरादुपसर्गाद्दस्ति कित्यधः ।४।४।९। सूत्रात् दास्थाने 'त्त' आदेशः, 'धुटो धुटि स्वे वा ।१।३।४८। सूत्रात् तकारत्रय-मध्यात् मध्यमतकारस्य विकल्पेन लुक्, लुगभावे प्रत्तः इत्यपि । **परीत्त्रिमम्**—इत्यत्र परि+दा, परिदानेन निर्वृत्तम् परित्त्रिमम्, 'ड्वित-स्त्रिमक्० ।५।३।८४। सूत्रात् त्रिमक् । **प्रदाताः व्रीहयः**—अत्र दांव्क् लवने धातुः, अस्य दासंज्ञाभावान्न भवति । **निधीत इति**—अत्र ट्धेधातु-र्ज्ञेयः न तु धाग्धातुः । धाग्धातोस्तु 'धागः ।४।४।१५। सूत्रात् हिरादेशः स्यात् । 'निधीत' इत्यत्र 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि ।४।३।९७। सूत्रादीकारः । 'दो-सो-मा-स्थ इः ।४।४।११। इत्यस्य परत्वेपि 'स्वराद्० ।४।४।९। इति विशेष-विधानबलात् द्यतेरपि उपासर्गपूर्वकस्य त्तादेश एव भवति ॥९॥

दत् ।४।४।१०।

अधो दासंज्ञस्य तादौ किति दत् स्यात् । दत्तः दत्तिः । अध इत्येवधीतः ॥१०॥

द्यतेः 'इत्वादित्वम् ॥१०॥

दो–सो–मा–स्थइः ।४।४।११।

एषां तादौ किति इः स्यात् । निर्दितः, सित्वा, मितिः,

स्थितवान् ॥११॥

यत्रेदं ङ्गावस्य शेषाणामीत्त्वस्यापवादः। 'मामादाग्रहणेष्वविशेषः' न्यायेन सूत्रे माशब्देन 'मांक् माने, मांङ्क् मानशब्दयोः, मेङ् प्रतिदाने' इति त्रयोऽप्यत्र ज्ञेयाः अत एव 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य इति न्याययोरत्र बाधः, 'दो सो' इति सामान्यनिर्देशश्च दैवादिकयोरेव परिग्रहार्थं ॥११॥

छाशोर्वा ।४।४।१२।

छाशोस्तादौ किति इर्वा स्यात्। अवच्छितः, अवच्छातः। निशितः, निशातः ॥१२॥

श्यतिशिनोत्योरपि रूपद्वयसिद्धौ श्यतेर्विकल्पवचनं 'क्तं नञादि० ।३।१।१०५। सूत्रेण समासार्थम्, अन्यथा धातुभेदात्प्रकृति-भेदे समासो न स्यात् ॥१२॥

शो व्रते ।४।४।१३।

श्यतेः व्रते-व्रतविषये प्रयोगे नित्यमिः स्यात्। संशितं व्रतम्, संशितः साधुः ॥१३॥

नित्यार्थं वचनं तेन व्रतविषये संशात इति न भवति। **संशितं व्रतम्**= असिधारातीक्ष्णं व्रतमित्यर्थः। **संशितः साधु**=व्रते यत्नवानित्यर्थः। **संशितशब्दः अन्यत्र** संशयरूपेऽर्थेऽपि वर्तते इति व्रतमिति विशेषणं न दुष्यति ॥१३॥

हाको हिः क्त्वि ।४।४।१५

हाकस्तादौ किति क्त्वायां हिः स्यात्। हित्वा। क्त्वीति किम्?

हीनः । तीत्येव-प्रहाय ॥१४॥

ककारो हाङ्निवृत्यर्थः तेन ओहाङ्क् गतौ इत्यस्य 'हात्वा' इति प्रयोगः । इ इत्येव सिद्धे हिकरणमुत्तरार्थम्, इकरणे ह्युत्तरत्र 'धितः' स्यात् । **हीनः**—सूयत्याद्योदितः ।४।२।७। सूत्रेण तकारस्यः नादेशः ॥१४॥

धागः ।४।४।१५।

धागस्तादौ किति हिः स्यात् । विहितः, हित्वा ॥१५॥

पृथग्योगात् क्त्वीति न सम्बध्यते । गकारः ट्धेनिवृत्त्यर्थः ॥१५॥

यपि चादो जग्ध् ।४।४।१६।

तादौ किति यपि चादेर्जग्ध् स्यात् । जग्धिः, प्रजग्ध्य ॥१६॥

एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात् यबादेशात्प्रागेव जग्ध्यादेशे सिद्धे यब्ग्रहणमन्तरङ्गानपि विधीन्यबादेशो बाधते इति ज्ञापनार्थम् तेन प्रशम्य प्रपृच्छ्येत्यादौ 'अहन्पञ्चमस्य० ।४।१।१०७। 'अनुनासिके० ।४।१।१०८। इत्यादिसूत्रैः दीर्घत्वशत्वादीनि कार्याणि न भवन्ति ॥१६॥

घस्लृ सनद्यतनी-घञचलि ।४।४।१७।

एष्वदेर्घस्लृः स्यात् । जिघत्सति, अघसत्, घासः, प्रात्तीति प्रघसः, प्रादनं प्रघसः ॥१७॥

घस्लृ अदने इत्यनेनैव सिद्धेऽदेः सन्नादिषु रूपान्तर-निवृत्त्यर्थं वचनम्, लृकारः 'लृदिद्० ।३।४।६३। सूत्रादङर्थश्च । अत्तुमिच्छति=**जिघत्सति**। **अघसत्**–'लृदिद्० ।३।४।६४। सूत्रादङ् । **घासः** इत्यत्र घञ् । प्रात्तीति **प्रघसः** अत्र अच् । प्रादनं **प्रघसः**–अत्र 'भूश्यदोऽल् ।५।३।२३। सूत्रादल् ॥१७॥

परोक्षायां नवा ।४।४।१८।

अदेः परोक्षायां घस्लृरादेशो वा स्यात्। जक्षुः, आदुः ॥१८॥

घस्यदिभ्यामेव सिद्धे विकल्पवचनं घसेरसर्वविषय-ज्ञापनार्थम्, तेन घस्ता, घस्मर इत्यादावेव घसेः प्रयोगो भवति ॥१८॥

वेर्वय् ।४।४।१९।

वेगः परोक्षायां वय् वा स्यात्। ऊयुः, ववुः ॥१९॥

ऊयुरिति–'यजादिवश्०' ।४।१।७२ सूत्रात् य्वदुकारः 'न वयो य्' ।४।१।७३। सूत्रेण यकारस्य न य्वृत्। **ववुरिति**–'अविति' वा ।४।२।७५ सूत्रात् न य्वृत् विकल्पनात् ॥१९॥

ऋः शॄ-दॄ-प्रः ।४।४।२०।

एषां परोक्षायामृर्वा स्यात्। विशश्रतुः। विशशरतुः। विदद्रतुः। विददरतुः। निपप्रतुः। निपपरतुः ॥२०॥

न च "विशशरतुः, विददरतुः, निपपरतुः' एते प्रयोगाः शृणोत्यादिधातुभिः, 'स्कृच्छृतोऽकि परोक्षायाम् ।४।३।८ सूत्रेण गुणे कृते सेत्स्यन्ति, 'विशश्रतुः, विदद्रतुः, निपप्रतुः' इति च प्रयोगाः 'श्रां' पाके, 'द्रांक् कुत्सितगतौ, प्रांक् पूरणे' इति धातुभिरेव भविष्यन्ति किमनेन सूत्रेणेति वाच्यं क्वसौ विशशृवान्, विशीर्णवान् इत्यादिप्रयोगाणामसिद्धेः। वि+शॄ 'ओष्ठ्यादुर् ।४।४।११८। सूत्राद् उर् 'पदान्ते' ।२।१।६४। सूत्राद् दीर्घ ऊर् ॥२०॥

हनो वध आशिष्यञौ ।४।४।२१।

आशीर्विषये हन्तेर्वधः स्यात्। न तु ञिटि। वध्यात्। अज्ञा-

विति किम् ? घानिषीष्ट ॥२१॥

परोक्षानिवृत्तौ तत्सम्बद्धं वेति निवृत्तम । वध इत्यकारान्त आदेशः । **वध्याद्**–अत्र सूत्रे विषयविज्ञानात् पूर्वमेवादेशे 'अतः ।४।३।८२ सूत्राद-कारलोपः सिद्धः, अन्यथा 'अतः ।४।३।८२ सूत्रेऽपि विहितव्याख्यानात् लोपो न स्यात् । **घानिषीष्ट**–हन, आशीः सिष्ट, **स्वरग्रहदृश०** ।३।४।६९ सूत्रेण ञिट् 'ञिणति घन् ।४।३।१०१ सूत्रात् घन् आदेशः, **ञ्णिति**'।४।३।४० सूत्रात् वृद्धिः ॥२१॥

अद्यतन्यां वा त्वात्मने ४।४।२२।

अद्यतन्यां विषये हनो वधः स्यात्, आत्मनेपदे तु वा । अवधीत्, अवधिष्ट, आहत ॥२२॥

अवधीदित्यत्राकारलोपस्य स्थानिवद्–भावेन 'व्यञ्जनादेर्वो० ।४।३।४७। सूत्रेण वृद्धिर्न भवति । इट् + सिच् + इत् 'इट ईति ।४।३।७१। सूत्रात् सिज्लोपः । विषयव्याख्यानं विनाऽ वधीदित्यत्र 'एकस्वरा० ।४।४।५६ सूत्रेण विहितव्याख्यानादिट् न स्यात् । विषयव्याख्याने तु स्थानिवद्-भावेनानुस्वारेत्त्वेऽपि अनेकस्वरत्वादिट्प्रतिषेधो न भवति । **आहत**–'हनः सिच् ।४।३।३८। सूत्रात् सिच् किद्वद् भवति, 'यमिरमि० ।४।२।५५। सूत्रात् नलोपः 'धुड्ह्रस्वाल्लु० ।४।३।७०। सूत्रात् सिज्लोपः ॥२२॥

इण्-इकोर्वा ।४।४।२३।

इणिकोरद्यतन्यां गाः स्यात् । अगात्, अध्यगात् ॥२३॥

अत्रापिविषयव्याख्या, तद्विनाऽगादित्यत्र तु सिचो लुप् स्यात् न त्वगायि इत्यत्र ञिचा व्यवधानात् । **अध्यगात्**—इङ्धातोः प्रयोगः, अधिनाऽवश्यं-भावी योगः ॥२३॥

णावज्ञाने गमु ।४।४।२४।

इणिकोरज्ञानार्थयोर्णौ गमुः स्यात् । गमयति, अधिगमयति । अज्ञान इति किम् ? अर्थान् प्रत्याययति ॥२४॥

अत्र सूत्रे 'णौ' इत्यत्र विषयसप्तमी व्याख्येया, विषयव्याख्यानबलात् 'अजीगमत्' इति सिद्धम् अन्यथा णौ परे गमादेशे कृते 'णौ यत्कृतं तत्सर्वं स्थानिवत्' इति इण इकारस्यैव द्वित्वं स्यात्, न तु गमः । **गमयति**—इण् एति कश्चित्, तमन्यः प्रयुङ्क्ते इति विस्तरेण वाक्यम्, यन्तं प्रयुङ्क्ते इति संक्षेपेण । **प्रत्याययति**—इ क् स्मरणे, प्रतियन्तं प्रयुङ्क्ते इति णिग् 'नामिनोऽकलिहलेः ।४।३।५१। सूत्राद् वृद्धिः ऐः, एदैतोऽयाय् ।१।२।२३। सूत्रात् आय् । धात्वन्तरेणैव सिद्धे णाविको ज्ञानादन्यत्रेणश्च रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम् । अज्ञान इति इणो विशेषणं नेकोऽसंभवात् ॥२४॥

सनि इङश्च ।४।४।२५।

इङ इणिकोश्चाज्ञानार्थयोः सनि गमुः स्यात् । अधिजिगांसते, जिगमिषति ग्रामम्, मातुरधि जिगमिषति ॥२५॥

अज्ञान इति इणो विशेषम्, न इकिङोरसम्भावात् । इङ् इत्यस्य अधिजिगांसते 'प्राग्वत् ।३।३।७० सूत्रादात्मनेपदम् । इण् अधिजिगमिषति ग्रामम् । इ क्-मातुरधिजिगमिषति 'स्मृत्य० ।२।२।११। सूत्रात् वा कर्मत्वम् ॥२५॥

गाः परोक्षायाम् ।४।४।२६।

इङः परोक्षाविषये गाः स्यात् । अधिजगे ॥२६॥

विषयनिर्देशः किम् ? आदेशे सति द्विर्वचनं यथा स्यात्, तेन प्राक्तु स्वरे स्वरविधेरिति नोपतिष्ठते **अधिजगे**—अत्र परोक्षाया एप्रत्ययः ॥२६॥

णौ सन्-ङे वा ।४।१।२७।

सन्ङे परे णौ इङो गा वा स्यात् अधिजिगापयिषति, अध्यापिपयिषति, अध्यजीगपत्, अध्यापिपत् । णाविति किम् ? अधिजिगांसते । सन्ङ इति किम् ? अध्यापयति ।।२७।।

अधिजिगापयिषति—इङ्क् अध्ययने अधीयानं प्रयुङ्क्ते इति णिग्, 'णौ क्री-जीङः ।४।२।१०। सूत्रेण आकारः, 'अर्त्तिरी० ।४।२।२१। सूत्रेण प्वागमः, आत्वप्वागमोभयोरप्यस्यापवादत्वादप्रवृत्तौ पूर्वं गादेशः, पश्चात् पोऽन्तः, अथवा इङः स्थाने 'णौ क्रीजीङः ।४।२।१०। सूत्रादाकारः, तदनन्तरं 'अर्त्ति० ।४।२।२१। सूत्रात् पोऽन्त, ततः आप्स्थाने 'णौ सन्-ङे वा ।४।४।२७। सूत्राद् गादेशः, 'यावत् सम्भवस्तावद्विधिः' इति न्यायेन पुनः पोऽन्तः क्रियते ततः अध्यापयितुमिच्छतीति सन् 'गाप्' इत्यस्य द्वित्वम्, इट्, णिगो गुणः । **अध्यापिपयिषति**—अत्र 'स्वरादेर्द्वितीयः ।४।१।४। सूत्रेण 'पि' इत्यस्य द्वित्वम्, इट्, गुणश्च । **अध्यजीगपत् अध्यापिपत्**—अत्र 'णिश्रिद्रु० ।३।४।५८। सूत्रेण ङप्रत्ययः, 'उपान्त्यस्या० ।४।२।३५। सूत्रात् ह्रस्वः, द्वित्वम्, 'असमानलोपे० ।४।१।६३। सूत्रात् पूर्वस्येत्वम्, 'लघोर्दीर्घो० ।४।१।६४। सूत्रादीत्त्वम् । **अधिजिगांसते**—अत्र 'स्वरहन० ।४।१।१०४। सूत्राद् दीर्घत्वम् । **अध्यापयति**—अत्र शव्प्रत्ययः ।।२७।।

वाद्यतनी-क्रियातिपत्योर्गीङ् ।४।४।२८।

अनयोरिङो गीङ् वा स्यात् । अध्यगीष्ट, अध्यैष्ट । अध्यगीष्यत, अध्यैष्यत ।।२८।।

ङकारो गुणनिषेधार्थः । न च विधानसामर्थ्यादेव गुणो न भविष्यतीति वाच्यं तर्हि 'अध्यगायि' इत्यत्र वृद्धिरपि न स्यात् । **अध्यगीष्ट**—अन्तरङ्गत्वात्सिचः प्रागेव 'ईर्व्यञ्जने० ।४।३।६७। सूत्रादीकारः । **अध्यैष्ट**-'स्वरादेस्तासु ।४।४।३१। सूत्रात् वृद्धि ।।२८।।

अड्धातोरादिर्ह्यस्तन्यां चाऽमाङा ।४।४।२९।

ह्यस्तन्यामद्यतनीक्रियातिपत्त्योश्च विषये धातोरादिरट् स्यात्, न तु माङ्योगे । अयात्,अयासीत्, अयास्यत् । अमाङेति किम् ? मा स्मकार्षीत् । धातोरिति किम् ? प्रायाः ॥२९॥

अटो धात्ववयवत्वात् प्रण्यमिमीतेत्यादौ णत्वं सिद्धम्। अयासीदिति विषयविज्ञानात् प्रत्ययव्यवधानेऽप्यड्, परविज्ञाने हि 'अहन्' इत्यादावेव स्यात् । **मा स्मेति**–स्मेत्यव्ययं भूतेऽर्थे, पादपूरणार्थे वा । **प्रायाः**—प्रकर्षेण त्वमगच्छः इत्यर्थः, धातोरिति भणनात् प्रोपसर्गस्यादावड् न भवति ॥२९॥

एत्यस्तेर्वृद्धिः ।४।४।३०।

इणिकोरस्तेश्चाऽऽदेह्य॑स्तन्यां विषये वृद्धिः, स्यात्, न तु माङा । आयन्, अध्यायन्, आस्ताम् । अमाङेत्येव ? मा स्म ते यन् ॥३०॥

पूर्वसूत्रे प्रथमान्तम् 'आदि' इति पदम् अत्र सूत्रे षष्ठ्यन्ततया परिणम्यते 'अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः' इति न्यायात् । आयन् इत्यत्र च 'ङ्णोरप्विति व्यौ ।४।३।१५। सूत्रेण यत्वे कृते 'आस्ताम्' इत्यत्र च 'श्वास्त्योर्लुक् ।४।२।९० सूत्रेण अस्तेरकारलोपे सति स्वरादित्वाभावात् 'स्वरादेस्तासु ।४।४।३१ सूत्रेण वृद्धिर्न प्राप्नोति इति एतत्सूत्र कृतम् । ननु विषयविज्ञानात् परत्वाद् वा 'स्वरादेतासु ।४।४।३१ सूत्रेण प्रागेव वृद्धौ कृतायां कुतो यत्वाकारयोः प्राप्तिरिति चेत्सत्यमिदमेव सूत्रं ज्ञापकं "कृतेऽन्यस्मिन् धातुप्रत्ययकार्ये पश्चाद् वृद्धिस्तद्बाध्योऽट् च" इति न्यायस्य । तेन ऐयरुः, अध्यैयत' इत्यादौ इयादेशे कृते पश्चाद् वृद्धिः सिद्धा, अन्यथा 'आररुः, अध्यायत' इति रूपं स्यात् । अचीकरदित्यादौ च दीर्घत्वं सिद्धमन्यथा अटि कृते हि स्वरादित्वात् दीर्घो न स्यात् । यत्वाकारलोपापवादोऽयम् "एत्यस्तेर्वृद्धिः ।४।४।३०। इति योगः । 'ङ्णोरप्विति० ।४।३।१५। सूत्रेण नित्यं यत्वे प्राप्ते 'इको वा' ।४।३।१६ सूत्राद् वा यत्वे कर्तव्ये बाधकमिदं यत्वाभावपक्षे तु स्वरादित्वादुत्तरेण वृद्धौ कृतायाम् 'अध्यैयम्' इत्यपि भवति । **मा स्म ते यन्निति**—'ङ्णोरप्विति० ।४।३।१५। सूत्रे यकारेऽन्प्रत्यये माङ्-योगे वृद्ध्यभावे च यन्निति ॥३०॥

स्वरादेस्तासु ।४।४।३१।

स्वरादेर्धातोरादेरद्यतन्यां क्रियातिपत्तिह्यस्तनीषु विषये वृद्धिः स्यात्, अमाङा । आटीत्, ऐषिष्यत्, औज्झत् । अमाङेत्येव ? मा सोऽटीत् ॥३१॥

आटीत्–अट्+इट्+सिच्+ईत् । **ऐषिष्यत**–इष्+इट्+स्यात् । **औज्झत्**–उद्झद् उत्सर्गे उज्झ्+श+त् ॥३१॥

स्ताद्यशितोऽत्रोणादेरिट् ।४।४।३२।

धातोः परस्य सादेस्तादेश्चाऽशितः आदिरिट् स्यात्, न तु त्रोणादेः । लविष्यति, लविता । स्यादीति किम् ? अशित इति किम् ? आस्से । अत्रोणादेरिति ? शस्त्रम्, वत्सः, हस्तः ॥३२॥

अत्रोणादेरिति–त्रप्रत्ययस्य उणादेश्चेट् न भवति । शसू हिंसायाम्, शसत्यनेनेति शस्त्रम् 'नीदावशसू० ।५।२।८८ सूत्रात् त्रट् । वत्सः, हस्तः इत्यत्रोणादिप्रत्ययः ॥३२॥

तेर्ग्रहादिभ्यः ।४।४।३३।

एभ्य एव परस्य स्ताद्यशितः तेरादिरिट् स्यात् । निगृहीतिः, अपस्निहितिः । ग्रहादिभ्य इति किम् ? शान्तिः ॥३३॥

तेरिति सामान्येन क्तेः तिको वा ग्रहणम् । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । निग्रहणं=**निगृहीतिः**, 'स्त्रियां क्तिः ।५।३।९१ सूत्रात् क्तिः 'ग्रहव्रश्च० ।४।१।८४ सूत्रात् य्वृत् । 'ष्णिहोच् प्रीतौ' अपस्नेहनम्=**अपस्निहितः** । तेरेव ग्रहादिभ्यः' इति विपरीतनियमो न भवति, उत्तरसूत्रे ग्रहेः परोक्षायामिटो दीर्घनिषेधात् । 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः इति न्यायात् शम्या-

दिति 'तिक्कृतौ नाम्नि ।५।१।७ सूत्रादाशिषि तिकि शान्तिरित्यत्रेट् न भवति ॥३३॥

गृह्णोऽपरोक्षायां दीर्घः ।४।४।३४।

ग्रहेर्यो विहित इट्, तस्य दीर्घः स्यात्, न तु परोक्षायाम् । ग्रहीता । अपरोक्षायामिति किम् ? जगृहिव ॥३४॥

विहितविशेषत्वेन यङन्ताद् विहितस्य न भवति । **ग्रहीता**—'स्ताद्य० । ।४।४।३३। सूत्रादिट् । लुप्ततिविनिर्देशाद् यङ्लुपि न दीर्घः ॥३४॥

वृृतो नवाऽनाशीः-सिच्परस्मै च ।४।४।३५।

वृभ्याम् ृदन्तेभ्यश्च परस्येटो दीर्घो वा स्तात्, न तु परोक्षाऽऽशिषोः, सिचि च परस्मैपदे । प्रावरीता, प्रावरिता । वरीता, वरिता । तितरीषति । तितरिषति । परोक्षाऽऽदिवर्जनं किम् ? । ववरिथ तेरिथ । प्रावरिषीष्ट । आस्तरिषीष्ट । प्रावारिषुः । अस्तारिषुः ॥३५॥

सिच्परस्मै—सिचः परस्मैपदमिति षष्ठीसमासः । परस्मैपदनिमित्तत्वेनोपचारात्सिजपि परस्मैपदमुच्यते अतः सिच्च तत्परस्मैपदं चेति कर्मधारयसमासो वा । सप्तमीङिः, सूत्रत्वात् ङिलोपः । **वृभ्याम्**—वृग्ट् वरणे, वृङ्श् सम्भक्तौ इत्याभ्यां धातुभ्यामित्यर्थः। **ॠदित्यत्र** तकारो वर्णनिर्देशार्थ अतः ॠदन्तधातोर्ग्रहणमन्यथा तकाराभावे वृ इत्यनेन धातुना साहचर्यात् ॠश् गतौ इत्यस्यैव ग्रहणं स्यात् । **ववरिथ**—ॠवृ ।४।४।८०। सूत्रादिट् । **प्रावारिषुः** 'सिचि परस्मै० ।४।३।४४। सूत्राद् वृद्धिः ॥३५॥

इट् सिजाशिषोरात्मने ।४।४।३६।

वृतः पपयोरात्मनेपदविषये सिजाशिषोरादिरिड् वा स्यात् । प्रावृत । प्रावरिष्ट । अवृत । अवरीष्ट । आस्तीर्ष्ट । आस्तरिष्ट । प्रावृषीष्ट । प्रावरिषीष्ट । वृषीष्ट । वरिषीष्ट । आस्तीर्षीष्ट । आस्तरिषीष्ट । आत्मने इति किम् ? प्रावारीत् ॥३६॥

आशिषि तु परस्मैपदे यकारादित्वात्प्राप्तिरेव नास्ति । प्राप्ते विभाषेयम् । प्रावारीत्-अत्र नित्यमेवेट् ॥३६॥

संयोगाद् ऋतः ।४।४।३७।

धातोः संयोगात् परो य ऋत् तदन्तात्परयोरात्मनेपदविषय सिजाशिषोरादिरिट् वा स्यात् । अस्मरिषाताम् । अस्मृषाताम् । स्मरिषीष्ट । स्मृषीष्ट । संयोगादिति किम् ? अकृत ॥३७॥

'स्कृच्छ्तोऽकि ।४।३।८। सूत्रे स्कृगो ग्रहणात् स्सट्संयोगो न गृह्यते तेन समस्कृत, संस्कृषीष्टेत्यत्र इट् न भवति ॥३७॥

धूगौदितः ।४।४।३८।

धूग औदितश्च परस्य स्ताद्यशित आदिरिट् वा स्यात् । धोता । धविता । रद्धा । रधिता ॥३८॥

पृथग्योगात् 'सिजाशिषोरात्मने' इति निवृत्तम् । अत्र धूगिति गकारनिर्देशात् 'धूग्श् कम्पने' इत्ययं धातुर्गृह्यते न तु धूत् विधूनने इति । तुदादिधूधातोर्नित्यमिट् भवति । धूगः 'उवर्णात् ।४।४।५८ इति किति इट्प्रतिषेधोऽस्ति । रधौच् हिंसासंराद्धयोरयमौदित् ॥३८॥

निष्कुषः ।४।४।३९।

निष्पूर्वात् कुषः परस्य स्ताद्यशितः आदिरिड्वा स्यात् ।

निष्कोटा, निष्कोषिता ॥३६॥

योगविभाग उत्तरार्थः । निष्पूर्वनियमात्केवलादन्यपूर्वाच्च नित्यमेवेट् भवति । कुषश् निष्कर्षे धातुः ॥३६॥

क्तयोः ।४।४।४०।

निष्कुषः परयोः क्तयोरादिरिट् नित्यं स्यात् । निष्कुषितः, निष्कुषितवान् ॥४०॥

पृथग्योगाद् नवेति निवृत्तम् ॥४०॥

जॄ-व्रस्चः क्त्वः ।४।४।४१।

आभ्यां परस्य क्त्व आदिरिट् स्यात् । जरीत्वा, व्रश्चित्वा ॥४१॥

'जॄ' इत्यस्य 'ॠवर्णश्रूर्णु ग०।४।४।५७। सूत्रात् निषेधे व्रश्चे गौदित्त्वात् 'धूगौदितः।४।४।३८। सूत्रेण विकल्पे प्राप्ते वचनम् । जॄ इति जॄश् वयोहानौ इत्ययं ग्राह्यः, न तु दैवादिकः तस्य 'जीत्वा' इति भवति। **व्रश्चित्वा**—अत्र 'क्त्वा' ।४।३।२९। सूत्रेण सेट् क्त्वा किद्वद् न भवतीति न वृत् ॥४१॥

ऊदितो वा ।४।४।४२।

ऊदितः परस्य क्त्व आदिरिट् वा स्यात् । दान्त्वा, दमित्वा ॥४२॥

यमूसिध्यत्योरनुस्वारेत्त्वादप्राप्ते, शेषाणां प्राप्ते विकल्पोऽयम् । दान्त्वा—दमूच् उपशमे 'अहन्पञ्चमस्य० ।४।१।१०७। सूत्रादत्र दीर्घः ॥४२॥

क्षुधवसस्तेषाम् ।४।४।४३।

आभ्यां परेषां क्तक्तवतुक्त्वामादिरिट् स्यात् । क्षुधितः, क्षुधितवान्, क्षुधित्वा । उषितः, उषितवान्, ऊषित्वा ॥४३॥

क्षुधंच् बुभुक्षायाम् । वसं निवासे धातुरत्र गृह्यते न तु वसिक् आच्छादनेऽस्येडस्त्येव । गणपाठानिर्देशात् यङ्लुपि 'यजादिवचेः किति । ।४।१।७६। सूत्रेण न स्वृत् ॥४३॥

लुभ्यञ्चेर्विमोहाऽर्चे ।४।४।४४।

आभ्यां यथासंख्यं विमोहनपूजार्थाभ्यां परेषां क्तक्तवतुक्त्वामादिरिट् स्यात् । विलुभितः, विलुभितवान्, लुभित्वा, अञ्चितः, अञ्चितवान्, अञ्चित्वा । विमोहार्च इतिकिम् ? लुब्धो जाल्मः, उदक्तं जलम् ॥४४॥

लुभेः 'सहलुभेच्छ० ।४।४।४६। सूत्रेण विकल्पे, अञ्चेश्च 'ऊदितो वा' ४।४।३२। इति विकल्पे, उभयोश्च 'वेटोऽपतः ।४।४।६२। सूत्रेण क्तयोर्नित्यं प्रतिषेधे प्राप्ते इदं सूत्रं कृतम् । विमोहः=विमोहनम्, आकुलीकरणमित्यर्थः । अर्चा=पूजा । **विलुभितः**=अनाकुलः कृत इत्यर्थः । **लुभित्वा**—लुभच् गाध्र्ये, अनाकुलमाकुलीकृत्येत्यर्थः । 'वौ व्यञ्जनादेः० ४।३।२५। सूत्रात् सेट् क्त्वा विकल्पेन किद्वद्भवतीति विलोभित्वा इत्यपि रूपं ज्ञेयम् । विमोहः इत्यत्र णिगन्ताद् 'युवर्ण० ।५।१।२८। सूत्रादल्प्रत्ययः ॥४४॥

पूङ्क्लिशिभ्यो नवा ।४।४।४५।

पूङः क्लिशिभ्यां च परेषां क्तक्तवतुक्त्वामादिरिड् वा स्यात् । पूतः, पूतवान्, पूत्वा । पवितः, पवित्वा । क्लिष्टः, क्लिष्टवान्,

क्लिष्ट्वा । क्लिशितः, क्लिशितवान्, क्लिशित्वा ॥४५॥

पूङ् पवने—'सूत्रे ङकारनिर्देशः पूञ्श् पवने इत्यस्य निवृत्त्यर्थः तस्य हि 'न डीङ्० ।४।३।२७। सूत्रे कित्त्वप्रतिषेधाभावात् 'पुवितः' इत्यनिष्टं रूपं प्रसज्येत, स्थिते तु अस्मिन् 'उवर्णात्' ।४।४।५८। सूत्रादिडभावे 'पूत' इत्येव । 'क्लिशिभ्यः' इत्यत्र बहुवचनं 'क्लिशिच् उपतापे, क्लिशौच् विबाधने द्वयोरपि ग्रहणार्थं कृतम् । पूङः 'उवर्णात् ।४।४।५९। सूत्रात् नित्यं निषेधे प्राप्ते क्लिश्यते नित्यमिटि प्राप्ते क्लिश्नातेश्चौदित्वात् क्त्वायां विकल्पे सिद्धेऽपि क्तयोर्नित्यं निषेधे प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ॥४५॥

सहलुभेच्छ-रुष-रिषस्तादेः ।४।४।४६।

एभ्यः परस्य स्ताद्यशितस्तादेरिट् वा स्यात् । सोढा, सहिता । लोब्धा, लोभिता । एष्टा, एषिता । रोष्टा, रोषिता । रेष्टुम्, रेषितुम् ॥४६॥

इच्छेति निर्देशात् इषत् इच्छायामित्यस्य ग्रहणम्, इषच् गतौ, इषश् आभीक्ष्ण्ये इत्यनयोस्तु नित्यमेवेट् । रुषच् रोषे, रुष हिंसायाम् इति द्वयोरपि ग्रहणमविशेषात् ॥४६॥

इव्-ऋध-भ्रस्ज-दम्भ-श्रि-यु-ऊर्णु-भर-ज्ञपि-सनि-तनि-पति-वृ-ऋद्-दरिद्रः सनः ।४।४।४७।

इवन्ताद् ऋधादिभ्य ऋदन्तेभ्यो दरिद्रश्च परस्य सन आदिरिट् वा स्यात् । दुद्यूषति, दिदेविषति । ईर्त्सति, अर्दिधिषति । बिभर्क्षति, बिभ्रजिषति । धिप्सति, धीप्सति, दिदम्भिषति । शिश्रीषति, शिश्रयिषति । युयूषति, यियविषति । प्रोर्णुनूषति, प्रोर्णुनविषति । बुभूर्षति, बिभरिषति । ज्ञीप्सति, जिज्ञपयिषति । सिषासति, सिसनिषति । तितंसति, तितनिषति ।

पित्सति, पिपतिषति । प्रावुवूर्षति, प्राविवरिषति । वुवूर्षते, विवरीषते । तितीर्षति, तितरीषति । दिदरिद्रासति, दिदरिद्रिषति ॥४७॥

इविति—उदनुबन्धाकरणात् 'इवु व्याप्तौ च' इति न गृह्यते। ऋधूच् वृद्धौ, ऋधूट् वृद्धौ इति द्वावपि ऋध्, अर्द्धितुमिच्छतीति सन्, 'ऋध ईत्' ४।१।१७। सूत्रात् ऋधः स्थाने ईर्त्, न च द्विः। **बिभ्रक्षतीत्यादि**—'भ्रस्जीत् पाके भ्रष्टुमिच्छतीति सन् 'संयोगस्यादौ० ।२।१।८८। सूत्रेण सस्य लोपः, 'यजसृजं० ।२।१।८७। सूत्रात् जस्य षः, 'षढोः कस्सि ।२।१।६२। सूत्रात् षस्य कः, 'नाम्यन्तस्था० ।२।३।१५। सूत्राद् सकारस्य षः। 'भृज्जो भर्ज ४।४।६। सूत्राद् भर्जादेशः विकल्पपक्षे बिभ्रक्षति, बिभ्रज्जिषतीत्यपि। दम्भ्, सन् 'दम्भो धिप् धीप् ।४।१।१८। न च द्विः **शिश्रीषति**–'स्वरहनगमोः सनि धुटि ।४।१।१०४। सूत्राद् दीर्घः। **यियविषतीत्य**त्र 'ओर्जान्तस्था० ।४।१।६० सूत्रेण पूर्वस्येत्त्वम्। 'नामिनोऽनिट् ।४।३।३३। सूत्रेण किद्वद्भावे गुणाभावत्वेन युयूषति, शिश्रीषतीत्यत्र व गुणः। **प्रोर्णुनूषतीत्यादौ** 'स्वरादेर्द्वितीयः ४।१।४। सूत्राद् 'नु' इत्यस्य द्वित्वम्, ततः एकत्र 'स्वरहनगमोः सनि धुटि ४।१।१०४। सूत्राद् दीर्घः, 'ऊर्णोः ।४।३।१६। सूत्राद् विकल्पेन सेट् सन् ङिद्वत्, अतः प्रोर्णुनविषतीत्यत्र गुणः, गुणाभावपक्षे उव् भवति। 'र्हादर्हं० १।३।३१। सूत्रात् णस्य अनु द्वित्वरूपकार्यात्पश्चाद्द्वित्वम् अन्वित्यस्याभावे पूर्वं 'स्वरादेर्द्वितीयः ।४।१।४। सूत्रात् द्वित्वे, 'व्यञ्जनस्या० ।४।१।४४। सूत्राद् पूर्वस्य लुकि प्रोर्णुन्नावेत्यनिष्टं स्यात्। **बुभूर्षति**—अत्र 'स्वरहनगमोः० ।४।१।१०४। सूत्रात् दीर्घ ऋः, 'नामिनोऽनिट्' ।४।३।३३। सूत्रात् किद्वत् 'ओष्ठ्याद्दुर् ।४।४।१०७। सूत्रादुर्, 'भ्वादेर्नामिनो० ।२।१।६३। सूत्राद् दीर्घ ऊर। सूत्रे भरेति शब्निर्देशो यङ्लुपो बिभर्तेश्च निवृत्त्यर्थः। अत्र भृंग् भरणे इति भ्वादिको ग्राह्यः। **ज्ञपीति**—कृतह्रस्वस्योपादानात् ज्ञापेर्जिज्ञापयिषतीत्येव। 'मारणतोषण:' ।४।२।३०। सूत्राद् ह्रस्वो भवति। **सिषासतीत्यत्र** 'सनि ।४।२।६१। सूत्रात् नस्य आकारः। **तितंसतीत्यत्र** 'तनो वा ।४।१।१०५। सूत्राद् वा दीर्घः। **पित्सतीति**—'रभलभ० ।४।१।२१ सूत्रादिकारः। वृग् इत्यस्य प्रावुवूर्षति, प्राविवरिषति । वृङ्श् सम्भक्तौ इत्यस्य वुवूर्षते, विवरीषते, विवरीषते। 'वृ्तो० ।४।४।३५। सूत्राद् वा दीर्घत्वम्, पक्षे विवरिषते इत्यपि एवं नितरिषतीत्यपि। **दिदरिद्रिषति**—

'अशित्य० ।४।३।७७। सूत्रात् आलुक् युधातोः 'ग्रहगुहश्च० ।४।४।५९। सूत्रात् भ्रस्जभ्रगोस्तु अनुस्वारेत्त्वात्प्रतिषेधे प्राप्तेऽन्येषां च नित्यमिटि प्राप्ते विकल्पोऽयम् ॥४७॥

ऋ–स्मि–पूङ्–अञ्ज–शौ–कॄ–गॄ–दृ–धृ–प्रच्छः ।४।४।४८।

एभ्यः परस्य सनः आदिरिट् स्यात् । अरिरिषति, सिस्मयिषति, पिपविषते, अञ्जिजिषति, अशिशिषते, चिकरीषति, जिगरीषति, आदिदरिषते, आदिधरिषते । पिपृच्छिषति ॥४८॥

पृथग्योगाद् नवेति निवृत्तम् । ऋस्मिपूङ्दधृप्रच्छामप्राप्ते शेषाणां विकल्पे प्राप्ते वचनम् । प्रच्छसहचरिताः कॄगॄधृ इत्येते धातवस्तौदादिका ग्राह्याः तेन कृणातेः चिकीर्षति, चिकरीषति । गृणातेः **जिगीर्षति**, जिगरिषति, जिगरीषति, धरतेः दिधीर्षतीति प्रयोगा भवन्ति । पूङित्यनुबन्धनिर्देशात् 'पूङ् पवने' इत्ययं ग्राह्यः । पूगस्तु 'ग्रहगुहश्च सनः ।४।४।५९। सूत्रादिडभावे पुपूषति, पुपूषते इति । अशौटि व्याप्तौ अश्नातेस्तु इडस्त्येव । कॄत् विक्षेपे **चिकरीषति** 'वॄतो नवा० ।४।४।३५। सूत्राद् दीर्घस्य विकल्पपक्षे चिकरिषतीत्यपि । गृणातेः—**जिगरीषति**, दीर्घविकल्पपक्षे जिगरिषति । दृङत् आदरे, धृङत् स्थाने—**आदिदरिषते, आदिधरिषते**, अत्र 'सन्यस्य ।४।१।५९। सूत्रात् द्वित्वे पूर्वस्येत्त्वम् । **पिपृच्छिषति**—'रुदविद० ।४।३।३२। सूत्रात् सन् किद्वत् 'ऋस्मि० ।४।४।४८। सूत्रात् सन आदिरिट् ॥४८॥

हनृतः स्यस्य ।४।४।४९।

हन्तेः ऋदन्ताच्च परस्य स्यस्यादिरिट् स्यात् । हनिष्यति, करिष्यति ॥४९॥

नकारनिर्देशादन्तेरेव ग्रहणं न भवति ॥४९॥

कृत-चृत-नृत-च्छृद-तृदोऽसिचः सादेर्वा ।४।४।५०।

एभ्यः परस्यासिचः सादेस्ताद्यशितः आदिरिट् वा स्यात् । कर्त्स्यति, कर्तिष्यति । चिचृत्सति, चिचर्तिषति । नर्त्स्यति, नर्तिष्यति । अच्छर्त्स्यत्, अच्छर्दिष्यत् । तितृत्सति, तितर्दिषति । असिच इति किम् ? अचकर्तीत् ।।५०।।

प्राप्ते विभाषेयम् । कृतैत् छेदने, कृतैप् वेष्टने वा । चृतैप् हिंसाग्रन्थयोः, नृतैत् नर्तने, ऊछृद्पी दीप्तिदेवनयोः, ऊतृद्पी हिंसाऽनादरयोः इति तृद् । ।। ५० ।।

गमोऽनात्मने ।४।४।५१।

गमः परस्य स्ताद्यशितः सादेरिट् स्यात् । न त्वात्मनेपदे । गमिष्यति, अधिजिगमिषिता शास्त्रस्य । अनात्मने इति किम् ? संगसीष्ट ।।५१।।

गम इत्यादेशस्यानादेशस्य च ग्रहणमविशेषात् । **अधिजिगमिषितेति**— सनीङश्च ।४।४।२५। सूत्रेण 'गमु' आदेशः । **संगसीष्टेति**—गम्लृं गतौ इत्यस्य रूपम् 'समो गमृच्छि० ।३।३।८४। सूत्रात्कर्तर्यात्मनेपदम् ।।५१।।

स्नोः ।४।४।५२।

स्नोः परस्य स्ताद्यशितः अनात्मनेपदे आदिरिट् स्यात् । प्रस्नविष्यति । अनात्मन इत्येव–प्रास्नोष्ट ।।५२।।

पृथग्योगात्सादेरिति नानुवर्तते अन्यथा स्नुगमोरिति कुर्यात् । स्नौतेरिट् सिद्ध एव किन्तु आत्मनेपदे इड्निवृत्त्यर्थं वचनम्, एवमुत्तर—सूत्रेऽपि । **प्रास्नोष्ट**—अयम् 'एकधातौ० ।३।४।८६। सूत्रात्कर्मकर्तरि प्रयोगः ।।५२।।

क्रमः ।४।४।५३।

क्रमः परस्य स्ताद्यशित आदिरिट् स्यात्, अनात्मनेपदे । क्रमिष्यति, प्रक्रमितुम् । अनात्मन इत्येव—प्रक्रंस्यते ॥५३॥

प्रक्रंस्यते—'प्रोपादारम्भे ।३।३।५१। सूत्रादात्मनेपदम् ॥५३॥

तुः ।४।४।५४।

अनात्मनेविषयात्क्रमः परस्य तु स्ताद्यशित आदिरिट् स्यात् । क्रमिता । अनात्मने इत्येव—प्रक्रन्ता ॥५४॥

तुः तृचस्तृनश्चेत्यर्थः । आत्मनेपदविषयश्च क्रमिः कर्मव्यतिहारवृत्त्यादिषु प्रोपव्याङ्पूर्वश्च आरम्भादिषु भवति । **तुः स्ताद्यशित** इत्यत्र 'ऋतो डुर्' ।१।४।३७। सूत्रात् डुर्, व्यत्यये लुग्वा ।१।३।५६। सूत्रादस्य लुक् । क्रमितेति 'क्रमोऽनुपसर्गात् ।३।३।४७ सूत्राद् विकल्पेनात्मने दविषयः तेन क्रन्तेत्यपि । **प्रक्रन्तेति**—'प्रोपादारम्भे' ।३।३।५१। सूत्रादात्मनेपदम् ॥५४॥

न वृद्भ्यः ।४।४।५५।

वृदादिपञ्चकात् परस्य स्ताद्यशित आदिरिट् न स्यात्, न चेदसावात्मनेपदनिमित्तम् । वर्त्स्यति, विवृत्सति, स्यन्त्स्यति, सिस्यन्त्स्यति ॥५५॥

वृतूङ्, स्यन्दौङ्, वृधूङ्, श्रधूङ्, कृपौङ् एते पञ्च वृतादयः । पञ्चपरिग्रहार्थं सूत्रे बहुवचनम् । स्यन्दिकृपोरौदिल्लक्षणो विकल्पः परत्वादनेन बाध्यते, 'वृद्भ्यः स्यसनोः ।३।३।४५। 'कृपः श्वस्तन्याम् ।३।३।४६। सूत्राभ्यां स्ये सनि वृतादयः, श्वस्तन्यां कृपिश्च अनात्मनेपदनिमित्तं विकल्पेन भवति, विकल्पपक्षे **तु इड्** भवत्येव यथा वर्तिष्यते, सिस्यन्दिषते ॥५५॥

एकस्वरादनुस्वारेतः ।४।४।५६।

एकस्वरादनुस्वारेतो धातोर्विहितस्य स्ताद्यशित आदिरिट् न स्यात् । पाता । एकस्वराविति–अवधीत् ।।५६।।

पां पाके=पाता । वधः अकारान्तत्वादनेकस्वरी । इटः प्रत्ययस्यादिरवयवो भवत्यतः प्रत्ययः सेट् तथाप्युपचाराद् धातुरपि सेट् कथ्यते ।।५६।।

ऋवर्ण-श्रि-ऊर्णु गः कितः ।४।४।५७।

ऋवर्णान्ताद् धातोः श्रेरूर्णोश्च एकस्वराद् विहितस्य कित आदिरिट् न स्यात् । वृतः,तीर्त्वा, श्रितः, ऊर्णु त्वा । एकस्वरादित्येव ? जागरितः । कित इति किम् ? वरिता ।५७।।

उत्तरेणैव सिद्धे ऊर्णु ग्रहणमनेकस्वरार्थम् । विहितविशेषणत्वात् 'तीर्त्वा' इत्यादाविरादेशे कृतेऽपि निषेधो भवति । गित्वात् यङ्लुपि इट् स्यादेव । ।। ५७ ।।

उवर्णात् ।४।४।५८।

उवर्णान्तादेकस्वराद् विहितस्य कित आदिरिट् न स्यात् । युतः, लूनः । कित इत्येव–यविता, लविता ।।५८।।

युक् मिश्रणे अदादिः ।।५८।।

ग्रहगुहश्च सनः ।४।४।५९।

आभ्यामुवर्णान्ताच्च विहितस्य सन आदिरिट् न स्यात् । जिघृ-

क्षति, जुघुक्षति, रुरुषति ॥५६॥

जिघृक्षति—ग्रहीश् उपादाने, सन्, द्वित्वम् 'गहोर्जः ।४।१।४०। सूत्राद् द्वित्वे गस्य जः, 'सन्यस्य ।४।१।५६। सूत्राद् द्वित्वे पूर्वस्येकारः, ग्रह० ।४।१।८४। सूत्राद् य्वृत्, 'गडदबादेः० ।२।१।७७। सूत्रात् गस्य घः, 'हो धुट्पदान्ते । ।२।१।८२। सूत्रात् हस्य ढः, 'षढोः कस्सि ।२।१।६३ सूत्रात् ढस्य क् । **जुघुक्षति**—गुहौग् संवरणे । यद्यपि गुधातुरप्युवर्णान्तिस्तक्षपि तस्य तु 'इवृध० ।४।४।४७। सूत्रात् विकल्पेनेटि यियविषति, युयूवतीति, 'ओर्जान्त० ।४।१।६०। सूत्रादिकारः ॥५६॥

स्वार्थे ।४।४।६०।

स्वार्थार्थस्य सन आदिरिट् न स्यात् । जुगुप्सते ॥६०॥

जुगुप्सते इत्यत्र 'गुप्तिजो० ।३।४।५। सूत्रात् सन् ॥६०॥

डीयश्व्यैदितः क्तयोः ।४।४।६१।

डीयतेः श्वेरैदिद्भ्यश्च धातुभ्यः परयोः क्तक्तवत्वोरादिरिट् न स्यात् । डीनः डीनवान् । शूनः, शूनवान् । त्रस्तः, त्रस्तवान् ॥ ६१ ॥

डीनः, डीनवान्—डीङ्च् गतौ 'सूयत्याद्यो० ।४।२।७०। सूत्रात् नकारः । डीयेति श्यनिर्देशात् डयतेरिडेव । ट्वोश्वि गतिवृद्धयोः, शूनः, शूनवान् इत्यत्रापि पूर्ववदोदित्वात् नः । 'दीर्घमवोऽन्त्यम् ।४।१।१०३ सूत्रादन्तस्य य्वृतो दीर्घता । कृतै, नृतै, चृतै इत्येतेषां 'कृतचृत० ।४।४।५०० सूत्रेण वेट्त्वेन 'वेटोऽपतः ।४।४।६२। सूत्रेणापि क्तयोरिट्निषेधे सिद्धे ऐदित्करणं यङ्लुबर्थम् तेन यङो लोपेऽनेक स्वरत्वेऽपीट्प्रतिषेधो भवत्येव

वेटोऽ पतः ।४।४।६२।

अपतो विकल्पितेटो धातोरेकस्वरात्परयोः क्तयोरदिरिट् न स्यात् । रद्धः रद्धवान् । अपत इति किम् ? पपितः ॥६२॥

वा इट् यस्माद् धातोः स वेट् 'एकार्थं चानेकं च ।३।१।२२। सूत्रात् समासः 'रधौच्' रद्धः, रद्धवान् । पतितः—सनि वेट्त्वात्प्राप्ते प्रतिषेधः ॥६२॥

सन्निवेरर्दः ।४।४।६३।

एभ्यः परादर्दः क्तयोरादिरिट् न स्यात् । समर्णः, समर्णवान् । न्यर्णः न्यर्णवान् । व्यर्णः, व्यर्णवान् । संनिवेरिति किम् ? अर्दितः ॥६३॥

समर्णः समर्णवान्—'अर्द गातियाचनयोः', क्तक्तवतू 'रदाद० ।४।२।६९। सूत्रेण धातुदकारस्य प्रत्ययतकारस्य च नकारः, 'रषृवर्णान्नो० ।२।३।६३। सूत्रात् प्रकृतिनकारस्य णकारः, 'तवर्गस्य श्चवर्ग० ।१।३।६० सूत्रात् क्तनकारस्य णकारः ॥६३॥

अविदूरेऽभेः ।४।४।६४

अभेः परादर्दः परयोः क्तयोरविदूरेऽर्थे आदिरिट् न स्यात् । अभ्यर्णः, अभ्यर्णवान् । अविदूर इति किम् ? अभ्यर्दितो दीनः शीतेन ॥६४॥

विदूरम्—अतिविप्रकृष्टम् ततोऽन्यदविदूरम् समीपमित्यर्थः । अभ्यर्णः समीप इत्यर्थः ॥६४॥

वर्लेर्वृत्तं ग्रन्थे ।४।४।६५।

वृत्तेर्ण्यन्तात् क्ते वृत्तं ग्रन्थविषये निपात्यते । वृत्तो गुणश्छात्रेण । ग्रन्थ इति किम् ? वर्तितं कुङ्कुमम् ॥६५॥

वृत्तः—वृत्, णिग्, क्तः, अत्र गुणाभावः, इड्निषेधः, णिग्लुक् च निपात्यते । **गुणः**–उपचाराद् गुणप्रकरणं **गुणः**, वृत्तः कोऽर्थः पठितः इत्यर्थः । वृत्तेरन्तर्भूतण्यर्थस्यैतत् सिध्यति, वर्त्तेस्तु ग्रन्थविषये वर्तितमिति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥६५॥

धृषशसः प्रगल्भे ।४।४।६६।

आभ्यामपरयोः क्तयोरादिः प्रगल्भ एवार्थे इट् न स्यात् । धृष्टः, विशस्तः । प्रगल्भ इति किम् ? धर्षितः, विशसितः ॥६६॥

प्रगल्भो जितसभः, अविनीत, इत्यस्ये । **धृष्टः, विशस्तः**—प्रगल्भ इत्यर्थः । **धर्षितः**—पराभूतः, विशसितः-हिंसित इत्यर्थः । ञिधृषात् प्रागल्भ्ये, शसू हिंसायाम् । धृषेः 'आदितः ।४।४।७२। सूत्रात् शसेरप्यूदित्त्वात् 'वेऽपतः ।४।४।६२। सूत्रात् प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थं वचनम् । प्रगल्भ एव इति नियमः । न चादितां धातूनां 'नवा भावारम्भे ।४।४।७१। सूत्रेण वा इड्निषेधेऽत्र धृषेरुपादानं नित्यमिडभावार्थमिति वाच्यम् धृषेः भावारम्भे स्वभावात् प्रगल्भार्थानभिधानात् ॥६६॥

कषः कृच्छ्रगहने ।४।४।६७।

अनयोरर्थयोः कषेः परयोः क्तयोरादिरिट् न स्यात् । कष्टं दुःखम् । कष्टोऽग्निः । कष्टं वनं दुरवगाहम् । कृच्छ्रगहन इति किम् ? कषितं स्वर्णम् ॥६७॥

कृच्छ्रशब्दात् यथा दुःखमुच्यते तथा अग्निचोरादिकं कारणमप्युच्यते यथाहोदाहरणं **कष्टोऽग्निः** । कषिष्यतीति 'कषोऽनिटः ।५।३।३। सूत्रात् क्तः ।६७।

घुषेरविशब्दे ।४।४।६८।

अविशब्दार्थात् घुषे परयोः क्तयोरादिरिट् न स्यात् । घुष्टा रज्जुः घुष्टवान् । अविशब्द इति किम् ? अवघुषितं वाक्यम् ॥६८॥

अविशब्दः=नानाशब्दः, प्रतिज्ञा वा । **धुष्टा रज्जुः**=संबद्धावयवेत्यर्थः । **अवधुषितं वाक्यम्**-नाना शब्दितं प्रतिज्ञातं वा वाक्यं(ब्रूते)इत्यर्थः। ननु धृषृ शब्दे इत्यस्यैव विशब्दने चुरादित्वात् णिचि सत्यनेकस्वरत्वात्प्रतिषेधो न स्याद् अतः किं वर्जनेनेति चेत्सत्यम् अत एव विशब्दन प्रतिषेधात् ज्ञाप्यते धुषृ ण् विशब्दने' इति धुषेर्विशब्दनार्थस्य चुरादिणिच् अनित्यः ॥६८॥

बलिस्थूले दृढः ।४।४।६९।

बलिनि स्थूले चार्थे दृहेर्दृहेर्वा क्तान्तस्य दृढो निपात्यते । दृढः । बलिस्थूल इति किम् ? दृहितम् । दृंहितम् ॥६९॥

दृढः—अत्र इडभावः, क्तस्य ढत्वम्, धातुसम्बन्धिनोर्हकारनकारयोर्लोपश्च सर्वं निपातनाद् भवति ॥६९॥

क्षुब्धविरिब्धस्वान्तध्वान्तलग्नम्लिष्टफाण्टबाढपरिवृढं मन्थस्वरमनस्तमः-सक्ताऽस्पष्टाऽनायासभृशप्रभौ ।४।४।७०।

एते क्तान्ता मन्थादिष्वर्थेषु यथासंख्यमनिटो निपात्यन्ते । क्षुब्धः समुद्रः । क्षुब्धं वल्लवं । विरिब्धः स्वरः। स्वान्तं मनः । ध्वान्तं तमः । लग्नं सक्तम् । म्लिष्टमस्पष्टम् । फाण्टमनायाससाध्यम् ।

बाढं भृशम् । परिवृढः प्रभुः ॥७०॥

क्षुभत्र् संचलने, क्षुभश् संचलने वा, कर्मण्येव क्तः क्षुभेर्मन्थर्थेऽर्थे क्तान्तस्य इडभावो निपात्यते। मथ्यते इति मन्थः, कर्मणि घञ्, क्तोऽपि क्षुभेः कर्मण्येव। **क्षुब्धः समुद्रः** मथित इत्यर्थः, अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् मथ्यमानः संक्षोभं गत इति वार्थः। मन्थनं वा मन्थः, **क्षुब्धं बल्लवैः** विलोडनं कृतमित्यर्थः। अथवा द्रवद्रव्यसंपृक्ताः सक्तवो रूढया मन्थशब्दे-नोच्यन्ते,तद्द्रव्याभिधाने क्षुब्धशब्दो मन्थपर्यायो भवति तदा संचलितो मन्थःइत्यर्थो भवति।विपूर्वो रिभ्धातुः सौत्रःतस्य विरिब्ध इति निपातनम् स्वरो ध्वनिश्चेत् अथवा रेभृङ् शब्दे इत्यस्य वा निपातनादिकारः। विरि-भितं विरेभितमन्यत्। स्वनेर्धातोर्मनसि पर्याये स्वान्तमिति, अहृन्पञ्च-मस्य० ।४।१।१०७ सूत्रादाकारः। विषयेष्वनाकुलं मनः स्वान्तमित्यन्ये। अन्यत्र स्वनितो मृदङ्गः, स्वनितं मनसा घट्टितं स्पृष्टमिति यावत्, ध्वनेः ध्वान्तमिति तमश्चेत्, तमः-पर्यायोः ध्वान्तशब्दः, अनालोकं गम्भीरं तमो ध्वान्तमित्यन्ये। अन्यत्र ध्वनितं तमसा,ध्वनितो मृदङ्गः। लगेर्लग्नमिति सक्तं चेत्। लगितमन्यत्। म्लेच्छेर्म्लिष्टमिति अस्पष्टं चेत् इत्त्वमपि निपातनात्, म्लेच्छितमन्यत्। फणेः फाण्टमिति अनायाससाध्यं चेत् यद-श्रपितम पिष्टमुदकसंपर्कमात्रादविभक्तरसमौषधं कषायादि तदेवमुच्यते। अग्निना तप्तं यदीषदुष्णं तत्फाण्टमित्यन्ये। अन्ये त्वविद्यमानायासःपुरुषो-ऽन्यो वा सामान्येन फाण्टशब्देनमिधीयते। बाहेर्बाढमिति भृशं चेत्, क्रिया-विशेषणमेवैतत्स्वभावात्। बाहितमन्यत्। परिपूर्वस्य वृहेर्वृहेर्वा **परिवृढ** इति प्रभुश्चेत्, हकारनलोपे ढत्वे च निपातनम्। अन्यत्र परिवृहितं, परि-वृंहितम् ॥७०॥

आदितः ।४।४।७१।

आदितो धातोः परयोः क्तयोरादिरिड् न स्यात् । मिन्नः। भिन्नवान् ॥७१॥

आदितो धातूनां 'नवा भावारम्भे ।४।४।७२। सूत्रेण भावारम्भे वेट्त्वा-

दन्यत्र 'वेटोऽपत: ।४।४।६३। सूत्रेणैवेट्प्रतिषेधे सिद्धे योगविभागे 'यदुपाधे'- विभाषा तदुपाधे: प्रतिषेध:' इति न्यायज्ञापनार्थम् । 'नवा भावारम्भे ।४।४।७२ सूत्रेण भावारम्भविवक्षायां विकल्पनम् यदा कर्मणि कर्तरि वा क्तो विवक्ष्यते तदा 'वेटोऽपत: ४।४।६२। सूत्रेणापि निषेधो न स्यादिति पृथगारम्भ: । न्यायज्ञापनस्य फलं तु 'गमहन-विदलृ० ।४।२।८३ सूत्रेण लृकारेत: विन्दतेरेव वेट्त्वात् तस्यैव 'वेटोऽपत: ।४।४।६२ सूत्रेणेदिड्नि- षेधो न तु ज्ञानार्थस्य विदक् ज्ञाने इत्यस्येति । एतस्य क्तयो: विदित:, विदितवान् इत्येव । न च 'गमहन० ।४।४।८३ सूत्रे विद्लृ इति सानुबन्धो- पादानादेव न भविष्यतीति वाच्यं 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' इति न्याये- नानुबन्धभेदेऽपि सर्वेषां धातो रूपे विशेषा-भावात् विदक्धातो: वेट्नि- मित्तक: क्तयोरिण्निषेध: दुर्वार: स्यादिति । एवं 'हृषे: केश० ।४।४।७६ सूत्रेण केशाद्यर्थस्य हृषेर्वेट्त्वेन तस्यैवेट्निषेध न तु हृषच् तुष्टाविति तुष्ट- यर्थस्य तेनास्य हृषित:, हृषितवानिति रूपं भवति । भिन्न: भिन्नवान्- ञिमिदाङ् स्नेहने भ्वादि:, ञिमिदाङ्च् स्नेहने दिवादिर्वा गृह्यते ।।७१।।

नवा भावारम्भे ।४।४।७२।

आदितो धातोर्भावारम्भयो: क्तयोरादिरिट् वा न स्यात् । भिन्नम् । मेदितम् । प्रमिन्न: । प्रमिन्नवान् । प्रमेदित: । प्रमे- दितवान् ।।७२।।

पूर्वेण नित्यं निषेधे प्राप्ते विकल्प: । आरम्भ:-आदिक्रिया । प्रमेदितुमारब्ध इति 'आरम्भे' ५।१।१० सूत्रात् क्त: ।।७२।।

शक: कर्मणि ।४।४।७३।

शके: कर्मणि क्तयोरादिरिट् वा न स्यात् : शक्त:, शक्तितो वा कर्तुम् ।।७३।।

कर्मणि क्तवतुर्नास्तीति नोदाह्रियते । **कर्तुमिति**—चैत्रेण कर्तुमिति ज्ञेयम् ।७३।।

णौ दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्तम् ।४।४।७४।

दमादीनां णौ क्तान्तानामेते वा निपात्यन्ते । दान्तः, दमितः । शान्तः, शमितः । पूर्णः, पूरितः । दस्तः, दासितः । स्पष्टः, स्पाशितः । छन्नः, छादितः ज्ञप्तः, ज्ञापितः ॥७४॥

दम्—दान्तः, दमितः, शम्—शान्तः, शमितः, पूरै—पूर्णः, पूरितः, एषु णिलुग् निपात्यते । दासृ—दस्तः, दासितः । स्पश्—स्पष्टः, स्पाशितः । स्पशि। सौत्रो वा, स्पशन्तं प्रयुङ्क्ते णिग्, स्पशिण् ग्रहणे इति चुरादिर्वा । छद्–छन्नः छादितः एषु णि-इट्लोपौ, ह्रस्वश्च वा निपात्यन्ते । ज्ञप्तः ज्ञापितः इत्यत्र 'मारणतोषण० ।४।२।३०। इत्यनेनाप्राप्तस्थले पि वा ह्रस्वत्वं निपात्यते ॥७४॥

श्वसजपवमरुषत्वरसंघुषास्वनामः ।४।४।७५।

एभ्यः क्तयोरादिरिट् वा न स्यात् । श्वस्तः, श्वसितः, विश्वस्तवान्, विश्वसितवान् । जप्तः, जप्तवान्, जपितः, जपितवान् । वान्तः, वान्तवान्, वमितः वमितवान् । रुष्टः, रुष्टवान्, रुषितः, रुषितवान् । तूर्णः, तूर्णवान्, त्वरितः, त्वरितवान् । संघुष्टौ संघुषितौ दम्यौ, संघुष्टवान्, संघुषितवान् । आस्वान्तः, आस्वनितः, आस्वान्तवान्, आस्वनितवान् । अभ्यान्तः, अभ्यान्तवान्, अभ्यमितः, अभ्यमितवान् ॥७५॥

श्वसक् प्राणने । कबेर्वेटत्वात् नित्यं प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । तूर्णं इति त्वरधातोः 'मव्यवि० ।४।१।१०९। सूत्रादुपान्त्येन सह उट् । संघुषास्वनिभ्यां परत्वादयमेव विकल्पः न तु 'घुषेरविशब्दे ।४।४।६८। 'क्षुब्ध० ।४।४।७० सूत्राभ्यां नित्यमिण्निषेधः । तेनाविशब्दनेऽपि संघुष्टा रज्जुः, संघुषिता रज्जुरिति, मनसि वाच्येऽपि आस्वान्तं आस्वनितं मनः इत्येव भवति ॥७५॥

हृषेः केशलोमविस्मयप्रतिघाते ।४।४।७६।

हृषेः केशाद्यर्तेषु क्तयोरादिरिट् वा न स्यात् । हृष्टाः, हृषिताः केशाः । हृष्टं, हृषितं लोमभिः । हृष्टो हृहितश्चैत्रः । हृष्टा हृषिता दन्ताः ॥७६॥

केशलोमकर्तृका ऊद्धुषणादिका क्रिया केशलोमशब्देनोच्यते । उद्धुषणम् =रोमाञ्च इति अभिधानचिन्तामणिः, का० २ श्लोक २०९) हृष्टा, हृषिताः—केशाः रोमाञ्चिता इत्यर्थः । हृष्टो हृषितश्चैत्रः—विस्मित इत्यर्थः । हृष्टा हृषिता दन्ताः प्रतिहता इत्यर्थः । हृषच् तुष्टौ, हृषू अलीके वा ततः परः क्तः ॥७६॥

अपचितः ।४।४।७७।

अपाच्चायेः क्तान्तस्य इडभावः चिश्च निपात्यते वा । अपचितः । अपचायितः ॥७७॥

"चायृग् पूजानिशामनयोः" अयं धातुर्ग्राह्यः न तु 'चिग्ट् चयने' इति चिनोतिरस्य पूजार्थत्वाभावात् । निपातनमेतत् ॥७७॥

सृजिदृशिस्कृस्वराऽत्वतस्तृज्नित्यानिटस्थवः ।४।४।७८।

सृजिदृशिभ्यां स्कृगः स्वरान्तादत्वतश्च तृचि नित्यानिटो विहितस्य थव आदिरिट् वा न स्यात् । सस्रष्ठ, ससर्जिथ । दद्रष्ठ, ददर्शिथ । सञ्चस्कर्थ, सञ्चस्करिथ । ययाथ, ययिथ । पपक्थ, पेचिथ । तृज्नित्यानिट इति किम् ? ररन्धिथ, शिश्रयिथ । विहितविशेषणं किम् ? चकर्षिथ ॥७८॥

अत्वतश्चेति—अकारवतं इत्यर्थः । 'स्क्रऽ सृ० ।४।४।८१। सूत्रात् प्राप्ते विभाषा । स्वरान्तत्वेनैन सिद्धे स्कृग्रहणम् 'ऋतः ।४।४।८०। इति प्रतिषेध-बाधनार्थम् । सृजंत् विसर्गे, दृशं प्रेक्षणे, डुकृंग् करणे, यांक् प्रापणे, डुपचींष् पाके 'एकस्वरा० ।४।४।५६। इति दिवादिः निटो धातवः **ररन्धिथेति**-'रधोच् हिंसासंराद्धयोः इति दिवादिः, रंध इटि० ।४।४।१०१। इति नोन्तः, 'धूगौदितः ।४।४।३८। इति तृजि विकल्पेटो न भवति । **शिश्रयिथेति**—श्रिग् सेवायाम् भ्वादिः 'ऋवर्णं० ।४।४।५७। इति किल नित्यानिट्त्वात् न भवति । **चकर्षिथेति**—कृष भ्वादिधातुः, अत्र गुणे कृते अत्वान् न पूर्वम् ॥७८॥

ऋतः ।४४।७९।

ऋदन्तात् तृजनित्यानिटो विहितस्य थव आदिरिट् न स्यात् । जहर्थ । तृजनित्यानिट इत्येव-सस्वरिथ ॥७९॥

सूत्रारम्भसामर्थ्यात् नवेति निवृत्तम् अन्यथा स्वरान्तद्वारेण पूर्वेण सिद्धं वर्तते । पूर्वस्यापवादोऽयम् । **जहर्थ**— हृंग् भ्वादिरत्र । **सस्वरिथ**—ओस्व शब्दोपतापयोः ॥७९॥

ऋवृव्येऽद इट् ।४।४।८०।

एभ्यः परस्य थव आदिरिट् स्यात् । आरिथ । ववरिथ । संवि-व्ययिथ, आदिथ ॥८०॥

पुनरिड्ग्रहणान्नेति निवृत्तम् । अतः पूर्वेण वृग उत्तरेण प्रतिषेधे, व्येऽदोस्तु 'सृजिदृशि० ।४।४।७८। सूत्रेण विकल्पे प्राप्ते वचनम् । व्येंग् संवरणे भ्वादिः, अदक् भक्षणे । थवो वित्वात् 'इन्ध्यसंयोगात्० ।४।४।२१ सूत्रेण कित्वा-भावः । वृ इति सामान्योक्तावपि वृगो ग्रहः वृङस्त्वात्मनेपदित्वेन थवोऽ-सम्भवः, उत्तर सूत्रे तु 'परोक्षा' इति भणनात् द्वयोरपि ॥८०॥

स्कऽसृवृभृस्तुद्रुश्रुस्त्रोर्व्यञ्जनादेः परोक्षायाः ।४।४।८१।

स्कृगः स्रादिवर्जेभ्यश्च सर्वधातुभ्यः परस्याः परोक्षाया व्यञ्जनादेरिट् स्यात् । संचस्करिव । ददिव । चिच्यिवहे । स्कृति किम् ? चकृव । स्रादिवर्जनं किम् ? ससृवा ववृव । ववृवहे । बभर्थ । तुष्टोथ । दुद्रोथ । शुश्रोथ । सुस्रोथ ॥८१॥

संचस्करिवेति—स्कृच्छतो० ।४।३।८। सूत्रेण गुणः । **चिच्यिवहे इति ।** चिग्ट् चयने 'योऽनेकस्वरस्य ।२।१।५६ सूत्रात् यत्वम् । स्कृ इति ससटा निर्देशात् चकृवेत्यत्र न भवति । स्तुद्रुश्रुस्रुणां 'सृजिदृशि० ।४।४।७६ सूत्रेणापि थवि विकल्पो न भवति, अनेन प्राप्ते हि स विकल्पः, एषां तु प्रतिषिद्धत्वात्प्राप्तिर्नास्ति ववृषे इत्यत्र तु 'स्ताद्य०' ।४।४।३२ सूत्रेणापि न भवति । 'ऋवर्ण० ।४।४।५० सूत्रात्प्रतिषेधात् ॥८१॥

घसेकस्वरातः क्वसोः ।४।४।८२।

घसेरेकस्वरादादन्ताच्च धातोः परस्य क्वसोः परोक्षाया आदिरिट् स्यात् । जक्षिवान् । आदिवान् । ययिवान् । परोक्षाया इत्येव-विद्वान् ॥८२॥

जक्षिवान्—अत्र 'घस्लृं अदने अथवा अदस्थाने' परोक्षायां नवा ।४।४।१८ सूत्राद् घसादेशः, 'तत्र क्वसुकानौ तद्वत् ।५।२।२। सूत्रात् क्वसुः, द्वित्वम्, 'द्वितीयतुर्ययोः पूर्वौ ।४।१।४२ सूत्राद् द्वित्वे घकारस्य गकारः, 'गहोर्जः' ।४।१।४०। सूत्रात् गस्य जः,'घसेक० ।४।४।८२ सूत्रादिट्, गमहन० ।४।२।४४। सूत्रादुपान्त्याकारलोपः, अघोषे प्रथमोऽशिटः ।१।३।५० सूत्रात् घस्य क्, 'घस्वसः ।२।३।३६ सूत्रात् षः । ननु एकस्वरत्वात् घस इट् सिद्ध एवास्ति तथापि घस्ग्रहणं किमर्थम् ? घस्ग्रहणं विहितविशेषणानाश्रयार्थम्, तेन नित्यत्वात् द्वित्वे कृतेऽनेकस्वरत्वेऽपि शुक्षुवानित्यादौ न भवति । आग्रहणमनेकस्वरार्थम्, इटि हि सति आकारलोप उपान्त्यलोपश्च भवति । **आदिवानिति**—द्वित्वदीर्घत्वयोः कृतयोरेकस्वरत्वमत्र । **विद्वानिति** 'आ वेत्तेः क्वसुः ।५।२।२२। सूत्रात् सदर्थे क्वसुः । **पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थं**

वचनम्, एभ्य एव क्वसोराविरिट् भवति। नान्येभ्यः इति ॥८२॥

गमहनविद्लृविशदृशो वा ।४।४।८३।

एभ्यः परस्य क्वसोरादिरिट् वा स्यात् । जग्मिवान् । जगन्वान् । जघ्निवान्, जघन्वान्, विविदिवान् । विविद्वान् । विविशिवान् । विविश्वान् । ददृशिवान् । ददृश्वान् ॥८३॥

विद्लृ' इत्यनेन विद्लृ ती लाभे इत्यस्य ग्रहणम्, तेन ज्ञानार्थस्य विदक् ज्ञाने' इत्यस्य 'विविद्वान्' इत्येव भवति' सत्ताविचारणयोस्तु धात्वोरात्मनेपदित्वात् क्वसुरेव नास्ति। न च विद इत्युक्तेऽपि 'अदाद्यनदाद्योरनदादेरेव इति न्यायात् लाभार्थस्यैव ग्रहणं भविष्यति, सत्ताविचारणार्थयोस्तु अनदादित्वेऽप्यात्मनेपदित्वात् क्वसोरसम्भव इति वाच्यं 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' इति न्यायात् तुदादेः 'विद्लृ ती लाभे' इत्यस्य ग्रहणासम्भवात् । वस्तुतस्तु उभौ एतौ न्यायौ परस्परविरोधिनौ नैवात्र प्रवर्तेते तस्मात् येन प्रकारेण निर्विशङ्कं लाभार्थस्य ग्रहणमुपपद्यते स प्रकारः कर्तव्य इति लृकारोऽनुबन्धः कृतः इति। यद्वा न च तुदादिना विशिना साहचर्यात् लाभार्थस्यैव ग्रहणं भविष्यति किं लृकारकरणेनेति वाच्यम् यथा विशिना साहचर्यं तथा हन्तिनाऽपि साहचर्यशङ्का स्यात्ततश्चादादेरेव ग्रहणं स्यादिति। जग्मिवानिति—'गमहन० ।४।२।४४। सूत्रादुपान्त्यलोपः, मो नो म्वोश्च ।२।१।६७। सूत्रात् मस्य नः । जघ्निवानिति—'अङे हिहनो० ।४।१।३४। सूत्रात् हो घः ॥८३॥

सिचोऽञ्जेः ।४।४।८४।

अञ्जेः सिच आदिरिट् स्यात् । आञ्जीत् ॥८४॥

अञ्जौप् व्यक्तिम्रक्षणगतिषु । सूत्रादौदित्वाद् विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थमिदम् ॥८४॥

धूग्सुस्तोः परस्मै ।४।४।८५।

एभ्यः परस्मैपदे सिच् आदिरिट् स्यात् । अधावीत्, असावीत्, अस्तावीत् । परस्मै इति किम् ? अधोष्ट ॥८५॥

धूगो विकल्पे सुस्तुभ्यां च प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । सु प्रसवैश्वर्ययोः षुंगट् अभिवे इत्युभयोर्ग्रहणम् सुं प्रसवैश्वर्ययोरित्यस्य तु कर्तयोत्मनैपदं न भवति ॥८५॥

यमिरमिनम्यातः सोऽन्तश्च ।४।४।८६।

एभ्य आदन्तेभ्यश्च परस्मैपदे सिच आदिरिट् स्यात् । एषां च सन्तः । अयंसीत्, व्यरंसीत्, अनंसीत्, अयासिष्टाम् ॥८६॥

अन्तग्रहणात् 'षष्ठ्यान्त्यस्य ।७।४।१०६। सूत्रं न **प्रवर्तते । अयंसीदि**-त्यादि–यम् रम् नम् अत्र अद्यतनी दि ' स सिजस्ते० ।४।३।६५। सूत्रात् ईत्, तदनन्तरं 'यमिरमि ।४।४।८६। सूत्रात् इट्, इटः पश्चाद् धातोः परतः सोऽन्तः, 'इट ईति ।४।३।७१। सूत्रात् सिज्लोपः । **अयासिष्टा**—मिति—अत्र ताम्प्रत्ययः, सिच्, इट्, धातु सोऽन्तः । अथ दिस्योः परयोः सिच आदाविड्विधानस्य किं फलमिति चेदत्रोत्तरम् एभ्यो दिस्योः सिच इड्विधानस्य 'व्यञ्जनानामनिटि ।४।३।४५। सूत्राद् प्राप्ताया वृद्धयाः प्रतिषेधः प्रयोजनम् ॥८६॥

ईशीडः सेध्वेस्वध्वमोः ।४।४।८७।

आभ्यां वर्तमानासेध्वयोः पञ्चमीस्वध्वमोश्चादिरित् स्यात् । ईशिषे, ईशिध्वे ईशिष्व । ईशिध्वम् । ईडिषे । ईडिध्वे । ईडिष्व । ईडिध्वम् ॥८७॥

परोक्षासेध्वयोरमा भाव्यमिति वर्तमानासेध्वयोर्ग्रहणम् । सूत्रे समुदाय-

द्वयापेक्षं द्विवचनम्, तेन स्वसहचरितस्य ध्वमो ग्रहणात् ह्यस्तनीध्वमि न भवति । सूत्रे वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ॥८७॥

रुत्पञ्चकात् शिदयः ।४।४।८८।

रुदादेः पञ्चतः परस्य व्यञ्जनादेः शितोऽयादेरादिरिट् स्यात् । रोदिषि स्वपिषि, प्राणिति । श्वसिति । जक्षिति । अयिति किम् ? रुद्यात् । शित इति किम् ? रोत्स्यति । स्वप्स्यति ॥८८॥

रुदिः, स्वपिः, अनिः, श्वसिः, जक्षि इति रुदादिपञ्चकम् ॥८८॥

दिस्योरिट् ।४।४।८९।

रुत्पञ्चकात् दिस्योः शितोरादिरीट् स्यात् । अरोदीत्, अरोदीः ॥८९॥

दिसाहचर्यात्सिः ह्यस्तन्या एव तेन रोदिषीत्यत्र ईट् न भवति ॥८९॥

अदश्चाट् ।४।४।९०।

अत्ते रुत्पञ्चकाच्च दिस्योः शितोरादिरीट् स्यात् । आदत्, अरोदत्, अरोदः ॥९०॥

अदंक् भक्षणे अदादिः ॥९०॥

संपरेः कृगः स्सट् ।४।४।९१।

आभ्यां परस्य कृगः आदिः स्सट् स्यात् । संस्करोति कन्याम्, परिष्करोति ॥९१॥

ससट्प्रत्ययस्य एकसकारोऽनुबन्धः एकसकाररूप एव प्रत्ययः, द्विसकार-पाठस्तु 'समचिस्करत्' इत्यादौ षत्वबाधनार्थः । **संस्करोतीति**—सम्पूर्वः कृञ्, ततः 'सं-परेः कृञः ससट्' ।४।४।६१। सूत्रेण एकसकार एव सट्, 'स्सटि समः' ।१।३।१२। सूत्रेणानुस्वारः पूर्वस्य तथा द्वितीयसकारः क्रियते। कस्यादिः कादिर्व्यञ्जनमिति व्युत्पत्त्याऽनुस्वारस्य व्यञ्जनसंज्ञत्वात् 'धुटो धुटि स्वे वा' ।१।३।४८। सूत्रेण विकल्पेन पूर्वसकारस्य लोपः। **संस्करोति**=भूषयतीत्यर्थः । **परिष्करोतीत्यत्र** 'असोङसि०' ।२।३।४८। सूत्रेण षकारः । 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण सम्बध्यते पश्चात्साधनेन' इति न्यायात् द्विर्वचनादडागमाच्च पूर्वमेवस्सड् भवति तेन संचस्कार, समचिस्करदित्यादि सिध्यति अन्यथा समा परिणा च कृञो व्यवधानं स्यात् ॥६१॥

उपाद् भूषासमवायप्रतियत्नविकारवाक्याऽध्याहारे । ।४।४।६२।

उपात्परस्य कृञो भूषादिष्वर्थेषु आदिः ससट् स्यात् । कन्यामुपस्करोति, तत्र न उपस्कृतम्, एधोदकमुपस्कुरुते, उपस्कृतं भुङ्क्ते सोपस्कारं सूत्रम् ॥६२॥

भूषा=अलङ्कारः । **कन्यामुपस्करोति** भूषयतीत्यर्थः । समवायः=समुदायः । **तत्र नः उपस्कृतम्** समुदितमित्यर्थः, वस्तूनामेकत्र मेलनमिति यावत् । प्रतियत्नः=पुनर्यत्नः, केशादेः सौगन्ध्यादिसम्बन्धविषये, वृक्षादेः सेकादिना वृद्ध्यै अभिमतावस्थायोजनं प्रतियत्नः । **एधोदकमुपस्कुरुते**—तत्र प्रतियतते इत्यर्थः । प्रकृतेरन्यथाभावो विकारः । **उपस्कृतं भुङ्क्ते** विकृतमित्यर्थः । गम्यमानार्थस्य वाक्यैकदेशस्य स्वरूपेणोपादानम्—वाक्याध्याहरः । सोपस्कार सूत्रम्—सवाक्याध्याहारमित्यर्थः ॥६२॥

किरो लवने ।४।४।६३।

उपात्किरतेस्सडादिः स्यात्, लवनविषयार्थश्चेत् । उपस्कीर्य

मद्रका लुनन्ति । लवन इति किम् ? उपकिरति पुष्पम् ॥९३॥

किर् इति इर्निर्देशः क्र्यादिनिवृत्त्यर्थः । उपस्कीर्य मद्रकाः लुनन्ति—कॄ्‌ विक्षेपे, विक्षिप्य लुनन्तीत्यर्थः ॥९३॥

प्रतेश्च वधे ।४।४।९४।

प्रतेरुपाच्च किरतेर्हिंसायां विषयेऽर्थे स्सडादिः स्यात् । प्रतिस्कीर्णम्, उपस्कीर्णम् वा ह ते वृषल भूयात् । प्रतिचस्करे नखैः । वध इति किम् ? प्रतिकीर्णं बीजम् ॥ ९४ ॥

प्रतिस्कीर्णम्, उपस्कीर्णं वा ह ते वृषल भूयात्—हे वृषल ते हिंसानुबन्धी विक्षेपो भूयादित्यर्थः । प्रतिस्करणं=प्रतिस्कीर्णम्, 'क्लीबे क्तः ।५।३।१२३। सूत्रात् क्तः । **प्रतिचस्करे नखैः**—हत इत्यर्थः । **प्रतिकीर्णं बीजम्**—विक्षिप्तमित्यर्थः ॥९४॥

अपाच्चतुष्पात्पक्षिशुनिहृष्टान्नाश्रयार्थे ।४।४।९५।

अपात्किरतेः चतुष्पदि पक्षिणि शुनि च कर्तरि यथासंख्यं हृष्टे, अन्नार्थिन आश्रयार्थिनि स्सडादिः स्यात् । अपस्किरते गौर्हृष्टः, कुक्कुटो भक्ष्यार्थी, आश्रयार्थी वा श्वा ॥९५॥

चत्वारः पादा यस्य स चतुष्पात्, 'सुसंख्यात् ।७।३।१५०। सूत्रेण समासान्तपादशब्दस्य 'पाद्' आदेशः । **अपस्किरते गौर्हृष्टः**—बलीवर्दः हर्षाद् विलिख्य तटं विक्षिपतीत्यर्थः । हृषच् तुष्टौ, हर्षणं क्तिः, हृष्टिरस्यास्तीति 'अभ्रादिभ्यः । ७।२।४६ । सूत्रादप्रत्ययः । 'अवर्णवर्णस्य ।७।४।६८। सूत्रादिकारस्य लुक् । यदि क्तः स्यात्तदा तु इट् स्यात्, हृष् इत्यपि तुष्ट्यर्थो वा धातूनामनेकार्थत्वात् । **अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी**—भक्ष्यमर्थयतीत्येवं शीलः 'अजातेः शीले ।५।१।१५४। सूत्रात् णिन्, विलिख्या-

वस्करं कुक्कुटो विक्षिपतीत्यर्थः । अपस्किरते आश्रयार्थी श्वेति—विलिख्य भस्म विक्षिपतीत्यर्थः ॥९५॥

वौ विष्किरो वा ।४।४।९६।

पक्षिणि वाच्ये विकिरतेः स्सड् आदिः स्यात् । विष्किरः, विकिरो वा पक्षी ॥९६॥

विष्किरतीति **विष्किरः**=पक्षिविशेषः, विकिरोऽपि स एव । अन्ये तु पक्षिणोऽन्यत्र विकिरशब्दस्यापि प्रयोगो नास्तीत्याहुः ॥९६॥

प्रात्तुम्पतेर्गवि ।४।४।९७।

प्रात्तुम्पतेर्गवि कर्तरि स्सडादिः स्यात् प्रस्तुम्पति गौः। गवीति प्रतुम्पति तरुः ॥९७॥

तुम्प हिंसायाम् । प्रस्तुम्पति गौः—हिनस्तीत्यर्थः ॥९७॥

उदितः स्वरान्नोऽन्तः ।४।४।९८।

उदितः धातोः स्वरात्परो न् अन्तः स्यात् । नन्दति, कुण्डा ॥९८॥

टुनदु समृद्धौ इत्यस्मात् नन्दति । नोन्तः उपदेशावस्थायामेव भवति तेन कुण्डनं=कुण्डा' इत्यत्र 'क्तेटो गुरोर्व्यञ्जनात्' ।५।३।१०६। सूत्रादप्रत्ययः सिद्धः, तत्र गुरूमतो धातोर्भणनात् ॥९८॥

मुचादितृफदृफगुफशुभोभः शे ।४।४।९९।

एषां शे परे स्वरान्नोऽतः स्यात् । मुञ्चति, पिंशति, तुम्फति, दृम्फति, गुम्फति, शुम्भति, उम्भति ॥९९॥

मुच्लृंती मोक्षणे, षिचींत्, क्षरणे, विद्लृंती लाभे, लुप्लृंती छेदने, लिपींत् उपदेहे, कृतैत् छेदने, खिदंत् परिघाते, पिशत् अवयवे इति मुचादिगणः । तृफ तृम्फत् तृप्तौ यथासंख्यं नकारवर्जितः, नकारयुक्तः एवमग्रेऽपि । दृफ दृम्फत् उत्क्लेशे । गुफ गुम्फत् ग्रन्थने । शुभ शुम्भत् शोभार्थे । उभ उम्भत् पूरणे एते नकारयुक्ताः, नकारवर्जिताः द्विविधाः । नृम्फादीनां शे परे नस्य 'नो व्यञ्जन० ।४।४।४५। सूत्रेण नलोपः, तृफादीनां तु अनेन नस्य विधानम्, विधानबलाच्च न नस्य लोपः इति तुफति, तृम्फति इत्यादि द्वैरूप्यं सिद्धम् ॥९९॥

जभः स्वरे ।४।४।१००।

जभेः स्वरात्परः स्वरादौ प्रत्यये नोऽन्तः स्यात् । जम्भः ॥१००॥

जभ मैथुने, जभुङ्, जभैङ् गात्रविनामे । जम्भ—इत्यत्र अच्, भावकरणादौ घञ् वा ॥१००॥

रध इटि तु परोक्षायामेव ।४।४।१०१।

रधः स्वरात्परः स्वरादौ प्रत्यये नोऽन्तः स्यात् इडादौ तु परोक्षायामेव । रन्धः । ररन्धिव । परोक्षायामेवेति किम् ? रधिता ॥१०१॥

पूर्वसूत्रात् स्वराधिकारे सत्यपि यदत्र 'रध इटि तु ।४।४।१०१। सूत्रे इड्ग्रहणं करोति तस्मात् इड्ग्रहणबलात् नियमः सिद्धः । सूत्रे एवकारस्तु विपरीतनियमनिरासार्थः तेन 'ररन्ध' इत्यत्र न नियमः ॥१०१॥

रभोऽपरोक्षाशवि ।४।४।१०२।

रभेः स्वरात्परः परीक्षाशव्वर्जे स्वरादौ प्रत्यये न् अन्तः स्यात् । आरम्भः । अरोक्षाशवीति किम् ? आरेभे । आरभते ॥१०२॥

रभि राभस्ये ॥१०२॥

लभः ।४।४।१०३।

लभः स्वरात्परः परीक्षाशव्वर्जे स्वरादौ प्रत्यये न अन्तः स्यात् । लम्भकः ॥१०३॥

योगविभाग उत्तरार्थः । लभेः परस्मैपदस्याप्यभिधानाल्लभन्ती स्त्री इति केचिदाहुः ॥१०३॥

आङो यि ।४।४।१०४।

आङः परस्य लभः स्वरात्परो यादौ प्रत्यये न् अन्तः स्यात् । आलम्भ्या गौः । यीति किम् ? आलब्धाः ॥१०४॥

डुलभिष् प्राप्तौ, आलभ्यते इति आलभ्या, 'शकितकि० ।५।१।२९। सूत्राद् यः ॥१०४॥

उपात्स्तुतौ ।४।४।१०५।

उपात्परस्य लभः स्वरात्परो यादौ प्रत्यये स्तुतौ गम्यायां न् अन्तः स्यात् । उपलम्भ्या विद्या । स्तुताविति किम् ? उपलभ्या वार्ता ॥१०५॥

उपलभ्या विद्या—ज्ञायते विद्या इत्यर्थः, 'शकितकि० ।५।१।२९। सूत्राद् यप्रत्ययः १०५॥

ञिरव्णमोर्वा ।४।४।१०६।

ञौ ख्यणि लभः स्वरात्परो न् अन्तो वा स्यात् । अलम्भि । लम्भंलम्भम्, लाभंलाभम् ॥१०६॥

लम्भंलम्भम्, लाभंलाभमिति—'रव्णम् चाभीक्ष्ण्ये ।५।४।४८ सूत्रात् रव्णम् । नान्ताभावपक्षे अकारोपान्त्यत्वात् 'ञ्णिति ।४।३।५०। सूत्रेण वृद्धिः ॥१०६॥

उपसर्गात् खल्घञोश्च ।४।४।१०७।

उपसर्गाल्लभः स्वरात्परः खल्घञोर्ञिरव्णमोश्च परयोर्न् अन्तः स्यात् । दुष्प्रलम्भम्, प्रलम्भः प्रालम्भि, प्रलम्भंप्रलम्भम् । उपसर्गादिति किम् ? लाभः ॥१०७॥

दुःखेन प्रलभ्यते=दुष्प्रलम्भम्, 'दुःस्वीषतः० ।५।३।१३८। सूत्रेण खल् । ञिरव्णमोर्नित्यार्थमुपसर्गादेव खल्घञोरिति नियमार्थं च वचनम् । लभः उपसर्गात् खल्घञोरेवेति विपरीतनियमस्तु 'शप उपलम्भने ।३।३।३५।इति ज्ञापकात् न भवति ॥१०७॥

सुदुर्भ्यः ।४।४।१०८।

आभ्यां समस्तव्यस्ताभ्यां उपसर्गात्पराभ्यां परस्य लभः स्वरात्परः खल्घञोर्नोऽन्तः स्यात् । अतिसुलम्भम्, अतिदुर्लम्भम्, अतिसुलम्भः । अतिदुर्लम्भः, अतिसुदुर्लम्भम्, अतिसुदुर्लम्भः । उपसर्गादित्येव सुलभम् ॥१०७॥

अतिसुलभमतिदुर्लभमित्यत्र तेः पूजातिक्रमयोरनुपसर्गत्वात्, उपसर्गादेव सुदुर्भ्यः इति नियमार्थं वचनम्, बहुवचनं व्यस्तसमस्त परिग्रहार्थम् दुःसंग्रहार्थं च । व्यस्ताभ्याम्=एकैकाभ्याम् अतिशयेन सुखेन लभ्यते=अतिसु-

म्भम्। अतिशयेन दुःखेन लभ्यते=अतिदुर्लम्भम्, अत्र दुःखातिशयस्यातिशयो ज्ञातव्यः, अतिमहादुष्प्रापमित्यर्थः, 'दुःस्वीषत.,५।३।१३६ सूत्रात् खल्। अतिसुदुर्लम्भमिति खलन्तसमस्तस्योदाहरणम्, अतिसुदुर्लम्भ इति घञन्तसमस्तस्योदाहरणम्। अत्र समस्तग्रहणेन विपर्यस्तावपि, दुःसु' इत्येवं गृह्यते। **सुलभमिति**–पूजार्थत्वात् 'सु' इत्यस्य धातोः० ।३।१।१। सूत्रादुपसर्गत्वाभावः ॥१०८॥

नशो धुटि ।४।४।१०९।

नशेः स्वरात्परो धुडादौ प्रत्यये न् अन्तः स्यात्। नंष्टा। धुटीति किम्? नशिता ॥१०९॥

नशौच् अदर्शने दिवादिः ॥१०९॥

मस्जेः सः ।४।४।११०।

मस्जेः स्वरात्परस्य सस्य धुडादौ प्रत्यये न् अन्तः स्यात्। मङ्क्त्वा ॥११०॥

आदेशकरणं नलोपार्थमन्यथा 'संयोगस्यादौ० ।२।१।८८। सूत्रेण स्लुकि कृतेऽपि 'नो व्यञ्जनस्या० ।४।२।४५। सूत्रादुपान्त्यलोपे कर्तव्ये स्लुक् असन् भवतीति नान्तलोपो न प्राप्नुयात्, उपान्त्यस्याभावात्। **मङ्क्त्वे**त्यत्र 'चजः कगम् ।२।१।८६। सूत्रात् जस्य गकारः, 'अघोषे प्रथमो० ।१।३।५०। 'सूत्रात् गकारस्य ककारः ॥११०॥

अः सृजिदृशोऽकिति ।४।४।१११।

अनयोः स्वरात्परो धुडादौ प्रत्यये अदन्तः स्यात्, न तु किति। स्रष्टा, द्रष्टुम्। अकितीति किम्? सृष्टः ॥१११॥

पौ य्वर्जव्यञ्जनादौ च परे य्वो-र्लुक् स्यात् । क्नोपयति, क्ष्मातम्, देदिवः, कण्डूः । य्वर्जनं किम् ? क्नूय्यते ॥१२१॥

पुग्रहणमप्रत्ययार्थम् । **क्नोपयति**—क्नूयैङ् भ्वादिः 'अर्तिरी० ।४।२।२१। सूत्रात् पुरन्तः, यस्य लुक् । क्ष्मायैङ् विधूनने इत्यस्य क्ष्मातम् । दिवूच् क्रीडायाम् भृशं पुनर्पुनर्वा दीव्यावः, यङ् 'बहुलं लुप् ।३।४।१५। सूत्रात् यङो लुप्, वर्तमानावस् । कण्डूमिच्छतीति कण्डूयति, क्यन्, **कण्डूयतीति** क्विप् अथवा कण्डूयनं=कण्डूः 'क्रुत्सं० ।५।३।११४। **सूत्रात्क्विप्** । 'अतः ।४।३।८२। सूत्रेणाकारलोपः, 'य्वोः प्वय्० ।४।४।१२१।सूत्रात् यकारलोपः ॥१२१॥

कॄतः कीर्तिः ।४।४।१२२।

कॄतणः कीर्तिः स्यात् । कीर्त्तयति ॥१२२॥

कॄतः ॠदुपदेशोऽचीकृतदित्यत्र ॠकारश्रवणार्थः । ननु धातुपाठे कॄतण् संशब्दने इत्यस्य स्थाने कीर्त्तणिति पठ्यतां किमादेशेनेति वाच्यमचीकृतदित्यत्र ॠकारश्रवणार्थ इति । 'ॠदुवर्णस्य' ।४।२।३७। सूत्रे वर्णग्रहणसामर्थ्यादत्र कीर्त्यादेशो बाध्यते । ननु कॄतणित्यस्य स्थाने ह्रस्वकारपाठ एव क्रियतामेवं च 'ॠदुवर्णस्य' ।४।२।३७। सूत्रे वर्णग्रहणमपि न कर्त्तव्यं भवेदिति चेत्सत्यम् अत्र सूत्रे कृतण् इत्यस्य 'कृतः' इति निर्देशे कृते कृतण् अथवा कृतैत् ग्राह्य इति संदेहः स्यात् । इकारान्तनिर्देशो मंगलार्थः ॥ १२२ ॥

❀ इति चतुर्थाध्यायः ❀

—:o o:—

धर्मयुद्ध क्यों ?

भगवान् का संघ, भगवान् के सिद्धान्त की रक्षा के लिये लड़ना पड़े तो लड़े, परन्तु दुनियां की किसी भी चीज के लिये वह नहीं लड़ता। लड़ते समय भी सामने वाले के हित की चिन्ता तो उसके हृदय में बैठी ही होती है क्योंकि यह तो धर्मयुद्ध है। ये सिद्धान्त तो पूरे जगत का कल्याण करने वाले हैं। इनकी हानि हो तो उसे रोकने के लिये कषाय भी करने पड़ते है।

जगत् का भला करने वाले सिद्धान्त जिन्दे रहने चाहिये। जगत् के सभी जीवों का भला सोचना यह सही, परन्तु सर्व कल्याणकारी शासन के सामने कोई शिर ऊंचा करे तो उसके सामने योग्य कदम लेने ही पड़ते हैं।

शक्ति होने पर भी खोटी बातों का विरोध किये बिना हमको चैन नहीं पड़ती, चैन पड़े तो हमारे में साधुपना रहे नहीं। तुमको तो सम्हालने जैसा बहुत है इसलिये तुम्हारा दिमाग ठण्डा रहे। हमारे तो सम्हालने जैसा एक यह धर्मशासन ही है। यह भी यदि न सम्हाले तो हमारे पास दूसरा रहे क्या ? समय आने पर बिरोध करने के लिये ही हम विरोध नहीं करते, विरोध करने की हमारी आदत नही है परन्तु कम भाग्य हैं कि बात-बात में विरोध करना पड़ता है ऐसा काल में हम जन्मे है।

बहुत से ऐसी सलाह देने आते है कि विरोध से क्या होने वाला हैं ? मुझे उनको कहना है कि, भले कुछ न हो, परन्तु योग्य जीवों को तो इसके द्वारा सच्ची समज की प्राप्ति होती ही है और हमको तो निर्जरा ही है। विरोध करने के समय विरोध किया था ऐसा आत्मसन्तोष पाकर शान्ति से मर सकेंगे। शक्ति होने पर भी, अधर्म का विरोध न करे तो, मरते समय समाधि भी नहीं मिलती।

(व्याख्यानवाचस्पति—
प०आ० श्री विजय रामचन्द्र सूरीश्वर जी महाराजा)

अथ पञ्चमोऽध्यायः

आ तुमोऽत्यादिः कृत् ।५।१।१।

धातोर्विधीयमानस्त्यादिवर्जो वक्ष्यमाणः प्रत्ययस्तुमभिव्याप्य कृत् स्यात् । घनघात्यः । अत्यादिरिति किम् ? प्रणिंस्ते ॥१॥

सूत्रे प्रकृतेरनिर्दिष्टतया प्रत्ययस्य नियमतः प्रकृतिसापेक्षत्वात् कृतां प्रकृतिं निर्दिशति—**धातोरिति** कृत्सूत्रे चतुर्थपादप्रान्ते 'शकधृष० ।५।४।९०। सूत्रोक्त तुमभिव्याप्य तुम्प्रत्ययं यावत् कृत्संज्ञा । कृत्संज्ञात्वात् प्रनिदितुम्, प्रणिदितुमित्यत्र 'निसनक्षनिन्दः कृति वा ।२।३।४। सूत्रेण णत्वं सिद्धमन्यथा 'अदुरुप० ।२।३।७७। सूत्रेण नित्यं णत्वं स्यात् । **घनघात्य** इति—'हनंक् हिंसागत्योः' घनेन हन्यते इति 'ऋवर्णव्यञ्जनाद् घ्यण् ।५।१।१७। सूत्राद् घ्यण्, 'ञ्णिति घात्' ।४।३।१००। सूत्राद् हनो घातादेशः, 'कारकं कृता ।३।१।६८। सूत्रात्समासः । **प्रणिंस्ते इति**—'णिसुकि चुम्बने' इति प्रपूर्वस्य निस्धातोस्तेप्रत्यये णोपदेशत्वात् 'अदुरुपसर्गा० ।२।३।७७। सूत्रात् णत्वम् । अत्र तेप्रत्ययस्य कृत्संज्ञायां 'निस-निक्ष० ।२।३।८४। सूत्रात् विकल्पेन णत्वाप्त्तेरिति भावः ॥१॥

बहुलम् ।५।१।२।

कृन्निर्दिष्टार्थादन्यत्रापि बहुलं स्यात् । पादहारकः, मोहनीयं कर्म, संप्रदानम् ॥२॥

अधिकारोऽयम् । सर्वेषां कृत्प्रत्ययानां बाहुलकेन विधानार्थमिदमधिकार सूत्रं क्रियते । बाहुलकं चतुर्धोक्तं प्राचीनैः—

क्वचित्प्रवृत्तिः, क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा, क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चातुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

एषु क्वचिदन्यदेवेति तृतीयबाहुलकाभिप्रायेण सूत्रमिदं व्याचष्टे कृन्निर्दिष्टार्थादन्यत्रापीति । क्वचिदुपपदप्रकृतीनामपि व्यभिचारः यथाप्रयोगमूहनीयः । इह तु अर्थस्य व्यभिचारं दर्शयति पादाभ्यां ह्रियते इति **पादहारकः** 'णकतृचौ ।५।१।४८ सूत्रात् णकः, 'कारकं कृता ।३।१।६८। सूत्रात्समासः । कर्तरि ।५।१।३। सूत्रात्कर्तरि विधीयमानो ऽपि णकप्रत्ययः कर्मणि भवति । मुह्यतेऽनेनात्मेति—मोहनीयं कर्म । 'मुहौच् वैचित्त्ये' वैचित्त्यमविवेकः, मुह्यति सदसद्विकलो भवत्यात्मा अनेनेति 'तव्यानीयौ ।५।१।२७। सूत्रादनीयप्रत्ययः । ते कृत्याः ।५।१।४७। सूत्रादनीयप्रत्ययस्य कृत्यसंज्ञायां 'तत्साप्याना० ।३।३।२१। सूत्रात्प्रत्ययः सकर्मकात्कर्मणि अकर्मकाच्च भावे भवति । सत्यप्येवं बाहुलकात् मोहनीयमित्यत्र करणेऽनीयप्रत्ययो भवति । संप्रदीयतेऽस्मा इति—**संप्रदानम्** अत्र बाहुलकात्संप्रदानेऽनट्प्रत्ययो भवति ॥२॥

कर्तरि ।५।१।३।

कृदर्थविशेषोक्तिं विना कर्तरि स्यात् । कर्त्ता ॥३॥

'अनिर्दिष्टार्थप्रत्ययस्य स्वार्थे विधानमिति सामान्यनियमात् धातोः स्वार्थे भावे क्रियायां मा भूदिति तेषामर्थनिर्देशार्थमिदं सूत्रम् ॥३॥

व्याप्ये घुरकेलिमकृष्टपच्यम् ।५।१।४।

घुरकेलिमौ प्रत्ययौ कृष्टपच्यश्च व्याप्ये कर्तरि स्युः भङ्गुरं काष्टम् । पचेलिमा माषाः । कृष्टपच्याः शालयः ॥४॥

व्याप्ये कर्तरीति—व्याप्यं कर्मैव यत्र कर्ता, यत्र कर्मैव सौकर्यादिना कर्तृत्वेन विवक्ष्यते तत्रेति भावः । पूर्वसूत्रेणानिर्दिष्टानां प्रत्ययानां कर्तरि विधानात् घुरादेरपि तथाभूतत्वात्कर्तरि विहितत्वमाशङ्क्यानेन सूत्रेण तेषामर्थनिर्देशः कृतः । भनक्ति काष्ठं चैत्रः, स एवं विवक्षति, नाहं भनज्मि, किन्तु भज्यते स्वयमेव काष्ठम् 'भञ्जिभासि० ।५।२।७४ सूत्रेण घुरप्रत्ययः । पच्यन्ते स्वयमेवेति कर्मकर्तरि केलिमप्रत्ययः । केलिमस्य सूत्रान्तरेण

विधानाभावात् केलिमोऽत एव वचनाद् ज्ञातव्यः । 'विहाविशा, उणा० ३५४ इति केलिमस्तु नियतधातुविषयः, अयं तु सर्वधातुविषयः । कृष्टे कृष्टप्रदेशे स्वमेव पच्यन्ते फलन्ति ते कृष्टपच्याः शालयः ॥४॥

संगतेऽजर्यम् ।५।१।५।

संगमनं संगतम्, तस्मिन् कर्तरि नञ्पूर्वात् जॄषो यो निपात्यते । अजर्यम् आर्यसंगतम् । संगत इति किम् ? अजरः पटः ॥५॥

गत्यर्थाद् धातोः कर्तरि कर्मणि च क्तप्रत्ययस्य विधीयमानतया तादृशप्रत्ययान्तस्य संगतशब्दस्य ग्रहणं मा भूदित्येतदर्थं क्तप्रत्ययस्य भावार्थत्वं स्फोरयति संगमनं संगत मिति । एतत् यत्र कर्तृत्वेन विवक्ष्यते तत्र इति भावः । न जीर्यतीति-अजर्यमार्यसंगतम्: अविनश्वर आर्यसंगम इत्यर्थः । तृजादीनामपवादः । क्र्यादिकस्य जॄशो निपातनमदृष्टमत जॄषच् जरसीति दिवादि ग्रहणात् न जीर्यतीति साधनिका । **अजरः पटः**—न जीर्यतीत्यच् ॥५॥

रुच्याऽव्यथ्यवास्तव्यम् ।५।१।६।

एते कर्तरि निपात्यन्ते । रुच्यः, अव्यथ्यः वास्तव्यः ॥६॥

रोचते इति रुच्यः मोदकः । न व्यथते पीडा भयं वा नोत्पादयति स **अव्यथ्यो मुनिः । वसतीति तव्यणि णित्वादुपान्त्यवृद्धौ वास्तव्यः** रोचतेः, नञ्पूर्वाद् व्यथतेश्च क्यप्प्रत्ययो निपात्यते,वसतेश्च तव्यण् निपात्यते ॥६॥

भव्यगेयजन्यरम्यापात्याप्लाव्यं नवा ।५।१।७।

एते कर्तरि वा निपात्यन्ते । भव्यः, गेयः साम्नाम्, जन्यः, रम्यः, आपात्यः, आप्लाव्यः । पक्षे-भव्यम्, गेयानि सामानि, जन्यम्, रम्यम्, आपात्यम्, आप्लाव्यम् ॥७॥

'तत्साप्या० ।३।३।२१। सूत्रात्कृत्यप्रत्ययानां भावकर्मणोः प्राप्तयोः पक्षे कर्तरि विधानार्थमिदम् । भूगायतिरमयतिभ्यो यो यः प्रत्ययः यश्च जनेरःङ्पूर्वाभ्यां च पतिप्लुभ्यां घ्यण् स कर्तरि वा निपात्यन्ते । भवत्यसाविति–भव्यः 'य्यक्ये ।१।२।२५। सूत्रादवादेशः । पक्षे भावे ये भव्यम् । गायति इति कर्तरि ये आकारस्य एकारे गेयः साम्नाम् । पक्षे गीयन्ते इति कर्मणि ये गेयानि सामानि । जायतेऽसाविति कर्तरि घ्यणि 'न जन० ।४।३।५४। सूत्राद् वृद्धिनिषेधे जन्यः, पक्षे भावे ऋवर्ण० ।४।१।६७। इति घ्यणि जन्यम् । रमयतीति कर्तरि घ्यणि णिलोपे रम्यः, पक्षे रम्यते इति भावे 'शकितकि० ।५।१।२९। सूत्रेण यप्रत्यये रम्यम् । आपततीति कर्तरि उपान्त्यवृद्धौ आपात्यः । पक्षे भावे-आपात्यम् । आप्लवते इति कर्तरि घ्यणि आप्लाव्यः, पक्षे भावे अवश्यमाप्लूयते इति 'उवर्णादा० ।५।१।१९। सूत्रेण घ्यण्, वृद्धिः, 'य्यक्ये ।१।२।२५। सूत्रेण आवादेशः ॥७॥

प्रवचनीयादयः ।५।१।८।

एतेऽनीयप्रत्ययान्ताः कर्तरि वा निपात्यन्ते । प्रवचनीयो गुरुः शास्त्रस्य । प्रवचनीयं गुरुणा शास्त्रम् । उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः । उपस्थानीयः शिष्येण गुरुः ॥८॥

प्रवक्ति, प्रब्रूते वा **प्रवचनीयः गुरुः शास्त्रस्य** । उपतिष्ठते इति **उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः** । अत्र अकर्मकस्यापि स्थाधातोरुपसर्गवशात्सकर्मकत्वं ज्ञेयम् । एवं ज्ञानामावृणोति ज्ञानावरणीयमित्यादि अनेन निपातनाद् द्रष्टव्यम् ॥८॥

श्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजॄभजेः क्तः ।५।१।९।

एभ्यः क्तो यो विहितः स कर्तरि वा स्यात् । आश्लिष्टः कान्तां चैत्रः । आश्लिष्टा कान्ता चैत्रेण । अतिशयितो गुरुं शिष्यः । अतिशयितो गुरुः शिष्यैः । उपस्थितो गुरुं शिष्यः । उपस्थितो गुरुः शिष्यैः । उपासिता गुरुः शिष्यैः । उपासिता गुरुं ते, उपासितो गुरुस्तैः, अनूषिता

गुरुं ते, अनूषितो गुरुस्तैः । अनुजातास्तां ते, अनुजाता सा तैः । आरूढोऽश्वं सः । आरूढोऽश्वस्तैः । अनुजीर्णास्तां ते, अनुजीर्णा सा तैः । विभक्ताः स्वं ते, विभक्तं स्वं तैः ॥६॥

क्तप्रत्ययस्य भावकर्मणोरेव विधानादेभ्यः कर्तरि इष्टस्य क्तस्याप्राप्तेः विधानार्थमिदम् । 'श्लिषंच् आलिङ्गने' आश्लिष्यति स्म कर्तरि क्ते **आश्लिष्ट** इति । पक्षे कर्मणि आश्लिष्टा कान्ता चैत्रेण । भावे तु आश्लिष्टं चैत्रेण इत्यपि भवति । शीङ् स्वप्ने अतिशेते स्मेति कर्तरि **अतिशयितो गुरुं शिष्यः**, कर्मणि अतिशयितो गुरुः शिष्यैः 'न डीङ्० ।४।३।२७। सूत्रात्कित्त्वप्रतिषेधाद् गुणः । उपतिष्ठते स्मेति कर्तरि-**उपस्थितो गुरुं शिष्यः ।कर्मणि उपस्थितो** गुरुः शिष्यैः । अत्र 'दोसोमा० ।४।१।११। सूत्रादाकारस्येकारः । आसिंक् उपवेशने इतिआस्धातोः उपास्ते स्मेति कर्तरि **उपासितो गुरुं शिष्यः** । कर्मणि उपासितो गुरुस्तैः । **तैरि**त्यस्य स्थाने तेनेति समीचीनं प्रतिभाति । अनुवसति स्मेति कर्तरि **अनूषिता गुरुं** ते । कर्मणि **अनूषितो गुरुस्तैः** । अत्र 'यजादिवचेः किति' ।४।१।७९। सूत्रात् य्वृत् उकारः, 'क्षुधवसस्तेषाम् ।४।४।४३। सूत्रादिट्, 'घस्वसः' ।२।३।३६। सूत्रात् सस्य षत्वम् । अनुजायन्ते स्मेति कर्तरि क्ते 'आः खनि-सनि-जनः ।४।२।६०। सूत्रादात्त्वे **अनुजातास्तां ते** । कर्मणि अनुजाता सा तैः । रुहं जन्मनि' आरोहति स्मेति कर्तरि क्ते **आरूढोऽश्वं भवान्** । कर्मणि **आरूढोऽश्वस्तैः** । अत्र हस्य ढः, तस्य धः, धस्य ढः, पूर्वढलोपो दीर्घश्च । 'जृष् च् जरसि' अनुजीर्यन्ति स्मेति कर्तरि क्ते 'ऋवर्णश्र्यू० ।४।४।५७। सूत्रादिट्-प्रतिषेधे 'ॠल्वादे० ।४।२।६८। सूत्रात् क्तस्य नेः इरादेशे दीर्घे च **अनुजीर्णास्तां ते** । अनुप्राप्य जीर्णा इत्यर्थः । कर्मणि **अनुजीर्णा सा तैः** । अनुपूर्वको जॄ प्राप्त्युपसर्जने जरणे वर्तते, जनिस्तु जननोपसर्जनायां प्राप्ताविति भेदः । भजीं सेवायाम् विभजन्ति स्मेति कर्तरि **विभक्ताः स्वं ते** । कर्मणि विभक्तं स्वं तैः । स्वं धनम् । **अकर्मका अपि धातवः उपसर्गसम्बन्धात् सकर्मका भवन्ति इति शीङादिग्रहणम्, अन्यथाऽकर्मकत्वात् 'गत्यर्थाकर्मक० ।५।१।११। सूत्रेणैव सिद्धम् । श्लिषभजी केवलावपिसकर्मकौ ।** फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम्, फलव्यधिकरण व्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम् । यत्र फलव्यापारौ पृथक् पृथक् तिष्ठतः सः धातुः सकर्मकः, यथा भूधातो=फलमात्मधारणं व्यापारश्च तदनुकूलो यत्नः उभावेकत्रैव कर्तरि तिष्ठतः **देवदत्तो भवतीति** । पचधातोः फलं

विक्लित्तिः व्यापारश्च तदनुकूलो यत्नः उभौ पृथक्, पृथक् तिष्ठतः, फलमोदने, व्यापारश्च कर्तरि देवदत्ते, ओदनं पचति देवदत्त इत्यत्र। भूधातुरकर्मकः, पचधातुः सकर्मकः। उपसर्गेण धात्वर्थो भिद्यते अत एवाकर्मका अपि उपसर्गवशाद् सकर्मका भवन्ति । उक्तश्चोपसर्गवशाद् धात्वर्थभेदः यथा—

उपसर्गेण बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहारसंहार विहारपरिहारवत् ॥

यथा भूधातोरपि 'चैत्र आनन्दमनुभवति' इत्यत्रानूपसर्गवशात्सकर्मकत्वम् ॥९॥

आरम्भे ।५।१।१०।

आरम्भार्थाद् धातोर्भूतादौ यः क्तो विहितः स कर्तरि वा स्यात् । प्रकृताः कटं ते, प्रकृतः कटस्तैः ।१०॥

आदिशब्दात् वर्तमानाभविष्यत्योः परिग्रहः 'ज्ञानेच्छा० ।५।२।९२। 'कषोऽनिटः ।५।३।३। इत्यादिसूत्रेभ्यो वर्तमानाभविष्यदर्थे क्तो विधीयते । यथा ज्ञातुमारब्धः=प्रज्ञातः । कषिष्यतीति=कष्टम् । प्रकुर्वन्ति कटं ते= **प्रकृताः कटं ते** । अत्र प्रशब्दः आरम्भमादिकियां द्योतयति । पक्षे कर्मणि प्रकृतः कटस्तैः ॥१०॥

गत्यर्थाकर्मक पिबभुजेः ।५।१।११।

भूतादौ यः क्तो विहितः स एभ्यः कर्तरि वा स्यात् । गतोऽसौ ग्रामम्, गतोऽसो तैः । आसितोऽसौ, आसितं तैः पीताः पयः, पीतं पयः । भुक्तास्ते, इदं तैर्भुक्तम् ॥११॥

गच्छति स्मेति कर्तरि क्ते **गतोऽसौ ग्रामम्**। गम्यते स्मेति कर्मणि क्ते **गतोऽसौ तैः**। आसिक् उपवेशने आस्ते स्मेति कर्तरि क्ते इटि च आसि-

तोऽसौ। भावे तु आसितं तैः। पिबेति निर्देशात् 'पां पाने' इत्यस्यैव पाधातोर्ग्रहणम्, पिबन्ति स्मेति कर्तरि क्ते **पीता पयः**। पीयते स्मेति कर्मणि क्ते **पीतं पयः**। भुञ्जते स्मेति कर्तरि क्ते **भुक्तास्ते**। भुज्यते स्मेति कर्मणि **इदं तैर्भुक्तम्**। सकर्मका अप्यविवक्षितकर्माणोऽकर्मका भवन्तीति अविवक्षितकर्मणामपीह अकर्मकशब्देन ग्रहणम्। अविवक्षितकर्मभ्यो नेच्छन्त्येके ॥११॥

अद्यर्थाच्चाधारे ।५।५।१२॥

आहारार्थाद् धातोर्गत्यर्थादेश्च यः क्तः स आधारे वा स्यात्। इदमेषां जग्धम्, तैर्जग्धम्। इदं तेषां यातम्, तैर्यातम्। इदमेषां शयितम्, तैः शयितम्। इदं गवां पीतम्, गोभिः पीतम्। इदं तेषां भुक्तम्, इद तैर्भुक्तम् ॥१२॥

अदेरर्थ इव अर्थो यस्य स अद्यर्थस्तस्मात् आहारार्थादित्यर्थः। **गत्यर्थादेश्चेति** 'गत्यर्था० ५।१।११। इति 'अदंक् भक्षणे' अद्यते स्मास्मिन्निन्त्याधारे क्ते **इदमेषां जग्धमिति**। एषामिदं भोजनस्थलमित्यर्थः। पक्षे अद्यते स्मेति **कर्मणि क्ते तैर्जग्धमिति**। 'घसि चादो जग्ध् ।४।४।१६ सूत्रेण जग्धादेशः। शेतेऽस्मिन्निति इदमेषां शयितम्। पिबत्यस्मिमिन्निति-इदं गवां पीतम्। भुङ्क्तेऽस्मिन्निति–इदं तेषां भुक्तम् ॥१२॥

क्त्वातुमम् भावे ।५।१।१३।

एते धात्वर्थमात्रे स्युः। कृत्वा, कर्तुम्। कारंकारं याति ॥१३॥

सूत्रे भावे इति वचनात् कर्त्रादि कारकं निवृत्तम्। कारकनिवृत्तौ सत्यां नवा इत्यपि निवृत्तम्। पूर्वं करणमिति 'प्राक्काले ।५।४।४७ सूत्रात् क्त्व **कृत्वा**। 'क्रियायां क्रियार्थायां तुम्०।५।३।१२। सूत्रात् तुमि **कर्तुं याति**। अभीक्ष्णं करणं पूर्वम् 'ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये ।५।४।४८ सूत्रात् ख्णमि 'भृशा०।७।४।७३। सूत्रात् च कारंकारं याति ॥१३॥

भीमादयोऽपादाने ।५।१।१४।

एतेऽपादाने स्युः । भीमः, भयानकः ॥१४॥

ञिभीं भये बिभेत्यस्मादिति 'भियः षोन्तश्च वा । उणा०३४४। इति किति मप्रत्यये—**भीमः** । बिभेत्यस्मादिति 'शी० उणा० ७१ इत्यानके गुणे च भयानकः ॥ उणादिप्रत्ययान्ताः एते 'संप्रदानाच्चा० ।५।१।१५ सूत्रात् निषेधेनाप्राप्ता निपात्यन्ते ॥ १४ ॥

संप्रदानाच्चान्यत्रोणादयः ।५।१।१५।

संप्रदानादपादानाच्चान्यत्रार्थे उणादयः स्युः । कारुः, कषिः ॥१५॥

कृत्यात्कर्मण्येव प्राप्ताः कर्मादिष्वपि कथ्यन्ते । करोतीति-**कारुः** । अत्र 'कृ-वा० । उणा० १) इत्यनेन उणप्रत्ययः । कषितोऽसाविति कर्मणि **कषिः** । 'कृ-शृ०० । उणा० ६१९ इत्यनेन इःप्रत्ययः ॥१५॥

असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः ।५।१।१६।

इतः सूत्रादारभ्य स्त्रियां क्तिरित्यतः प्राक् योऽपवाद—स्तद्विषयेऽपवादेनाऽ-समान रूप औत्सर्गिकः प्रत्ययो वा स्यात् । अवश्यलाव्यम्, अवश्यलवितव्यम् । असरूप इति किम् ? ध्यणि यो न स्यात् । कार्यम् । प्राक्क्तेरिति किम् ? कृतिः, चिकीर्षा ॥१६॥

अपवादेन सह असमान रूपः यः सदृशो न भवति स उत्सर्गप्रत्ययः अपवादविषये वा भवतीति भावार्थः । यो विशेषानभिधानेन विधीयते स उत्सर्गप्रत्ययः, यश्च विशेषस्वरूपेण नियतविषयेण वा विधीयते सोऽपवादप्रत्ययः । **अवश्यलाव्यमिति**—'लूगश् छेदने' धातुः, अवश्यं भावे द्योत्ये भावे कर्मणि वा 'उवर्णादावश्यके ।५।१।१९। सूत्रात् अपवादभूते ध्यणि वृद्धौ 'य्यक्ये ।१।२।२५ सूत्रादौत आवादेशे मयूरव्यंसकादित्वात्समासे 'कृत्ये-

ऽवश्यमो लुक् ।३।२।१३८। सूत्रात् मकारलोपे च सिद्धम् । पक्षे औत्सर्गिकः तव्यप्रत्ययः ॥१६॥

ऋवर्णव्यञ्जनान्ताद् घ्यण् ।५।१।१७।

ऋवर्णान्तात् व्यञ्जनान्ताच्च धातोर्घ्यण् स्यात् । कार्यम्, पाक्यम् ॥१७॥

णकारो वृद्धयर्थः । घकारः 'क्तेऽनिटश्च० ।४।१।१११ सूत्रे विशेषणार्थः । 'तत्साप्यानाप्यात्० ।३।३।२१ सूत्रेण घ्यण्क्यययतव्यानीयाः पञ्च कृत्य-प्रत्ययाः कर्मण्यर्थे भावेऽर्थे च विधीयन्ते । कृधातोः भावकर्मणोरनेन घ्यणि 'नामिनो० ४।३।५१। सूत्राद् वृद्धौ च **कार्यम्** । पच्धातोरनेन घ्यणि 'क्तेऽनिट० ।४।१।११। सूत्राद् चकारस्य ककारे 'ञ्णिति० ।४।३।५० सूत्राद् उपान्त्य वृद्धौ च **पाक्यम्** ॥१७॥

पाणिसमवायाभ्यां सृजः ।५।१।१८।

आभ्यां परात् सृजेर्घ्यण् स्यात् । पाणिसर्ग्या, समवसर्ग्या रज्जुः ॥१८॥

ऋदुपान्त्यक्योऽपवादः पाणिभ्यां सृज्यते सा **पाणिसर्ग्या रज्जुः** । समव-सृज्यते सा **समवसर्ग्या रज्जुः** । समव इति समुदायपरिग्रहार्थं द्विवचनम् ॥१८॥

उवर्णादावश्यके ।५।१।१९।

अवश्यम्भावे द्योत्ये धातोरुवर्णान्तात् घ्यण् स्यात् । लाव्यम् । अवश्यपाव्यम् ॥१९॥

अवश्यस्य भावोऽवश्यं भाव इति वा 'योपान्त्याद्गु० ।७।१।७२ सूत्राद-

दकञि आवश्यकम्, यद्वा निश्चयार्थे 'अवश्यम्' इत्यव्ययं ततो भावे चोरादेः ।७।२।७३। सूत्रादकञि 'कृत्येऽवश्यमो लुक् ।३।२।१३८ सूत्रात् मकारलोपे, ञित्वात् उभयत्र वृद्धिः । **अवश्यपाव्यमिति**—अत्रावश्यंशब्द-प्रयोगस्तु विशेषेण प्रकटनार्थं क्रियते यथा 'द्वौ ब्राह्मणौ' इति । ब्राह्मणा-वित्यत्र विहितेन द्विवचनेनैवे द्वित्वार्थस्योक्तत्वेपि स्पष्टतया द्वित्वंप्रतिपा-दनाय यथा 'द्वौ' इति प्रयुज्यते तथाऽत्रापि अवश्यंशब्दप्रयोगः । अथवा 'व्यतिलुनते' इत्यत्रात्मनेपदेनापि क्रियाव्यतिहारे द्योतिते व्यतिशब्दस्य प्रयोगो भवति तथाऽत्रापि ध्यणाऽवश्यंभावे द्योतितेपि स्पष्टतता प्रकटनार्थ-मवश्यं शब्दप्रयोगः ।नन्वत्रश्यंशब्दस्योपपदत्वाभावेन च कथमत्र समास इति चेत् मयूरव्यसकादित्वासमासः॥१८॥

आसुयुवपि-रपिलपित्रपिडिपि दभि चम्यानमः ।५।१। ०।

आङ्पूर्वाभ्यां सुनम्भ्यां यौत्यादेश्च ध्यण् स्यात् । आसाव्यम्, याव्यम्, वाप्यम्, राप्यम्, लाप्यम्, अपत्राप्यम्, डेप्यम्, दाभ्यम्, आचाम्यम्, आनाम्यम् ॥२०॥

यापवादौ—आद्ययोः स्वरान्तलक्षणोऽन्येषां च पवर्गान्तलक्षणो यो घ्यण-पवादः 'प्राप्तस्तद्बाधनार्थमिदं सूत्रमिति भावः । अत्राभिषवार्थ—सुनोतेरेव ग्रहणम् नान्यस्य एवं मिश्रणार्थकस्य यौतेरेव ग्रहणं न तु बन्धनार्थस्य "युगश्" इत्यस्य 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्ध–कस्य" इति न्यायात् । "सु" प्रसवैश्वययोः 'सुक् प्रसवैश्वर्ययोः "षुग्ट् अभिषवे" इति तत्रान्तिमादापूर्वादनेन ध्यणि वृद्धावावादेशे च आसाव्यम् । एवं "युक् मिश्रणे" इत्यस्य याव्यम् "टुवपीं बीजसन्ताने" अतो घ्यणि उपान्त्यवृद्धौ वाप्यम् । एवं "रप लप व्यक्ते वचने" इत्येतयोः राप्यम्, लाप्यम् "त्रपौषि लज्जायाम्" अपपूर्वस्य त्रपधातोः अपत्राप्यम् । डिपत् क्षेपे" इत्यस्य डेप्यम् ।गणे पाठाभावात् दभिर्हि सौत्रो ग्राह्यः दभिः सौत्रो बन्धने वर्तते । दम्भूट् दम्भे इत्यस्य तु दम्भ्यमिति भवति । आङ्-पूर्वस्य "चम् अदने" इत्यस्य आचाम्यम् यद्यपि नात्रोपसर्गपूर्वकस्यैव ग्रहणमपि तु सामान्यतः सोपसर्गस्यानुपसर्गस्य च तथापि अनुपसर्गस्य ये ध्यणि च न विशेषो ,'मोऽकमि०" ।४।३।५५। इति वृद्धेः निषेधात् ततश्चा-

ङ्पूर्वकस्यैवोदाहरणं दत्तम्। आङ्पूर्वान्नमेः आनाम्यमिति डिपेः कुटादित्वाद् ये गुणो न लभ्यत इति ध्यण विधीयते ॥२०॥

वाऽऽधारेऽमावास्या ।५।१।२१।

अमापूर्वाद्वसतेराधारे ध्यण् धातोर्वा ह्रस्वश्च निपात्यते । अमावस्या । अमावास्या ॥२१॥

अमाशब्दः सहार्थः सह वसतोऽस्यां सूर्याचन्द्रमसाविति अमावस्या यद्यपि सूर्याचन्द्रमसावेकत्र कदापि न वर्तेते इति योगार्थासम्भवः तथापि अनेन रूढ्या तिथिविशे उच्यते-एवम्भूता कृष्णपक्षीया पञ्चदशी तिथिरित्यर्थः ननु ध्यणं कृत्वा पक्षे ह्रस्वनिपातनापेक्षाया वरं विकल्पेन यविधानं, पक्षे च व्यञ्जनान्तलक्षणो घ्यणेव बाहुलकादाधारे भविष्यतीति पाक्षिकह्रस्वनिपातनमनुचितमिति चेत्सत्यं पक्षे यमकृत्वा ह्रस्वनिपातनम् "अश्चामावस्याश्वाः" इत्यत्रैकदेशविकृतस्यानन्यत्वादमावास्याशब्दस्यापि ग्रहणार्थम्-यदि यो विधीयते तर्हि यान्तस्य शब्दान्तरत्वेन अमावास्पाशब्देन ग्रहणं न स्यात् पाक्षिकह्रस्वनिपातने च शब्दान्तरत्वाभावेन किञ्चिद् विकृतेऽपि "एकदेशविकृतमनन्यवत्" इति न्यायेनोभयोर्ग्रहणमिति भावः ॥२१॥

संचाय्यकुण्डपाय्यराजसूयं क्रतौ ।५।१।२२।

एते क्रतावर्थे ध्यणन्ता निपात्यन्ते । संचाय्यः । कुण्डपाय्यः । राजसूयः क्रतु ॥२२॥

संचाय्येत्यादि—आधारे कर्मणि वा निपातनादेवादेशदीर्घत्वे अपि भवतः । संचीयते सोमोऽस्मिन् संचीयते वाऽसाविति संचाय्यः क्रतुः संचेयोऽन्यः सोमो नाम लतात्मकः ओषधिविशेषः स एकत्रीक्रियते यत्रेत्यधिकरणे अथवा संचीयतेऽसाविति कर्मणि एवं कुण्डैः कुण्डाकारैः चमसैः पीयते सोमः सोमलतारसः यत्र, कुण्डैः पीयत इति वा कर्मण्यपि यत्प्रत्यये

क्रतुरेवोच्यते, क्रतोः सोमसाध्यतया सोमस्य पीयमानत्वेन क्रतोरपि पीयमानत्वोपचारात् । ससोमको यागः क्रतुरूच्यते । ससोमके यागे क्रतुशब्दस्य प्रयोगः साम्प्रदायिकःअद्यत्वे च सामान्यतो यागमात्रेऽपि क्रतुशब्दस्य प्रयोगो दृश्यते तन्मूलं चापरादिकोशानां तथाविधशक्तिग्राहकत्वम् । राजा सूयतेऽस्मिन्राज्ञा वा सोतव्य इति-राजसूयः क्रतुः । राजा । लतात्मकःसोमःसूयते कण्डचतेऽस्मिन्निति-अधिकरणे राज्ञा सोतव्य अभिषवद्वारा निष्पादयितव्य इति कर्मणि राज्ञ एव राजसूययज्ञेऽधिकारात् "स्वाराज्यकामो राजा राजसूयेन यजेत" इति श्रुतेः, उभयथा क्रतुरेव वाच्यः । एताः क्रतुबिशेषस्य संज्ञा ।।२२।।

प्रणाय्यो निष्कामासंमते ।५।१।२३।

प्रान्नियो ध्यणायादेशौ स्यातां निष्कामेऽसंमते चार्थे । प्रणाय्यः शिष्यश्चौरो वा ।।२३।।

विषयाभिलाषः काम उच्यते स निर्गतो यस्मात् असम्मतइत्यस्य प्रीतिविषयानर्हइ त्यर्थः । प्रणाय्योऽन्तेवासी विषयेष्वनभिलाष इत्यर्थः । प्रणीयते इति कर्मणि यप्रत्तयः प्रणाय्यः चोरः सर्वलोकासम्मत इत्यर्थः । प्रणेयोऽन्यः ।।२३।।

धाय्यापाय्यसान्नाय्यनिकाय्यमृड्मानहविर्निवासे ।५।१।२४।

एते ऋगादिषु यथासङ्ख्यं ण्यणन्ता निपात्यन्ते । धाय्या ऋक् । पाय्यं मानम् । सान्नाय्यं हविः । निकाय्यो निवासः ।।२४।।

धीयते समिदग्नावनयेति "य एच्चातः" ।५।१।२८। इति ये करणे धाय्या ऋक्, यद्यप्यनया व्युत्पत्त्या याभिः ऋग्भिरग्नौ समित्प्रक्षिप्यते ताः सर्वा अपि धाय्याशब्देन व्यवहर्तव्यतया प्राप्नुवन्ति--तथापि रूढिशब्दत्वाद्धाय्याशब्देन काश्चिदेव ऋच उच्यन्ते । अन्यत्र धेया । मीयते येन तन्मानम् । मीयते येनेति इति करणे घ्यणि पाय्यं मानम् । निपातनादापिद-

स्वादि भवति। मेयमन्यत् । संपूर्वान्नयतेर्हविषि समो दीर्घत्वं च सम्यग्नीयते होमार्थमग्निं प्रति तत् सान्नायं हविर्विशेषः अत्र। कर्मणि प्रत्ययः । अयमपि रूढिशब्दत्वाद्धविर्विशेषे वर्तते संनेयमन्यत् । निपूर्वाच्चिनोतेर्निवासे आदिकत्व च । निकाय्यो निवासः निचेयमन्यत् ॥२४॥

परिचाय्योपचाय्यानाय्यसमूह्यचित्यमग्नौ ।५।२।२५।

एतेऽग्नौ निपात्यन्ते । परिचाय्यः । उपचाय्यः । आनाय्यः । समूह्यः । चित्यो वा ऽग्निः ॥२५॥

पर्युपपूर्वाच्चिनोतेर्घ्यण् आयादेशश्च, परिचीयत इति परिचाय्योऽग्निः । एवमुपचाय्यः । परिचेयः, उपचेयोऽन्यः आङ्पूर्वान्नियतेः कर्मणि घ्यण आयादेशश्च । गार्हपत्यादानीयते इत्यानाय्यो दक्षिणाग्निः, दक्षिणाग्निः, आग्नेयोऽन्यः । अग्नयस्त्रयः श्रौतकर्मणि प्रसिद्धाः गार्हपत्यो दक्षिणाग्निरा-हवनीयश्च, तत्र गार्हपत्याग्निर्नित्यः स हि सर्वदा प्रज्वलितस्तिष्ठति दक्षिणाग्निराहवनीयश्च यथोपयोगं गार्हपत्यादानीयते वृत्ते कर्माणि निवृत्तिस्तस्येत्यनित्यावेतौ, समुह्यत इति समूह्यः । अन्यः संवाह्यः । समूह्य इत्यत्र कर्मणि व्यञ्जनान्तलक्षणो घ्यण् तु सिद्ध एव केवलं वस्य ऊत्वं निपात्यते । चिनोतेः कर्मणि क्यप् तागमे चित्योऽग्निः, चेयोऽन्यः अत्र स्वरान्तलक्षणो यः उपात्यगुणश्च ॥२५॥

याज्या दानर्चि ।५।१।२६।

यजेः करणदानर्चि घ्यण् स्यात् । याज्या ॥२६॥

दानमत्राग्नौ प्रक्षेपः, दानकाले ऋग् दानर्ग् तस्याम् इज्यतेऽनयेति याज्या । घ्यणो घित्त्वात् "क्तेऽनिटश्चजोः०" ।४।१।१११। इति प्राप्तस्य गस्य "त्यजयज०" ।४।४।११८। इतिनेन निषेधः । घ्यणः प्राप्तत्वेऽपि करणेऽर्थे निपातनम् । याज्या नाम ऋचो वाक्यसमुदायरूपा । ताभिर्हूयते । ऋच व्यञ्जनान्तलक्षणस्य घ्यणः बाहुलकाद् यथायोगमुचितेष्वर्थेषु प्रयोगौ

भविष्यतीति किमनेनेति वाच्यं बाहुलकस्यागतिकगतिरूपतया तदाश्रयणस्य यथासंभवं वर्जनीयत्वात् ॥२६॥

तव्यानीयौ ।५।१।२७।

एतौ धातोः स्याताम् । कर्त्तव्यः । करणीयः ॥२७॥

कर्तव्यः करणीय इति अत्र घ्यण्विषये वोत्सर्गप्रवृत्तिः। "तत्साप्या०" ।३।३।२१। इति सूत्रेण कृत्यप्रत्ययाः सकर्मकात् कर्मणि, अकर्मकादविवक्षितकर्मकाच्च भावे भवन्ति ॥२७॥

य एच्चातः ।५।१।२८।

स्वरान्ताद्धातोर्यः स्यात् । आत एच्च । चेयम् । नेयम् । देयम् । धेयम् ॥२८॥

ऋवर्णव्यञ्जनान्तात् घ्यणो विहितत्वात् परिशिष्टात् स्वरान्तात् धातोर्यः प्रत्ययो भवति ॥२८॥

शकितकिचतियतिशसिसहियजिभजिपवर्गात् ।५।१।२९।

एभ्यः पवर्गान्ताच्च यः स्यात् । शक्यम् । तक्यम् । चत्यम् । यत्यम् । शस्यम् । यज्यम् । भज्यम् । तप्यम् । गम्यम् ॥२९॥

घ्यणोऽपवादः । यजेः "त्यजयज-प्रवचः" ।४।१।११८। इति प्रतिषेधात् भजेश्च बाहुलकाद् घ्यणपि याज्यम्, भाग्यम् ॥२९॥

यमिमदिगदोऽनुपसर्गात् ।५।१।३०।

एभ्योऽनुपसर्गेभ्यो यः स्यात् । यम्यम् । मद्यम् । गद्यम् । अनुपसर्गादिति किम् । आयाम्यम् ॥३०॥

मद्गद्धातुभ्यां व्यञ्जनान्तलक्षणस्य घ्यणो बाधनार्थं यमः पवर्गान्तत्वासिद्धे नियमार्थं वचनम् । अनुपसर्गादेव यथा स्यात् बहुलवचनान्माद्यत्यनेनेति—मद्यं करणेऽपि, नियम्यमिति च सोपसर्गादिति ॥३०॥

चरेराङस्त्वगुरौ ।५।१।३१।

अनुपसर्गाच्चरेराङ् पूर्वात्त्वगुरौ यः स्यात् । चर्यः । आचर्यो देशः । अगुराविति किम् । आचार्यः ॥३१॥

तुग्रहणात् पूर्वसूत्रात् 'अनुपसर्गात्' इत्यपि सम्बध्यते, **आचार्य इति**—आचारेषु साधु, आचार्यते आगमार्थकाङ्क्षिभिः शिष्यैः विनयादिमर्यादया सेव्यते इति वा आचार्यः ।

धर्मज्ञो धर्मकर्ता च सदा धर्मपरायणः ।
सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते ॥
पञ्चमहाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥

इत्यादिरीत्या विविधानि लक्षणानि । गुरुशब्दो व्यापकः, आचार्यशब्दो व्याप्यः यथा चागुरावित्यनुपादाने गुरावपि आचर्य इति स्यात् न त्वाचार्य इति ॥३१॥

वर्योपसर्यावद्यपण्यमुपेयर्तुमतीगर्ह्यविक्रेये ।५।१।३२।

एते उपेयादिषु यथासङ्ख्यं यान्ता निपात्यन्ते । वर्या कन्या । उपसर्या गौः । अवद्यं गर्ह्यम् । पण्या गौः ॥३२॥

वर्येत्यादि—अत्र द्वयोः ऋवर्णान्तत्वेन पणेश्च व्यञ्जनान्तत्वेन घ्यणि

प्राप्ते, वदश्च "नाम्नो वदः०" ।५।१।३५। इति व क्यपि प्राप्तेऽर्थविशेषेषु यप्रत्ययस्य विधानार्थं निपातनमिदम् । उक्तञ्च

धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च ।
अनुबन्धविकाराणां, रूढ्यर्थं च निपातनम् ।

धातुसाधनकालानां नियमस्य अनुबन्धविकाराणां च प्राप्त्यर्थं रूढ्यर्थं च निपातनम् । यो धातुर्यत्रार्थे न दृष्टस्तत्र तत्र प्रयोगार्थं यस्मिन् साधने कारके यः प्रत्ययो न दृष्टस्तत्र विधानार्थं यस्मिन् काले च यः प्रत्ययो दृष्टस्तत्रापि प्राप्त्यर्थम् यस्मिन् प्रत्यये योऽनुबन्धो न दृष्टस्तन्निमित्तक-कार्यप्राप्त्यर्थम्, अर्थविशेषे रूढ्यर्थं च निपातनमिति । एतदुदाहरणानि यथाशास्त्रमुन्नेयानि । अत्र वदेर्यस्य पाक्षिकप्राप्तिसत्त्वेऽप्यर्थविशेषे तस्य नियमार्थं निपातनम् । "वृङ्श् संभक्तौ" वृधातोरनेन ये गुणे च वर्या उपेया चेत्तदा प्राप्तुं योग्येत्यर्थः । **उपसर्या गौरिति**—उपपूर्वात्सृधातोः अनेन य प्रत्यये गुणे च उपसर्या निपात्यते कदा ? ऋतुमती चेत् गर्भाधानार्थं वृषभेनोपगन्तुं योग्येति भावः **अवद्यं** गर्ह्यमिति नञ्पूर्वाद् वदेर्य **अवद्य-मिति** कदा गर्ह्यं **चेत्तदा** गर्ह्यं**मवाच्यमित्यर्थः** । "पणि व्यवहारस्तुत्योः" तत्र व्यवहारार्थेऽनेन यो निपात्यते पण्या गौः—विक्रेयेत्यर्थः ।।३२।।

स्वामिवैश्येऽर्यः ।५।१।३३।

अर्त्तेः स्वामिवैश्ययोर्यः स्यात् । अर्यः स्वामी वैश्यो वा । आर्योऽन्यः ।।३३।।

ऋ प्रापणे च, चकाराद् गतौ । ऋवर्णान्तलक्षणो घ्यण् प्राप्तस्तदपवादाय अर्थविशेषयोश्च नियन्त्रणाय निपातनमिदम् । ऋधातोरनेन ये गुणे च अर्यः । **आर्योऽन्य इति** अयं च शब्दो यथेच्छं श्रेष्ठे जनेऽभिगन्तव्यरूपमर्थ-मादाय प्रयुज्यते ।

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ।।

इति वशिष्टस्मृत्या परिभाषित आर्यशब्दः । "महाकुलकुलीनार्यसभ्य-सज्जनसाधवः" इति च कोशेन कुलीनेऽर्थे आर्यशब्दस्य शक्तिर्व्यवस्था-पिता ।।

वह्यं करणे ।५।१।३४।

वहेः करणे यः स्यात् । वह्यं शकटम् ॥३४॥

वहेर्व्यञ्जनान्तलक्षणो घ्यण् कर्मणि प्राप्तस्तद्बाधनायार्थविशेषेऽस्य नियन्त्रणाय चेदमपि निपातनम् तथा चान्यत्र कर्मणि वाह्यमित्येव भवति ॥३४॥

नाम्नो वदः क्यप्च ।५।१।३५।

अनुपसर्गान्नाम्नः परात्वदेः क्यप्–यौ स्याताम् । ब्रह्मोद्यम् । ब्रह्मवद्यम् । नाम्न इति किम् । वाद्यम् । अनुपसर्गादित्येव । प्रवाद्यम् ॥३५॥

ब्रह्मणो वदनमिति क्यपि य्वृति ब्रह्मोद्यम् ये तु ब्रह्मवद्यमिति । ककारः कित्कार्यार्थः कित्कार्यं गुणाभावो य्वृत्त्वं च । पकारः उत्तरत्र तागमार्थः इह फलाभावेऽप्यग्रे तस्य फलसत्त्वेन, तत्र पुनरुच्चारणे गौरवाल्लाघवानुरोधेनेहैवोभयानुबन्धसहित उच्चारितः इति ॥३५॥

हत्याभूयं भावे ।५।१।३६।

अनुपसर्गान्नाम्नः परौ हत्याभूयौ भावे क्यबन्तौ साधू स्तः । ब्रह्महत्या । देवभूयं गतः । भाव इति किम् । श्वघात्या सा ॥३६॥

ब्रह्मणो वधः-ब्रह्महत्या । देवस्य भावं गतः-देवभूयं गतः-देवत्वं गतः इत्यर्थः । **भाव इति किमिति**—ननु निपातनसामर्थ्यादेव भाव एव भविष्यतीति प्रश्नः कृतः । निपातनं हि घ्यणो बाधनार्थं तकारादेशविधानार्थं चावश्यकमिति तत्सामर्थ्येन भावार्थो वक्तुमशक्य इति भाव इत्यस्यावश्य-

कत्वम् प्रत्युदाह्रियते-**श्वघात्या सेति** अत्र शुना हन्यत इति 'ऋदर्णव्यञ्जनाद् घ्यण्' ।५।१।१७। इति कर्मणि घ्यण् "ञ्णिति घात्" ।४।३।१०० इति घातादेशः "कारकं कृता" ।३।१।६८। इति समासः । अत्र हन्तेरेव प्रत्युदाहरणमुक्तं न तु भवतेः, तस्याकर्मकतया ततो भाव एव प्रत्ययः स्यात् । न च "भूण् अवकल्कने" इति चौरादिकः सकर्मको भवतीति ततः कर्मणि स्यादिति वाच्यं धातुपाठे प्रथमोपस्थितत्वेन प्रसिद्धत्वेन च सत्तार्थकस्यैव भवतेरिह ग्रहणात् ॥३६॥

अग्निचित्या ।५।१।३७।

अग्नेः पराच्चेः स्त्रीभावे क्यप् स्यात् । अग्निचित्या ॥३७॥

अग्ने पराच्चिनोतेः स्त्रीभावे क्यप् निपात्यते-अग्नेश्चयनम् अग्निचित्या । अत्र कित्वाद् गुणाभावः, पित्वात्तागमः । ॥३७॥

खेयमृषोद्ये ।५।१।३८।

एतौ क्यबन्तौ साधू स्तः । निखेयम् । मृषोद्यम् ॥३८॥

अनुपसर्गादिति वाच्यः इति च निवृत्तम् । खन्यते इति खेयम् । अत्र निपातनस्य न खेयमात्रप्रयोजनमपि तु खनेर्ध्यणो बाधोऽन्त्यस्वरादेरेत्वविधानं च, तेनोपसर्गपूर्वादपि भवतीत्याह-**निखेयमिति** मृषोद्यते इति नित्यं क्यपि मृषोद्यम् 'नाम्नो वदः क्यप् च' ।५।१।३५। इत्यनेन पक्षे यः प्राप्तः तद्बाधनार्थं निपातनम् । नच निपातार्थकत्वेनास्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रेण योगविभागो वृथा इति वाच्यम् नात्र भाव एवेति योगविभास्य करणात् । खेयस्यापि कर्मणि प्रवृत्ति सकर्मकत्वात् तथा मृषोद्यस्यापि कर्मणि प्रवृत्तिः । अतश्च विशेष्यनिघ्नत्वमेतयोः शब्दयोः, भावे च सति क्लीबत्वमेव स्यात् । ॥३८॥

कुप्यभिद्योध्यसिध्यतिष्यपुष्ययुग्याज्यसूर्यं नाम्नि ।५।१।३९।

एते क्यबन्ता संज्ञायां निपात्यते । कुप्यं धनम् । भिद्यम् । उध्यः नदः । सिध्यः । तिष्यः । पुष्यः । युग्यं वाहनम् । आज्यं घृतम् । सूर्यो रविः ॥३९॥

गुपौ रक्षणो गोपाय्यते तत् **कुप्यं** धनमिति सामान्योक्तावपि कुप्यशब्देन स्वर्णरजताभ्यामन्यद् धनमुच्यते स्वोपज्ञधातुपारायणे तथाभिधानात् । तत्र "गुपच् व्याकुलत्वे" इत्यस्यापि कुप्यमिति साधितम् । निपातनात् धनेऽर्थे क्यप् आदिकत्वं च अन्यत् गोपाय्यं अत्र स्वरान्तलक्षणो यः पूर्वाकारस्य लोपश्च । आयप्रत्ययस्य वैकल्पिकत्वेन "शकि-तकि०" ।५।१।२९। इति पवर्गान्तलक्षणे ये गोप्यमित्यपि भवति । **भिद्यमिति**—भिदेरुज्झेश्च नदेऽभिधेये कर्तरि क्यप् भिद् ृपी विदारणे भिनत्ति कुलानि इति भिद्यः उज्झत् उत्सर्गे उज्झत्युदकम् ऊध्यः नदार्थादन्यत्र तृचि् भेत्ता उज्झिता सिधित्विषिपुषिभ्यो नक्षत्रे वाच्येऽधिकरणे क्यप् त्विषेर्वलोपश्च । सिध्यन्ति त्वेषन्ति पुष्यन्ति अस्मिन् कार्याणीति सिध्यः तिष्यः पुष्यः इमे नक्षत्रविशेषवाचकाः अन्यत्र सेधनः, त्वेषणः, पोषणः । अत्र सर्वत्राधिकरणेऽ नट् युजेः कर्मणि वाहनेऽ भिधेये क्यण् गत्वं च । युञ्जन्ति यत्तद् युग्यं वाहनं गजाश्वादि युज्यतेनेनेति युग्यं वाहनम् इति पारायणे करणेऽपि क्यपि साधितम्, योग्यमन्यत् अत्र व्यञ्जनान्तलक्षणे घ्यण् आङ्पूर्वादञ्जेर्घृतेऽर्थे क्यप् । आञ्जन्त्यनेनेति आज्यं घृतम् । संज्ञाया अन्यत्र करणेऽ नटि आञ्जनमिति भवति, सृ गतौ सर्तेः कर्तरि क्यप् ऋकारस्योर् षूत् रणे सुवतेर्वा कर्तरि क्यप् रान्तश्च देवतायाम् सरति सुवति वा कर्मसु लोकानिति सूर्यो रविः ॥३९॥

दृवृगस्तुजेषेतिशासः ।५।१।४०।

एभ्यः क्यप् स्यात् । आदृत्यः । प्रावृत्यः । अवश्यस्तुत्यः । जुष्यः । इत्यः । शिष्यः । ॥४०॥

"दृङ्त् आदरे" वृगिति गकारानुबन्धग्रहणात् "तदनुबन्धग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणम्" इति न्यायेन ङकारानुबन्धकस्य "वृङ्श् संभक्तौ इति

अस्य ग्रहणं न भवत्यतः तत्र ऋवर्णान्तलक्षणो ध्यणेव भवति । ष्टुञ्क् स्तुतौ इति स्तुधातोः अवश्यस्तुत्य इति—अत्रावश्यमो मकारस्य "कृत्येऽवश्यमो लुक्" ।३।२।१३८।इति लुग् भवति ।अत्र आवश्यकेऽर्थे द्योत्ये "उवर्णादावश्यके" ।५।१।१६।इति घ्यण् प्राप्तः सोऽनेन परत्वान्निषिध्यते अयं भावः—स्तुत्य इत्यत्रेदं सावकाशम् अवश्यपाव्यमित्यादौ च 'उवर्णादा०' ।५।१।१६। इति सावकाशं अवश्यस्तुत्य इत्यत्र परत्वादिदमेव प्रवर्तते । प्रकृतसूत्रे एतीति निर्देशेन यस्य, यस्य तादृशं रूपं तस्य तस्य ग्रहणात् । 'इं गतौ' अयति "इंण्क् गतौ एति, इंक् स्मरणे अध्येति, इङ्क् अध्ययने अधीते इत्येषां मध्ये "इंण्क् गतौ" 'इंक् स्मरणे' इत्येतयो ग्रंहणम् इंक् स्मरणे० इङ्क् अध्ययने इत्येतयोः नित्यमधिना योगो भवति । "शासूक् अनुशिष्टौ" अनुशिष्टिर्नियोगः इति शास्धातोः क्यपि "इसासः शासोऽङ्व्यञ्जने" ।४।४।११८। इत्यास इसादेशः सस्य षत्वे च शिष्य इति ।।४०।।

ऋदुपान्त्यादकृपिचृदृचः ।५।१।४१।

ऋदुपान्त्याद्धातोः कृपिचृतिऋचिवर्जात् क्यप् स्यात् । वृत्यम् । अकृपिचृदृच इति किम् । कल्प्यम् । चर्त्यम् । अर्च्यम् ।।४१।।

व्यञ्जनान्तलक्षणध्यणोऽपवादः । वृतूङ् वर्तने इत्यतोऽनेन क्यपि क्त्वादुपान्त्यगुणाभावे-वृत्यम् । कृपौङ् सामर्थ्ये—अस्य पवर्गान्तत्वात् "शकितकि०" ।५।१।२६। इति ये गुणे "ऋरलृलं०" ।२।३।६६। इति लत्वे च कल्प्यम्—चृतैत् हिंसाग्रन्थयोः, ऋचत् स्तुतौ आभ्यां व्यञ्जनान्तलक्षणे घ्यणि उपान्त्यगुणे च चर्त्यम्, अर्च्यमिति ।।४१।।

कृवृषिमृजिशंसिगुहिदुहिजपो वा ।५।१।४२।

एभ्यः क्यप् वा स्यात् । कृत्यम् । कार्यम् । वृष्यम् । वर्ष्यम् । मृज्यम् । मार्ग्यम् । शस्यम् । शंस्यम् । गुह्यम् । गोह्यम् । दुह्यम् । दोह्यम् । जप्यम् । जाप्यम् ।।४२।।

मार्ग्यमिति—पक्षे व्यञ्जनान्तलक्षणो उपान्तगुण घ्यण् "मृजोऽस्य वृद्धिः" ।४।३।४२। सूत्रात् आकारः "क्तेऽनिटः०" ।४।१।१११। इति जस्य गत्वम् च । शस्यमिति—शंसू स्तुतौ च चकाराद् हिंसायाम् अतः क्यप् "नो व्यञ्जनस्या०" ।४।२।४५। इति नलोपश्च । पक्षे व्यञ्जनान्तलक्षणे घ्यणि शंस्यमिति । जपेः विकल्पसामर्थ्यात्क्यबभावपक्षे घ्यणि जाप्यमिति यद्यपि क्यबभावपक्षे पवर्गान्तत्वेन पवर्गान्तलक्षणो यः प्राप्तस्तथापि क्यपि ये वा रूपे विशेषाभावात् विकल्पविधानरूपप्रयोजनस्य सिद्धिं न स्यादिति विशेषविहितमपि यं बाधित्वा घ्यणेव भवतीति भावः ॥४२॥

जिविपून्योर्हलिमुञ्जकल्के ।५।१।४३।

जेर्विपूर्वाभ्यां च पूनीभ्यां यथासङ्ख्यं हलिमुञ्जकल्केषु कर्मसु क्यप् स्यात् । जित्यो हलिः । विपूयो मुञ्जः । विनीयः कल्कः । हलिमुञ्जकल्क इति किम् । जेयम् । विपव्यम् । विनेयम् ॥४३॥

पूश्च नीश्च—पून्यौ, विपूर्वौ=विपून्यौ, जिश्च विपून्यौच जिविपूनि, तस्मात् । जीयते निपुणेन स जित्यो हलिः, महद्धलं हलिरुच्यते । पूङ् पूग् वा विपवितव्यः इति विपूयः, मुञ्जस्तृणविशेषः । रज्ज्वादिकरणाय शोधयितव्य इत्यर्थः । विनीयते सिद्धत्वं प्राप्यते इति विनीयः । आत्मसंस्काराय आत्मन्युत्कर्षाधानाय वा तैलादिषु विनेतव्यः संस्थाप्य इत्यर्थं इति केचित् । कल्कस्तिलकलाचूर्णम् अथवा तैलेन घृतेन वा त्रिफलादिसमवेतेन साध्यः कश्चिदौषधिविशेषः । जेयमित्यादौ सर्वत्र स्वरान्तलक्षणो यप्रत्ययः, गुणश्च, द्वितीये 'य्यक्ये ।१।२।२५। सूत्रात् ओकारस्यावादेशः । जेतुं विपवितुं नेतुं योग्यं किमपि वस्त्विति तदर्थः ॥४३॥

पदास्वैरिबाह्यापक्ष्ये ग्रहः ।५।१।४४।

एष्वर्थेषु ग्रहेः क्यप् स्यात् । प्रगृह्यं पदम् । गृह्याः परतन्त्राः । ग्रामगृह्या, बाह्येत्यर्थः । गुणगृह्या गुणपक्ष्या ॥४४॥

विभक्तत्यन्तं पदम्, अस्वैरी परवशः, बाह्या—बहिर्भवा, पक्ष्यो वर्गः सम्बन्धिजनः । प्रगृह्यते विशेषेण ज्ञायते तत्प्रगृह्य पदम् । अवगृह्य प्रगृह्य च संज्ञाविशेषौ संज्ञिनी चैतयोः विभक्त्यन्त एव, न तु नैयायिकाभिप्रेतं शक्तं पदम् । अयमाशयः—अवगृह्यसंज्ञा वेदे प्रसिद्धा अवगृह्यसंज्ञकपदानन्तरं पदान्तरस्योच्चारणं कियन्तं कालं विरम्य जायते । प्रगृह्यसंज्ञा तु पाणिनीये प्रसिद्धा, यदनन्तरं स्वरसन्धिर्न जायते । यथा 'अग्नी' इति अत्र ईदूदेदद् द्विवचनम् ।१।२।३४। सूत्रादसन्धिः । पाणिनीये तु एतेन सूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञा विधीयते । यद्यपि पदावयवस्य द्विवचनादेः प्रगृह्यसंज्ञा विधीयते न तु पदस्य तथाप्यवयवधर्मस्य समुदाये उपचारात् पदेपि-प्रगृह्यत्वव्यवहार इति । गृह्यन्ते ज्ञायन्ते परतन्त्रतया परवशतया वा इति गृह्याः कामिनः । बाह्या—इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशो लिङ्गान्तरेऽभिधानख्यापनार्थः तेन स्त्रियामेवास्य प्रयोगो भवति न तु पुंलिङ्गादौ । व्यञ्जनान्तलक्षणण्यतोऽपवादोऽयं योगः ॥४४॥

भृगोऽसंज्ञायाम् ।५।१।४५।

भृगोऽसंज्ञायां क्यप् स्यात् । भृत्यः पोष्यः । असंज्ञायामिति किम् । भार्या पत्नी ।४५॥

भृञ् भरणे पोषणे च इति धातोः भ्रियते इति भृत्यः पोष्यः इत्यर्थः । अत्र कर्मणि क्यप् तागमश्च । भ्रियते पोष्यते सा भार्या=पत्नी । यद्यपि संज्ञायाम् 'भृगो नाम्नि ।५।३।६८। सूत्रात् क्यबस्ति तथापि तस्य भावे एव विधानात् भार्येत्यत्र क्यब् न ॥४५॥

समो वा ।५।१।४६।

संपूर्वाद्भृगः क्यप् वा स्यात् । संभृत्यः । संभार्यः ॥४६॥

पूर्वेण सोपसर्गादपि नित्यमेव क्यपि प्राप्ते तस्य पाक्षिकत्वार्थमिदं सूत्रम्, अनेन क्यपि संभृत्यः, पक्षे घ्यणि संभार्यः । इदमप्यसंज्ञायामेव प्रवर्तते

'उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' इति न्यायात् तथा च संज्ञायां संभार्य इत्येव भवति ॥४६॥

ते कृत्याः ।५।१।४७।

घ्यण्तव्यानीययक्यप्प्रत्ययाः कृत्याः स्युः ॥४७॥

प्रसिद्धप्रक्रान्तवाचिना तच्छब्देन प्रक्रान्तानां घ्यणादीनां ग्रहणम् ये च तच्छब्दस्य बुद्धिस्थपरामर्शकत्वं मन्यन्ते तेषामपि मते एतदुचितमेव। संज्ञाविधानं लाघवेन विधिसूत्रप्रवृत्त्यर्थम् यथा कृत्य इति संज्ञाविधानेन 'तत्साप्या० ।३।३।२१। सूत्रेण लघुना कृत्यशब्देन घ्यण-तव्य-अनीय-य-क्यप् 'इत्येषां पञ्चानामपि सकर्मकेभ्यः कर्मणि, अकर्मकेभ्यो भावे च विधानं भवति ॥४७॥

णकतृचौ ।५।१।४८।

धातोरेतौ कर्त्तरि स्याताम् । पाचकः । पक्ता ॥४८॥

णकतृचौ कृत्त्वात्कर्तरि भवतः। णकारो वृद्ध्यर्थकः, चकारः 'त्र्यन्त्यस्वरादेः ।७।४।४३। सूत्रे सामान्यग्रहणाविघातार्थः तेन तत्र तृच्तृनोर्ग्रहणम्, अन्यथा 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' इति न्यायेनास्य निरनुबन्धत्वेऽस्यैव ग्रहणं स्यात् न तु तृनः, उभयोर्निरनुबन्धत्वे भेदो न स्यात्। उभयोर्भेदस्यापि शास्त्रोपयोगितया पृथगनुबन्धकरणस्यावश्यकत्वम् एवं च 'तृन्नुदन्ता० ।२।२।९०। सूत्रे तृन एव ग्रहणं न तु तृचः 'तृन्प्रत्ययश्च तृन् शील० ।५।२।२७। सूत्रेण शीलादिषु सदर्थात् धातोर्भवति। शीलादिप्रत्ययेषु विषयभूतेषु सामान्यतः कर्त्राद्यर्थविहितः औत्सर्गिकः प्रत्ययः प्राप्तोऽपि 'शीलादिषु नासरूपोत्सर्गविधिः इति न्यायेन न भवति तेन अलङ्करिष्णुरित्यादौ शीलाद्यर्थे 'भ्राज्य० ।५।२।२८। सूत्राद् विहितस्य इष्णुप्रत्ययस्य विषये सामान्यार्थविहितत्वात् प्राप्तः 'णकतृचौ ।५।१।४८। सूत्रात् णको न भवतीति शीलाद्यर्थे 'अलङ्कारक' इति प्रयोगो न भवति। ॥ ४८ ॥

अच् ।५।१।४९।

धातोरच् स्यात् । करः । हरः ।।४९।।

कृत्वात् कर्तरि भवति। चकारः 'अचि' ।३।४।१५। इत्यत्र विशेषणार्थः। अयंभावः—चकारानुबन्धेऽकारे परे यङो लुब् इति चकारः प्रत्ययं विशेष यति तेन च 'शंसि—प्रत्ययात् ।५।३।१०५। सूत्रादिना विहितेऽकाररूपे प्रत्यये यङो लुब् न भवति। करोत्यनेनाचि गुणे च करः। एवं हरतीति हरः ।।४९।।

लिहादिभ्यः ।५।१।५०।

एभ्योऽच् स्यात् लेहः । शेषः ।।५०।।

पूर्वेण सिद्धेऽस्यारम्भो बाधक—बाधनार्थः। उत्सर्गतः सर्वत्राच्, तस्य बाधको नाम्युपान्त्यलक्षणः कप्रत्ययः शप्रत्ययो वा, तस्यापि 'लिहादिभ्यः। ।५।१।५०। सूत्रं बाधकं ज्ञेयम्। लिहिंक् आस्वादने लेढीत्यनेनाचि गुणे च लेहः। एवं शिषण् असर्वोपयोगे, शेषयतीति शेषः। उभयत्र 'नाम्यु० ।५।१।५४। सूत्रविहितः कः बाध्यते। नाम्यु० ।५।१।५४। सूत्रम् उत्सर्गभूतस्याच्प्रत्ययस्यापवाद इति यत्नं बिना स निवारयितुमशक्य इति विशेषविधानरूपो यत्नः कृतः। बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।५०।।

ब्रुवः ।५।१।५१।

ब्रूगोऽचि ब्रुवः स्यात् । ब्राह्मणब्रुवः ।।५१।।

ब्रुवो धातोरचि ब्रुव इति निपात्यते अच्प्रत्ययमात्रविधाने नेष्टरूपसिद्धिरतो निपातनमाश्रितम्। निपातनात् ब्राह्मणमात्मानं ब्रूते इत्यर्थविवक्षायां "कर्मणोऽण्" ।५।१।६२। इति सूत्रेणाण् प्राप्तः सो बाध्यते एव "अस्तिब्रुवो० ।४।४।१। इति वचादेशो "नामिनो गुणोऽक्ङिति" ।४।३।१। इति गुण-

श्च बाध्यते अन्यथा गुणे कृतेऽत्रादेशे "ब्रव इति रूपापत्तेः। ब्राह्मणमात्मानं ब्रूते स ब्राह्मणब्रुवः यः केवलमात्मानं ब्राह्मणं कथयति न तु ब्राह्मणेन कर्तव्यं कर्म करोति स ब्राह्मणब्रुव उच्यते उक्तञ्च—

विप्रः संस्कारयुक्तो न नित्यं सन्ध्यादि कर्म चः।
नैमित्तिकं च नो कुर्यात् ब्राह्मणब्रुव उच्यते॥
युक्तः स्यात् सर्वसंस्कारैर्द्विजस्तु नियमव्रतैः।
कर्म किञ्चिन्न कुरुते स ज्ञेयो ब्राह्मणब्रुवः॥
गर्भाधानादिभिर्युक्तस्तथोपनयनेन च।
न कर्मकृन्न चाधीते स ज्ञेयो ब्राह्मणब्रुवः॥
अध्यापयति नो शिष्यान्, नाधीते वेदमुत्तमम्।
गर्भाधानादिसंस्कारैर्युक्तः स्याद् ब्राह्मणब्रुवः॥५१॥

नन्द्यादिभ्योऽन ।५।१।५२।

एभ्यो नामगणदृष्टेभ्योऽनः स्यात्। नन्दनः। वाहनः। सहनः। संक्रन्दनः। सर्वदमनः। नर्दनः॥४२॥

नामगणदृष्टेभ्य इति—नामत्वेन गणे दृष्टेभ्य इत्यर्थः। सप्रत्ययपाठेन येषां धातूनां रूपाणि यदुपसर्गयदुपपदपूर्वाणि वा पठितानि तेभ्यस्तदुपसर्गादिसहितेभ्य एव प्रत्ययो न तूपसर्गान्तरोपपदान्तरादिपूर्वेभ्यः। "टुनदु समृद्धौ" नन्दयतीति नन्दनः पुत्रो देवोद्यानं वा। "वशक् कान्तौ" कान्तिरिच्छा, "वाशिच् शब्दे" वाशयतीति—वाशनो नाम ऋषिः वासनः इति पाठे तु वसं वसण् वसिक् वसूच् इत्येतेषामन्यतमःवासयतीति—वासनो नाम ऋषिः अत्रोभयत्र ण्यन्तात्संज्ञायामनः। सहते इति सहनः अत्र ण्यन्तादसंज्ञायामनः। क्रदु रोदनाह्वनयोः, क्रदुङ् वैक्लव्ये सम: पूर्वात्क्रन्देः संक्रन्दयतीति संज्ञायामने-संक्रन्दनः अत्र संक्रन्दनः इन्द्रः। सर्वं दमयतीति सर्वदमनो नाम राजा अत्र कर्मोपपदात् ण्यन्तात्संज्ञायामनप्रत्ययः, "नर्द शब्दे नर्दतीति—नर्दनः। बहुवचनताकृतिगणार्थम्॥५२॥

ग्रहादिभ्यो णिन् ।५।१।५३।

एभ्यो णिन् स्यात्। ग्राही। स्थायी।॥५३॥

अत्रापि गणे नामान्येव पठितानि गप्रत्ययपाठस्य पूर्वोक्तमेव प्रयोजनम् "ग्रहीश् उपादाने" गृह्णातीति णिनि उपान्त्यवृद्धौ—**ग्राही**। ष्ठां गतिनिवृत्तौ" तिष्ठतीति णिनि—"आत ऐः०" ।४।३।५३। इत्याकारस्य आयादेशे च **स्थायी** ग्रहादिराकृतिगणः ॥५३॥

नाम्युपान्त्यप्रीकृगृज्ञः कः ।५।१।५४।

नाम्युपान्त्येभ्यो धातुभ्यः प्रयादिभ्यश्च कः स्यात्। विक्षिपः। प्रियः। किरः। गिरः। ज्ञः ॥५४॥

ककारः कित्कार्यार्थः—कित्कार्यं च गुणाभाव,इरादेशः, आकारलोपो ख्वृच्च क्षिपंच् ! रणे,"क्षिपींत् रणे"विक्षिप्यति विक्षिपतीति वाऽनेन के'लघोरुपान्त्यस्य।४।३।४।इत्युपान्त्यगुणाभावे–विक्षिपः। "प्रीङ्च् प्रीतौ"प्रीग्श् तृप्तिकान्त्योः" प्रीयते प्रीणातीति वा के "नामिनो गुणो०" ।४।३।१। इति गुणाभावे "संयोगात्"।३।१।५२। इतीयादेशे प्रियः। "कृत् विक्षेपे किरतीति के "ऋतां क्ङितीर्" ।४।४।१६। इत्तीरादेशे किरः। "गृत् निगरणे" निगरणं भोजनम् गिरतीति के इरादेशे "न वा स्वरे"। ।२।३।१०२। इति वा लत्वे गिरः। "ज्ञांश् अवबोधने" जानातीति के "इडेत्पुसि चातो लुक्" ।४।३।९४। इत्याकारलोपे ज्ञः ॥५४॥

गेहे ग्रहः ।५।१।५५।

गेहेऽर्थे ग्रहेः कः स्यात्। गृहम्। गृहाः ॥५५॥

गेहशब्दस्योपपदत्वशङ्कामापकर्तुमाह **गेहेऽर्थे** इति। कर्तरि विहितोऽयं प्रत्ययः कर्तृत्वेन गेहे वाच्य एव भवति न त्वन्यस्मिन् आन्य इत्यर्थः। ग्रहीश् उपादाने अतः के कित्वाच्च य्वृति गृहम्, पुंकित्वलिङ्गोऽयम् पुंसि बहुवचनान्त एव गृहा इति उपचाराद् दारा इत्यर्थः उपचारो लक्षणा तन्मूलानि चालङ्कारिकैरित्थमुक्तानि—

> "तात्स्थ्यात् तथैव ताद्धर्म्यात् तत्सामीप्यात्तथैव च।
> तत्साहचर्यात् ताद्दर्थ्याज्ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः ॥

तत्र दारेषु गृहशब्दस्य तात्स्थ्यात् प्रयोगः, गृहेषु हि ता तिष्ठन्तीति। लक्षणा द्विविधा–प्रयोजनवती निरूढा च प्रयोजनेन यत्र लक्षणाऽऽश्रीयते सा प्रयोजनवती यथा-गङ्गायां घोष इति अत्र गङ्गातीरे घोष इति कथनेन येषां शैत्यपावनत्वादीनामतिशयो न गम्यते तेषामतिशयस्य प्रतिपादनाय लक्षणाऽऽश्रीयते इति सा प्रयोजनवती। अनादितात्पर्यवती निरूढा लक्षणा यथा कुशलशब्दस्य कुशलशब्दस्य कुशग्राहिरूपार्थे व्युत्पन्नस्य चतुरे प्रयोगः। एवं दारेष्वपि गृहशब्दस्य निरूढ एव प्रयोगः।

उपसर्गाद् आतो डोऽश्यः ।५।१।५६।

उपसर्गात्परात् श्येङ्वर्जादाकारान्ताद्धातोर्डः स्यात्। आह्वः। उपसर्गादिति किम्। दायः। अश्य इति किम्। अवश्यायः।
॥ ५६ ॥

ह्वेंग् स्पर्धाशब्दयोः आह्वयतीति–ड "डित्यन्त्यस्वरादेः" ।२।१।११४। इत्याकारलोपे आह्वः। न च पूर्वतोऽनुसृतेन कप्रत्ययेनैव "इडेत्पुसि० ।४।३।९४। इत्याकारलोपे 'इष्टसिद्धिरिति किं डविधानेनेति वाच्यं वृद्-भावार्थं डविधानम्। **दाय इति**—ददातीति "तन्—व्यधीण्०" ।५।१।६४। इति णे "आत ऐः०" ।४।३।५३। इत्याकारस्य ऐकारे आयादेशे च **दायः**। **अश्य इति किमिति**—"तन्—व्यधीण्०" ।५।१।६४। इति णस्य परत्वेऽपि सामान्यत आदन्तेभ्यो विहितत्वेन, अस्य च विशेषत उपसर्गपूर्वकेभ्य आदन्तेभ्यो विहितत्वेन "सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत् इति न्यायादस्य बलवत्त्वमिति णं बाधित्वा ड एव स्यादिति तद्वारणाय अश्य इति कथितम्। "पूर्वेपवादाः अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" इति णो बाध्यते नाण् तेन गोसंदाय इत्यादौ "कर्मणोऽण्" ।५।१।७२। इत्यणेव ।।५६।।

व्याघ्राघ्रे प्राणिनसोः ।५।१।५७।

एतौ यथासङ्ख्यं प्राणिनि नासिकायां चार्थे घ्रो डे निपात्यते।

व्याघ्रः । आघ्रा ॥५७॥

विविधमाजिघ्रतीति व्याघ्रः प्राणी । आजिघ्रतीति आघ्रा नासिका । "उपसर्गादा०" ।५।१।५६। इत्यनेन "स्पर्द्धे" परत्वात् प्राप्तस्य घ्राध्मा०" ।५।१।५८। इति शस्य अपवादोऽयम् ॥५७॥

घ्रा-ध्मा-पा-ट्धे-दृशः शः ।५।१।५८।

एभ्यः शः स्यात् । जिघ्रः । उद्धमः । पिबः । उद्धयः । उत्पश्यः ॥५८॥

जिघ्रतीति–जिघ्रः "श्रौति०" ।४।२।१०८। इति जिघ्रादेशः, उद्धमतीति उद्धमः, घ्राहिसाहचर्यात् 'पा' इति पिबतेर्ग्रहणं न पातेः। पिब इति-पैं शोषणे इत्यस्य पैधातोर्भ्वादित्वेऽपि लाक्षणिकत्वान्न ग्रहणम् । ट्धें पाने। उद्धयतीति-उद्धयः । "दृशृं क्षणे" उत्पश्यतीति शे "श्रौति०" ।४।२।१०८। इति पश्यादेशः ।ट्धेष्टकारो ङ्यर्थः इति टित्वफलस्य धातुतोऽलाभात् नामरूपत्वे एव तस्य फलमिति स्त्रियाम् "अणञेये०" ।२।४।२०। इति ङीप्रत्यये उद्धयी स्त्रीति भवति । टित्वाभावे तु आबेव स्यात् । अन्ये तु उपसर्गादिवेच्छन्ति ते हि प्रकृतसूत्रे 'उपसर्गात्' इत्यनुवर्तयन्ति, एतच्च बहूनामसम्मतम् विनाप्युपसर्गं बहूनां शप्रत्ययानामुपलम्भात् ॥५८॥

साहिसातिवेद्युदेजिधारिपारिचेतेरनुप-सर्गात् ।५।१।५९।

एभ्योऽनुपसर्गेभ्यो ण्यन्तेभ्यः शः स्यात् । साहयः । सातयः । वेदयः । उदेजयः । धारयः । पारयः । चेतयः । अनुपसर्गादिति किम् । प्रसाहयिता ॥५९॥

साहि-साति-वेद्युदेजि-धारि-पारि- चेतेरिति समाहारं कृत्वा निर्देशः नागमस्तु आगमस्यानित्यत्वान्न कृतः लाघवाय समाहारनिर्देशेऽपि प्रत्येकं

प्रत्ययविधानादितरेतरयोगेनार्थमाह—**एतेभ्योऽनुपसर्गेभ्य इति**—'साहि' इत्यादिण्यन्तनिर्देश इत्याह—**ण्यन्तेभ्य इति** 'षहण् मर्षणे' इति चुरादेः स्वार्थे णिचि 'षहि मर्षणे' इति भ्वादेर्वा णिगि वा साहयतीति साहयः। अत्रानेन शे "कर्तर्यनद्भ्यः शव्" ।३।४।७१। इति शवि गुणेऽयादेशे "लुगस्या०" ।२।१।११३। इति पूर्वाकारलोपे च साहयः सोढा साहयिता वेत्यर्थ। सातिः सौत्रो धातुः सूत्रे एव पठितो न धातुपाठे इत्यर्थः। तस्य च सुखमर्थः णिप्रत्ययान्तस्य सूत्रे निर्देशः सातयः सुखयिता इत्यर्थः वाऽ सरूप-न्यायेन शप्रत्ययाभावे क्विपि "सात्" इति रूपं परमात्मनि प्रयुज्यते इति सिद्धान्तकौमुदीकृत्, यद्यपि क्विप् सामान्यतया धातुमात्राद् विहितः शस्तु विशिष्य सातेः।तथा च 'उत्सर्गादपवादः' इति न्यायेन शप्रत्ययेनैव भाव्यमिति 'सात्' इति रूपं दुर्लभं तथापि वाऽ सरूपविधिर्भवतीति क्विपि भवति अत एव सात्वन्तो भक्ता उच्यते सातपरमात्मा भजनीय एषामित्यर्थात्। 'विदिण् चेतनाख्याननिवासेषु' इति चुरादेः स्वार्थे णिगि, "विदक् ज्ञाने" विदिंच् सत्तायाम, 'विद्लृंती लाभे' विदृंपी विचारणे' एषामन्यतमात् णिगि च 'वेदि' वेदयतीति-वेदयः उत्पूर्वात् 'एजृ कम्पने' इत्यतः "एजृङ् दीप्तौ" इत्यतो वा णिगि उदेजयतीति उदेजयः। "धृङ् अविध्वंसने" "धृंग् धारणे" 'धृङ्त् स्थाने' एषामन्यतमात् णिगि धारयतीति धारयः, "पारण् कर्मसमाप्तौ" अतो णिचि पारयतीति पारयः। "चितै संज्ञाने" अतो णिगि 'चितिण् संवेदने' अतः स्वार्थे णिचि वा चेतयते इति-चेतयः। **प्रसाहयितेति** अत्रानुपसर्गत्वाभावान्नास्य प्रवृत्तिः किन्तु तृच् ॥५९॥

लिम्पविन्दः ।५।१।६०।

आभ्यामनुपसर्गाभ्यां शः स्यात्। लिम्पः। विन्दः ॥६०॥

लिपींत् उपदेहे लिम्पतीति शे मुचादित्वान्ने "म्नां धुड्वर्गे०" ।१।३।३९। इति नस्य मे **लिम्पः** "विद्लृंती लाभे" विन्दतीति शे नागमे च विन्दः ॥६०॥

निगवादेर्नाम्नि ।५।१।६१।

यथासङ्ख्यं निपूर्वाल्लिम्पेर्गवादिपूर्वाच्च विन्देः संज्ञायां शः स्यात् । निलिम्पा देवाः । गोविन्दः । कुविन्दः । नाम्नीति किम् निलिपः ॥६१॥

निलिम्पन्तीति **निलिम्पा** देवाः ।गोपत्वात् गा विन्दतीत-गोविन्दः यद्वा वराहरूपेणावतारात् गां भुवं विन्दतीति गोविन्दः ।कुं विन्दतीति कुविन्दः। **निलिप–इति** निलि-म्पतीति नाम्युपान्त्यलक्षण के निलिप इति यौगिकोऽयं शब्दो न संज्ञा ॥६१॥

वा ज्वलादिदुनीभूग्रहास्त्रोर्णः ।५।१।६२।

ज्वलादेर्धातोर्दुनोत्यादेरास्त्रोश्चानुपसर्गाण्णो वा स्यात् । ज्वलः । ज्वालः । चलः । चालः । दवः । दावः । नयः । नायः । भवः । भावः । ग्राहो मकरादिः । ग्रहः सूर्यादिः । आस्रवः । आस्रावः । अनुपसर्गादिति किम् । प्रज्वलः ॥६२॥

'ज्वलादि'इत्येतावता पूर्वविधेः ज्ञानोऽपि कियत्पर्यन्तं धातवो ज्वलादिपदेन ग्राह्या इति शङ्का यदि उतिष्ठेत्तदेदं समाधानं वृत् करणात् षहिपर्यन्ता ज्व–लादयः । 'वृत्' शब्दः समाप्तिसूचकः इति वृत्करणेन च ज्वलादीनामाधि–ज्ञायते । तत्र धातुपाठे वृत् ज्वलादिः" इत्यस्य ज्वलादयो वृत्ताः समाप्ता-इत्यर्थः "ज्वल दीप्तौ" ज्वलतीति अनेन वाणे पक्षेऽचि च रूपद्वयं भवतिव **ज्वलः ज्वालः इति** । "चल कम्पने" इत्यस्य **चलः चालः** । दुनीभ्यां नित्य-मेवेच्छन्त्येके । व्यस्थितविभाषेयम् विविधा प्रयोगानुसारिणी अवस्था सञ्जाता यस्याः सा चासौ विभाषेत्यर्थः तेन जलचरे मकरादौ नित्यं णः सूर्यादिज्योतिषि चाच् प्रत्यय एवेति व्यवस्था ज्ञातव्या । "स्रु गतौ" आस्रवतीति आस्रवः आस्रावः । **प्रज्वल इति**—णो न भवति किन्त्व-जेव ॥६२॥

अवहृसासंस्रोः ।५।१।६३।

अवपूर्वाभ्यां हृसाभ्यां संपूर्वाच्च स्रोर्णः स्यात् । तानः । अवहारः अवसायः । संस्रावः ॥६३॥

अवहारः इति । अवहरतीति णेःवृद्धिः आरादेशश्च ग्राहः इत्यर्थः ।**अवसाय** इति । षोंच् अन्तकर्मणि-अन्तकर्म विनाशः अवस्यतीति णः "आत ऐः कृञ्ञो" ४।३।५३ इत्याकारस्य ऐत्वम् आयादेशश्च संस्राव इति "स्रु गतौ" संस्रवतीति णः वृद्धिरावादेशश्च ॥६३॥

तन्-व्यधीण्-श्वसातः ।५।१।६४।

एभ्य आदन्तेभ्यश्च धातुभ्यो णः स्यात् । तानः । व्याधः । प्रत्यायः । श्वासः । अवश्यायः ॥६४॥

तान इति— "तनूयी विस्तारे" तनोतीति णः उपान्त्यवृद्धिश्च । व्यधंच् ताडने–विध्यतीति **व्याधः** । **प्रत्याय इति**— "इं क् गतौ" प्रत्येतीति णः वृद्धिरायादेशश्च । श्वसक् प्राणने-श्वसितीति **श्वासः** । **अवश्याय इति**— "श्यैङ् गतौ" सन्ध्यक्षरान्तलक्षणे आकारे आकारान्तत्वम् अवश्यायत इति णः अकारस्य ऐकारः, आयादेशश्च ॥६४॥

नृत्-खन्-रञ्जः शिल्पिन्यकट् ५।१।६५।

एभ्यः शिल्पिनि कर्त्तर्यऽकट् स्यात् । नर्त्तकी । खनकः । रजकः । शिल्पिनीति किम् । नर्त्तिका ॥६५॥

शिल्पिनि कर्तरीति—अनेनोपाधित्वं दर्शयन् उपपदत्वमपाकरोति । शिल्पं कर्मकौशलम्, तद्वान् शिल्पी । नर्त्तकीति-पुंसि तु णकेऽपि रूपसाम्यमिति अकटि स्त्रियां ङी भवति णके तु आब् स्यादिति प्रदर्शनार्थं स्त्रियामुदाहृतम् । "खनूग् अवदारणे" खनतीति **खनकः** । "रञ्जीं रागे" रजतीति **रजकः** ।"अकट्घिनोश्च रञ्जेः" ।४।२।५० इति नकारस्थानिनो नस्य लोपः **नर्तिकेति**—नृत्यतीति णके उपान्त्यगुणे "अस्यातत्तत्०" २।४।१११

इत्याकारस्य इकारे नर्तिका । पुंसि प्रयोजनाभावेऽपि स्त्रियां प्रयोजनार्थं सूत्रमिदम् ॥६५॥

गस्थकः ।५।१।६६।

गः शिल्पिनि कर्त्तरि थकः स्यात् । गाथकः ॥६६॥

ग इति—"गैं शब्दे" "गाङ् गतौ" इत्युभयोः "गामादाग्रहणेष्वविशेषः" इति न्यायेन ग्रहणप्राप्तावपि गायतेरेव ग्रहणम्, शिल्पिन्यर्थे अस्य विधानात् गत्यर्थात्परस्य थकस्य शिल्पिनमभिधातुम समर्थतया लक्ष्यानुरोधादिह शब्दार्थकस्य गायतेरेव ग्रहणमिति भावः ॥६६॥

टनण् ।५।१।६७।

गः शिल्पिनि टनण् स्यात् । गायनी ॥६७॥

अत्रापि पूर्ववत् शब्दार्थकस्यैव गायतेः ग्रहणम् । गायनीति—गायति, भवतीति टनण् "आत ऐः०" ।४।३।५३। इति कृतात्त्वस्य सन्ध्यक्षरस्य ऐकारः आयादेशः ङीश्च । ननु पूर्वसूत्रेणैकयोग एव क्रियतां किं पृथग्योगेनेति वाच्यम् पृथग्योग उत्तरार्थः । उत्तरसूत्रे हि टनण एवानुवृत्तिरिष्टा सहनिर्देशे तु उभयोः प्रत्यययोः सहैव प्रवृत्ति-निवृत्ती स्याताम्मिति ॥६७॥

हः कालव्रीह्योः ।५।१।६८।

हाको हाङो वा कालव्रीह्योष्टनण स्यात् । हायनो वर्षम् । हायना व्रीहयः । हाताऽन्यः ॥६८॥

ह इति सामान्यनिर्देशेन "ओहांक् त्यागे" "ओहाङ्क् गतौ" इत्युभयोर्ग्रहणम् । जहाति जिहीते वा पदार्थानिति—हायनो वर्षम् । वर्षे केचन पदार्था नश्यन्ति तान् स त्यजतीव, केचनोत्पद्यन्ते तान् प्राप्नोतीवेति सार्थकत्व-

मवस्य। जहति उदकं दूरोत्थानात् अथवा गत्यर्थस्य व्युत्पादने जिहते वा द्रुतं—हायना व्रीहयः। शीघ्रवृद्धिरेवैषां द्रुतगतिः सद्य एव जलादूर्ध्वमुत्तिष्ठन्तीति जलत्याग एव क्रियते तैः ॥६८॥

प्रुसृल्वोऽकः साधौ ।५।१।६६।

एभ्यः साध्वर्थेभ्योऽकः स्यात् । प्रवकः । सरकः । लवकः । साधाविति किम् । प्रावकः ॥६६॥

साधुत्वं क्रियाविशेषणमिह न तु प्रत्ययार्थत्वमित्याह—**साध्वर्थेभ्य इति**—प्रुङ् गतौ साधु प्रवत इत्यनेनाके गुणेऽवादेशे च प्रवकः क्रियाविशेषस्य क्लीबत्वं द्वितीया च भवति। सृ गतौ "साधु सरतीति सरकः। लूग्श् छेदने" साधु लुनातीति लवकः। प्रवत इति णकः—वृद्धावावादेशे च प्रावकः साधुत्वाभावान्नात्राकप्रत्ययः ॥६६॥

आशिष्यकन् ।५।१।७०।

आशिषि गम्यायां धातोरकन् स्यात् । जीवका । आशिषीति किम् ? जीविका ॥७०॥

अप्राप्तस्याभिलषितस्य प्रार्थनमाशीः। न चासौ प्रयोक्तृधर्मः नासौ प्रत्ययार्थो भवितुमर्हतीत्याशयेनाह—तस्यां गम्यायामिति "जीव प्राणधारणे" जीवतादित्याशास्यमानो—**जीवकः इति**। अकनि णके वा पुंसि रूपसाम्यात् स्त्रियां प्रत्युदाहरति—जीविकेति—अत्र णकप्रत्यय आप् "अस्यायत्०" ।२।४।१११। इतीकारश्च। नकारः "इच्चा०" ।२।४।१०७। इत्यादौ व्युदासार्थः ॥७०॥

तिक्कृतौ नाम्नि ।५।१।७१।

आशीर्विषये संज्ञायां गम्यमानायां धातोस्तिक् कृतश्च स्युः ।

शान्तिः, वीरभूः, वर्द्धमानः ॥७१॥

"शमूच उपशमे" शम्यादित्याशास्यमानः इति—**शान्तिः** अत्र "तेर्ग्रहादिभ्यः" ।४।४।३२। इति नियमादिडभावः "अहन्पञ्चमस्य०" ४।१।१०७। इति दीर्घः, "म्नां०" ।१।३।३९। इति मस्य नकारश्च । वीरो भूयादित्याशास्यमानः **वीरभूरिति** अत्र क्विप्प्रत्ययः । वर्धिषीष्टेति—वर्धमानः अत्रानशि शवि मागमः ॥७१॥

कर्मणोऽण् ५।१।७२।

कर्मणः परात्तोरण् स्यात् । कुम्भकारः ॥७२॥

कर्मण इति—न स्वरूपग्रहणम् "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" इत्यत्र असंज्ञेति निषेधात् । न च कर्मशब्दात् क्रियाग्रहणं शक्यते इति वाच्यं "कृत्रिमाकृत्रिमयोः०" इति न्यायात् । अत्र कर्मणो निर्वर्त्य-विकार्य—प्राप्यरूपत्वात्त्रैविध्याद् बहुवचन-निर्देशे उचितेऽपि जातिविवक्षयैकवचन-निर्देशः । निर्वर्त्यकर्मणो लक्षणमित्थम्—

सती वा विद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी ।
यस्य नाश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्वं प्रचक्षते ॥

अस्यार्थश्चेत्थम्—यस्य सती परिणामिनी प्रकृतिर्नाश्रीयते यस्य चाविद्यमाना प्रकृतिर्नाश्रीयते तत्कर्म निर्वर्त्यं कथ्यते । अयमाशयः—यस्योपादानकरणं नास्ति यस्य वा सदप्युपादानकरणं न विवक्ष्यते तदुभयं निर्वर्त्यं कर्म ।यथा संयोगं करोति—द्रव्यस्यैवोपादानकारणस्य भावात् संयोगस्य गुणत्वादस्योपादानकारणस्यैवाभावः । घटं करोतीत्यत्र घटस्य द्रव्यरूपतयोपादानकारणस्यावश्यंभावेऽपि तदविवक्षात्र । विवक्षायां तूपादानकारणस्य कार्यसामानाधिकरण्येन प्रतीत्या मृदं घटं करोतीति स्यात् तदविवक्षया घटमिति निर्वर्त्यमेव कर्म । यदा तूपादानकारणमेव परिणामित्वेन कार्यसामानाधिकरण्येन विवक्ष्यते तदा तत् विकार्यं कर्म—यथा पूर्वोक्तं मृदं घटं करोतीति । यदा च कार्येण सह कारणस्य वैयधिकरण्यं विवक्ष्यते तदा चोपादानकारणविवक्षायामपि निर्वर्त्यमेव यथा—मृदा घटं

करोतीति—मृदः करणविवक्षात्र । सम्बन्धसामान्यविवक्षायां मृदो घटं करोतीति । विकार्यं कर्म द्विधा—

प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित् काष्ठादिभस्मवत् ।
किञ्चिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत् ॥

यत्र कारणगतरूपस्य सर्वात्मना परित्यागस्तदाद्यम् । यथा काष्ठं भस्म करोति । यत्र कारणगतरूपेण सह गुणान्तरोपत्तिविवक्ष्यते तत् द्वितीयं यथा सुवर्णं कुण्डलं करोति । प्राप्यं कर्म—

क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते ।
दर्शनादनुमानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते ॥

यत्र दर्शनात् (प्रत्यक्षात्) अनुमानाद्वा क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्न गम्यते तत्प्राप्यं कर्म । यथा—घटं करोतीति निवर्त्त्ये कर्मणि स्वरूपलाभ एव क्रियाकृतविशेषो दर्शनाद् गम्यते । पुनः सुखं करोतीत्यादौ सुखलाभरूप एव क्रियाकृतविशेषोऽनुमानात् मुख्यप्रसादलिङ्गसहकारेण गम्यते । कटं पश्यतीत्यादौ कश्चित् क्रियाकृतविशेषो न दृश्यते नवाऽनुमीयते अतश्च कटेति प्राप्यं कर्म । यद्यपि क्रियया प्राप्यमाणत्वात् सर्वस्य कर्मणः प्राप्यत्वं सम्भवति तथाप्यवान्तरभेदविवक्षयेदं त्रैविध्यं प्रदर्शितम्-अजाद्यपवादोयम् **कुम्भकार इति**—कुम्भं करोतीत्यनेनाण् वृद्धिः आरादेशश्च । "ऐकार्थ्ये" ।३।२।८। इत्यमो लोपः "ङस्युक्तं कृता" ।३।१।४९। इति समासः । कुम्भो हि अविद्यमानमेवोत्पद्यते, उपादानकरणस्य चाविवक्षेति—निर्वर्त्यं कर्मेदम् ॥७२॥

शीलिकामिभक्ष्याचरीक्षिक्षमो णः ।५।१।७३।

कर्मणः परेभ्यः एभ्यो णः स्यात् । धर्मशीला । धर्मकामा । वायुभक्षा । कल्याणाचारा । सुखप्रतीक्षा । बहुक्षमा ॥७३॥

शीलण् उपधारणे उपधारणमभ्यासः परिचयो वा धर्मं शीलयतीति धर्मशीला सा । कमूङ् कान्तौ कान्तिरभिलाषः धर्मं कामयत इति–धर्मकामा । "भक्षण् अदने वायुं भक्षयतीति वायुभक्षा । इकारो धातुस्वरूपनिर्देशार्थः । चर् भक्षणे च चकाराद् गतौ कल्याणमाचरतीति–कल्याणाऽऽचारा । ईक्षि

दर्शने सुखं प्रतीक्षत इति सुखप्रतीक्षा । 'क्षमौषि सहने' 'क्षमौच् सहने' बहु क्षमते बहु क्षाम्यतीति वा "मोऽ कमिरमि०" ।४।३।६५। इति वृद्धयभावे वहुक्षमा । यद्यपि अल्घञन्तैः शीलादिभिः धर्मः शीलो यस्या इत्यादिबहुव्रीहौ सति धर्मशीलादयः सिध्यन्ति तथापि कर्मणोऽण् । इति अण्बाधनार्थं वचनम् । अणि हि सति स्त्रियां ङीः स्यात् । ननु "कमि" इति निर्देशेऽपि "कर्मणिङ्" ।३।४।२। इति "प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तस्यापि ग्रहणम्" इति न्यायात् ण्यन्तस्य ग्रहणं भविष्यतीति ण्यन्तोपादानं व्यर्थमिति चेत्सत्यम् अस्मादेव ण्यन्तनिर्देशात् अण्यन्तनिर्देशे "अतः कृ—कमि०" ।२।३।५। इत्यादौ केवलस्यैव कमेर्ग्रहणम् तेन पयः कामयत इत्यर्थे णौ णे सति सकाराभाव ङ्यभावश्च—पयःकामा । ण्यभावे तु अणि सति सकारो ङीश्च भवति—पयःकामी ॥७३॥

गायोऽनुपसर्गाट्टक् ।५।१।७४।

कर्म्मणः परादनुपसर्गात् गायतेष्टक् स्यात् वक्रगी । अनुपसर्गा-दिति किम् । खरुसंगायः ॥७४॥

वक्रं गायतीति—वक्रगीः । ककारः "इडेत्पुसि चातो लुक्" ।४।३।९४। इत्याकारलोपार्थः, टकारः ङ्यर्थः, ङस्युक्तसमासः खरु संगायतीति खरुसं-गायः "कर्मणोऽण्" ।५।१।७२। इत्यण् "आत ऐः०" ।४।३।४३। इत्याकार-स्यैकार आयादेशश्च । खरु इति गीतविशेषस्य संज्ञा । "गोऽनुपसर्गाट्टक् इति सूत्रकरणे "गामादाग्रहणेष्वविशेषः इति न्यायेन गाङ् गतौ इत्यस्यापि ग्रहणं प्राप्यते तत्र तु टक्प्रत्ययो नाभिमतः इति गाय इति कृतम् ॥७४॥

सुरा-सीधोः पिबः ।५।१।७५।

आभ्यां कर्मभ्यां परादनुपसर्गात्पिबतेष्टक् स्यात् । सुरापी । सीधुपी ॥७५॥

समाहारे निर्देशे क्लीबत्वेऽपि नागमो न विहितः आगमशासनस्यानित्य-

स्यात् । सुरां पिबतीति सुरापी । शीधु पिबतीति—शीधुपी॥७५॥

आतो डोऽह्वा-वा-मः ।५।१।७६।

कर्मणः परादनुपसर्गाद्ह्वावावमार्जादादन्ताद्धातोर्डः स्यात् ।गोदः । अह्वावाम इति किम् । स्वर्गह्वायः। तन्तुवायः ।धान्यमायः॥७६॥

गां ददाति-गोदः ।ह्वे स्पर्धाशब्दयोः-स्वर्गं ह्वयतीति स्वर्गह्वायः। कर्मणोऽण् ५।१।७२ सूत्रादण्सन्ध्यक्षरान्तलक्षणस्याकारस्यैकार आयादेशश्च वेंग्तन्तुसन्ताने तन्तून्वयतीति-तन्तुवायः। माङ्क् मानशब्दयोःधान्यं मिमीत इति धान्यमायः ।कालविशेषानुक्तेः कालत्रयेऽपि प्रत्ययोऽयमिति व्येंग् संवरणे वपुर्व्यतिवान्-वपुर्व्यः इत्यादौ भूतेऽपि भवति ॥७६॥

समः ख्यः ।५।१।७७।

कर्मणः परात् संपूर्वात् ख्यो डः स्यात् । गोसङ्ख्यः ॥७७॥

"ख्य" इति ख्याशब्दस्य पञ्चम्यां रूपम् ख्यास्वरूपं च 'ख्यांक् प्रकथने" इति ख्याधातोः। "चक्षिक् व्यक्तायां वाचि" इति 'चक्ष्' धातोरशिति प्रत्यये विषये "चक्षो वाचि०" ।४।४।४। इति इति ख्यादेशस्य च। अत्र च "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" इति न्यायेनोभयोरपि संग्रहः। गां संख्याति संचष्टे वा—गोसंख्यः पूर्वेण सिद्धे उपसर्गार्थं वचनम् ॥७७॥

दश्चाङः ।५।१।७८।

कर्मणः परादाङ्पूर्वात् दागः ख्यश्च डः स्यात् । दायादः । स्त्र्याख्यः ॥७८॥

"डुदांग्क् दाने" इति दाधातोः ग्रहणम् चकारेण ख्याधातोरनुकर्षः। भावाकर्त्रोर्घञ्ञि दायः दायमादत्ते दायादः। स्त्रियमाचष्टे स्त्र्याख्यः।

इदमुत्तरं चोपसर्गार्थं वचनम् ॥७८॥

प्राज्ज्ञश्च ।५।१।७९।

कर्मणः परात् प्रपूर्वात् ज्ञो दागश्च डः स्यात् । पथिप्रज्ञः । प्रपाप्रदः ॥७९॥

द इत्यस्य चकारेणानुकर्षः ख्य इति तु नानुवर्तते पूर्वसूत्रे चानुकृष्टत्वात् । ज्ञ इत्यनेन "ज्ञांश् अवबोधने" इत्यस्य ग्रहणम् । पन्थानं प्रजानातीति **पथिप्रज्ञः** । प्रपां प्रददाति—प्रपाप्रदः । "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः" इति न्यायेन कृत्रिमस्यैव "अवौ दाधौ दा" ।३।२।५। इति विहितदासंज्ञकस्य ग्रहणे प्राप्तेऽपि ज्ञाख्याधातू रूपपरावेव न संज्ञापराविति तत्सहचारितः दाधातुरपि रूपपर एव, न संज्ञापर इति ज्ञायते । एवं च यद्यपि दारूपस्यैव ग्रहणमिति स्थिते "दाम् दाने" दांवक् लवने" "दैव् शोधने" "देङ् पालने" "डुदांग्क् दाने इति सर्वेषामिहं पूर्वसूत्रे च ग्रहणमित्यायाति तथापि पूर्वसूत्रे दाग इति कथमुक्त मित्यस्यसमाधाने सर्वेषां दारूपत्वाविशेषे "गा मादा-ग्रहणेष्वविशेषः" इति न्यायात्सिद्धेऽपि दाग एवाङ्गा प्रयोगा दृश्यन्त इति प्रयोगस्वाभाव्यात् दाग एव दारूपस्य ग्रहणमिति भावः ॥७९॥

आशिषि हनः ।५।१।८०।

कर्मण, पराद्धन्तेराशिषि डः स्यात् । शत्रुहः ॥८०॥

"हनंक् हिंसागत्योः" शत्रुं वध्यादित्याशास्यमानः शत्रुहः ॥८०॥

क्लेशादिभ्योऽपात् ।५।१।८१।

क्लेशादिकर्मणः परादपाद्धन्तेर्डः स्यात् । क्लेशापहः तमोपहः । ॥ ८१ ॥

नच पूर्वसूत्रेणैव क्लेशादिकर्मणः परादपपूर्वाद्धन्तेः डप्रत्ययः स्यादिति किमनेनेति वाच्यं यत्र नाशीर्विवक्षाऽपि तु वस्तुस्थितिकथनमेव तत्रापि प्रत्ययः स्यादित्येतदर्थत्वात् । क्लेशमपहन्ति—क्लेशापहः । तमोऽपहन्ति—तमोपहः बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येभ्योऽपि भवति ॥८१॥

कुमार-शीर्षाण्णिन् ।५।१।८ ।

आभ्यां कर्मभ्यां पराद्धन्तेर्णिन् स्यात् । कुमारघाती । शीर्षघाती ॥८२॥

कुमारं हन्तीति कुमारघाती "ञ्णिति घात्" ।४।३।५०। इति घातादेशः ङस्युक्तसमासः । शिरः शीर्षं वा हन्तीति-शीर्षघाती-अत एव कुमार-शीर्षादिति निर्देशाच्छिरसः शीर्षभावः शिरःशब्दपर्यायोऽकारान्तः प्रकृत्यन्तरं शीर्षशब्दो वा । शीर्यते नश्यति जरसा=शीर्षं "ऋजि-रिषि" । उणा० ५६७। इति कित् सः । शीर्षशब्दस्य प्रकृत्यन्तरत्वे कोशप्रमाण-मुच्यते 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धाना मस्तकोऽस्त्रियाम् ।' इदं सूत्रं काल-सामान्ये विहितमपि भूतातिरिक्त एव काले प्रवर्तते, भूते च 'हनो णिन्' ।५।१।६०। इति सिद्धः एव ॥८२॥

अचित्ते टक् ।५।१।८३।

कर्मणः पराद्धन्तेरचित्तवति कर्त्तरि टक् स्यात् । वातघ्नं तैलम् । अचित्त इत्ति किम् । पापघातो यतिः ॥८३॥

अचित्तवतीति न विद्यते चित्तं यस्य तस्मिन् अचित्ते—चित्तवद्भिन्न इत्यर्थः । केचित्तु चित्तस्याभावोऽचित्तं तदस्यास्तीति 'अभ्रादिभ्यः' ।७।२।४६। इति मत्वर्थीयेऽप्रत्यये—अचित्त इति—। वातं हन्तीति **वातघ्नं तैलम्** । गमहनः' ।४।२।४४। इत्युपान्त्यस्य लोपः 'हनो हनो घ्नः ।' ।२।१।११२। इति घ्नादेशः, तैलमिति विशेष्यमचित्तकर्तृत्वज्ञापनार्थम् । पापं हन्तीति—पापघातो यतिः ॥८३॥

जायापतेश्चिह्नवति ।५।१।८४।

आभ्यां कर्मभ्यां पराद्धन्तेश्चिह्नवति कर्त्तरि टक् स्यात् । जायाघ्नो ब्राह्मणः पतिघ्नी कन्या ।।८४।।

चिह्नं शरीरस्थं शुभाशुभसूचकं तिलकाऽलकादि । जायां हन्तीति जायाघ्नो-ब्राह्मणः । यद्यपि जायाघ्नशब्देन सामान्यतो जायाहननकर्तैव लभ्यतेऽर्थः, न च तावता जायाहननसूचकचिह्नवत्त्वं गम्यते तथापि अप्राप्तायां जायायां प्राप्तायामपि स्वस्तिमत्यां स्थितायां कृतस्य जायाघ्न इति प्रयोगस्य सामान्यतो जायाहननकर्तृत्वमर्थो न मन्तुं शक्यतेऽसम्भवात्, शिष्टवाक्यत्वेन च तस्य निरर्थकत्वमपार्थत्वं वा न युक्तम्, तस्मात् जायाहननसूचकापलक्षणवानयमिति तदर्थो निश्चेयः । वस्तुतस्तु तादृ शलक्षणवत्त्वमात्रेण न तद्घननकर्तृत्वं सम्भवति, तादृशलक्षणेन ह्यस्य जाया नक्ष्यतीत्येव ज्ञायते न तु स्वय-मेव तां हनिष्यतीति, तथापि तादृशलक्षणवत्त्वे स तद्घन्तैवेति गौणो व्यवहारः । चित्तवदर्थोऽय-मारम्भः ।।८४।।

ब्रह्मादिभ्यः ।५।१।८५।

एभ्यः कर्मभ्यः पराद्धन्तेष्टक् स्यात् । ब्रह्मघ्नः । गोघ्नः पापी ।।८६।।

ब्रह्मादिभ्यः—ब्रह्म हन्तीति टकि कित्त्वात् 'यमहन०'।४।२।४४। इत्युपान्त्य-लोपे 'हनो०" ।२।१।११२। इति घ्नादेशे च ब्रह्मघ्न इति । गां हन्तीति गोघ्न इति । चित्तवदर्थं आरम्भः ।।८५।।

हस्तिबाहुकपाटाच्छक्तौ ।५।५।८६।

एभ्यःकर्मभ्यः पराद्धान्तेः शक्तौ गम्यायां टक् स्यात् । हस्तिघ्नः । बाहुघ्नः । कपाटघ्नः । शक्ताविति किम् । हस्तिघातो विषदः ।।८६।।

हस्ति०। त्रित्तवदर्थं आरम्भः। हस्तिनं हन्तुं शक्त इति टकि प्राग्वदुपान्त्यलोपे घ्नादेशे चहस्तिघ्नः। बाहुं हन्तुं शक्तः बाहुघ्नः। कपाटं हन्तुं शक्तः कपाटघ्नः। पृच्छति–शक्ताविति विनापि तद्ग्रहणं प्रयोगेन शक्तिर्गम्यत एवेति प्रश्नाशयः। न केवलं शक्त्यैव हस्ती मारयितुं शक्यतेऽपि तु शक्तिविकलेनापि विषादिना हननस्य साध्यत्वात् तत्र हस्तिघ्न इति प्रयोगस्य वारणाय शक्ताविल्यावश्यकमित्याह—हस्तिघातो विषदः। हस्तिनं हन्ति विषेणेत्यर्थः। अत्राण् प्रत्यय एव भवति। अत्रोक्तं तत्त्वबोधिन्याम्—"यद्यपि शक्तिग्रहणसामर्थ्यात् प्रकर्षो गम्यते, तेन स्वबलेनैव हन्तुं या शक्तिः सा गृह्यते" इति। तथा च विषेण गजहनने न कर्तुः स्वकीया शक्तिः प्रतीयतेऽपि तु विषस्यैवेति ॥८६॥

नगरादगजे ।५।१।८७।

नगरात्कर्मणः पराद्धन्तेरगजे कर्त्तरि टक् स्यात्। नगरघ्नो व्याघ्रः। अगज इति किम्। नगरघातो हस्ती ॥८७॥

नगरादगजे—। त्रित्तवदर्थः आरम्भः। यद्यपीदं सूत्र विहाय पूर्वसूत्र एव नगरशब्दोऽपि पठ्यते तदापि नगरघ्न इति स्यादेव, शक्तेरत्रापि ज्ञायमानत्वात्, तथापि गजेऽपि प्रत्ययःस्यादेवेति तन्निवृत्तये योगविभाग आवश्यकः। नगरं हन्तीति नगरघ्नो व्याघ्रः। पृच्छति—अगज इति किमिति। पूर्वत्रैव नगरशब्दः पठ्यतामिति प्रश्नाशयः। उत्तरयति–नगरघातो हस्तीति–अणो हि टकारसरूपत्वेन नित्यबाधादण् न स्यादिति नगरघ्न इत्येव स्यादिति भावः ॥८७॥

राजघः ।५।१।८८।

राज्ञः कर्मणः पराद्धन्तेष्टक् घादेशश्च निपात्यते। राजघः ॥८८॥

राजघः। निपात्यते इति—अलाक्षणिकं कार्यं विना निपातनमलभ्यमिति निपातनमाश्रितम्। तत्र वृत्तौ हन्तेरिति तन्त्रेण पञ्चम्यन्तषष्ठ-

घन्तयोर्निर्देशः, तेन हन्तेः टक् प्रत्ययो भवति, हन्ते--र्घादेशो भवतीत्यर्थोलभ्यते । राजा नं हन्तीति– राजघः ॥८८॥

पाणिघताडघौ शिल्पिनि ।५।१।८९।

एतौ शिल्पिनि टगन्तौ निपात्येते । पाणिघः । ताडघः । शिल्पिनीति किम् । पाणिघातः । ताडघातः ॥८९॥

पाणिघ–।पाणिं हन्तीति पाणिघः शिल्पी । ताडं हन्तीति ताडघः शिल्पी । पृच्छति-शिल्पिनीति किमिति, उत्तरयति–पाणिघातः, ताडघातः इति– यथाकथञ्चित् हन्तीत्यणि घातादेशे च पाणिघातः, ताडघात इति ॥८९॥

कुक्ष्यात्मोदरात् भृगः खिः ।५।१।९०।

एभ्यः कर्मभ्यः पराद्भृगः खिः स्यात् । कुक्षिम्भरिः । आत्मम्भरिः । उदरम्भरिः ॥९०॥

कुक्ष्या०–। "डुभृंगक् पोषणे" कुक्षिमेव स्वीयमुदरमेव न परं बिभर्ति पुष्णातीति खौ गुणे "खित्य०' ।३।२।११। इति पूर्वस्य मेऽन्तागमे ङस्युक्तसमासे कुक्षिम्भरिः, आत्मानमेव बिभर्तीति-आत्मम्भरिः, उदरमेव बिभर्तीति उदरम्भरिः । "तौ मुमो०' ।१।३।१४। इति मस्यानुस्वारानुनासिकौ भवति इति कुक्षिभरिः, आत्मंभरिः, उदरंभरिरित्यपि भवति ॥९०॥

अर्होऽच् ।५।१।९१।

कर्मणः परादर्हरच् स्यात् । पूजार्हा साध्वी ॥९१॥

अर्होच्—। "कर्मणोऽण्" ।५।१।७२। इत्यणोऽपवादो योगः (अचाऽणोः सरूपत्वेन नित्यापवादत्वमित्यर्थः । "अर्ह पूजायाम्" पूजामर्हतीत्यचि ङस्युक्तसमासे पूजार्हा साध्वी । अत्राच्भावादाप् सिद्धः । अणि तु 'अणञे०'

।२।४।२०। इयि ङी: स्यात् ॥६१॥

धनुर्दण्डत्सरुलाङ्गलाङ्कुशर्ष्टियष्टिशक्तितोमरघटाद् ग्रहः ।५।१।६२।

एभ्यः । कर्मभ्यः पराद् ग्रहोऽच् स्यात् । धनुर्ग्रहः । दण्डग्रहः । त्सरुग्रहः । लाङ्गलग्रहः । अङ्कुशग्रहः । ऋष्टिग्रहः । यष्टिग्रहः । शक्तिग्रहः । तोमरग्रहः । घटग्रहः ॥६२॥

धनु०—। "ग्रहीश् उपादाने" । धनुर्गृह्णातीत्यचि ङस्युक्तसमासे-धनुर्ग्रहः इति, एवं दण्डं गृह्णातीति दण्डग्रहः, त्सरु कृपाणमुष्टिं गृह्णातीति-त्सरुग्रहः, लाङ्गलं हलं गृह्णातीति-लाङ्गलग्रहः, अङ्कुशं गृह्णातीति अङ्कुशग्रहः, ऋष्टिं खड्गं गृह्णातीति-ऋष्टिग्रहः, यष्टिं गृह्णातीति यष्टिग्रहः शक्तिशस्त्रविशेषं गृह्णातीति-शक्तिग्रहः, तोमरं गृह्णातीति तोमरग्रहः, घटं गृह्णातीति घटग्रहः । 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं' मितिन्यायात् घटीग्रह इत्यत्राप्यच् सिद्धः ॥६२॥

सूत्राद्धारणे ।५।१।६३।

सूत्रात्कर्मणः पराद् ग्रहो ग्रहणपूर्वकधारणार्थादच् स्यात् । सूत्रग्रहः प्राज्ञः सूत्रधारो वा । धारण इति किम् । सूत्रग्रहः ॥६३॥

सूत्राद्धारणे—। सूत्रं कार्पासादिमयं लक्षण सूत्रं वाऽविशेषेण गृह्यते । ग्रहधातोर्ग्रहणार्थकत्वेनैव सूत्रग्रहणकर्तरि प्रयोगस्य निर्बाधत्वेन 'धारणे'इति यदुक्तं तस्य फलमाह-ग्रहणपूर्वकधारणार्थादिति । सूत्रं गृह्णातीति सूत्रग्रहः प्राज्ञः सूत्रधारो वेति, सूत्रमुपादाय धारयतीत्यर्थः । प्राज्ञो गुरोः सकाशात् लक्षणसूत्रं प्राप्य धारयति, अन्यश्च लोके कर्पासादिमयं कुतश्चनोपादाय धारयति । पृच्छति-धारण इति किमिति-ग्रहण धारणयोः पर्यायप्रायत्वेन धारण इत्यस्य वैयर्थ्यमिति प्रश्नाशयः ग्रहधातोरुपादानमात्रार्थो न तु धारणमपि, तथा च यः केवलं गृह्णात्येव

तत्र नायं प्रयोग इत्याह—सूत्रधार इति—अत्राणेव भवति। यो हि सूत्रं गृह्णाति न तु धारयति स एवमुच्यते ॥९३॥

आयुधादिभ्यो धृगोऽदण्डादेः ।५।१।९४।

दण्डादिवर्जादायुधादेः कर्मणः परात् धृगोऽच् स्यात् । धनुर्द्धरः। भूधरः। अदण्डादेरिति किम् । दण्डधारः। कुण्डधारः। ॥ ९४ ॥

आयुधादिभ्यो० । अत्रादिशब्दःप्रकारवाचको न तु प्रभृत्यर्थकः, तथा चायुधवाचकप्रकाराः आयुधवाचक सदृशाःशब्दा आयुधादित्वेन गृह्यन्ते, न तु आयुध—शस्त्रप्रभृतयः शब्दा गृह्यन्ते, केवलमायुधवाचकस्यैव ग्रहणेऽभिमते तु 'आयुधेभ्य इत्येव ब्रूयात्'। 'धृंग् धारणे' धनुर्धरतीत्यचि गुणे ङस्युक्तसमासे च धनुर्धरः। आदिग्रहणादाह—भूधर इति, आदिशब्दस्य प्रकारवाचकत्वमित्युक्तम्, यथा धनुर्धार्यते तथा भूरपीत्यायुध-सादृश्यभुव इति प्रत्ययो भवति। दण्डादिवर्जनप्रयोजनं पृच्छति-अदण्डादेरिति किमिति, उत्तरयति दण्ड धरतीति' कर्मणोऽण्' ।५।१।७२।। इत्यणि वृद्धौऽस्युक्तसमासे दण्डधारः, एवं कुण्डधारः, वर्जनाभावेऽत्राप्यच् प्रवर्तेत, स च नेष्यत इति भावः ॥९४॥

हृगो वयोऽनुद्यमे ।५।१।९५।

कर्मणः पराद्धृगो वयस्यनुद्यमेच गम्येऽच् स्यात् । अस्थिहरः श्वशिशुः।उद्यमः उत्क्षेपणमाकाशे धारणं वा तदभावे। अंशहरो दायादः। मनोहरा माला। वयोऽनुद्यम इति किम् । भारहारः ॥९५॥

हृगो०—। प्राणिनां कालकृतावस्था वयः। उद्यम उत्क्षेपणम्, आकाशस्थस्य वा धारणम्, तदभावोऽनुद्यमः। 'हृंग् हरणे' अस्थि हरतीति. अचि-गुणे ङस्युक्तसमासे अस्थिहरःश्वशिशुरिति—अस्थ्युत्क्षेपणसमर्थे वयसि

वर्तत इत्येके, अपरे तु-अस्थिहरणेन हि तस्य तादृशावस्था गम्यते यत्र तस्य दन्ता अस्थिचर्वणयोग्या न भवन्ति । अंशं हरतीति-अंशहरो दायादः, मनो हरति या सा मनोहरा माला, न चांशादिहरणमुद्यम एवेति वाच्यम्, पूर्वं व्याख्यातस्योत्क्षेपणस्योपरि धारणस्य वा तत्राभावात् । भारहार इति —अत्र 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२।। इत्यणेव भवति । नन्वनुद्यम इत्युक्तैव उद्यमभिन्ने सर्वत्र प्रत्ययविज्ञानाद् वयस्यपि भविष्यत्येवेति वयोग्रहणस्य वैयर्थ्यमितिचेदुच्यते-वयसि क्रियमाणः सम्भाव्यमानो वोद्यम उच्यमानवयो गमयतीति वयोगहणस्योद्यमार्थत्वात् । नहि श्वशिशुः सर्वदाऽस्थि हरति, असति अस्थिहरणेसोऽस्थिहरशब्देन कथयितुं शक्यतेऽतः समभाव्यमानो वेत्युक्तम् ।।९५।।

आङः शीले ।५।१।९६।

कर्मणः परादाङ्पूर्वाद्धृगेः शीले गम्येऽच् स्यात् । पुष्पाहरः । शील इति किम् । पुष्पाहारः ।।९६।।

आङःशीले—। शीलं स्वाभाविकी प्रवृत्तिः । पुष्पाण्याहरतीत्येवं शीलः—पुष्पाहरः— पुष्पाण्याहरणे स्वाभाविकी फलनिरपेक्षा वृत्तिरस्येत्यर्थः । पुष्पाहर इति—देवपूजाद्यर्थं पुष्पाण्याहरतीत्यर्थः । अत्र शीलार्थाभावादस्याप्रवृत्त्याऽणेव भवतीत्यर्थः । ननु लिहादेराकृतिगणत्वादेव पूजार्हादीनां सिद्धौ "अर्होऽच्" ।५।१।९१। इत्यारभ्य प्रवृत्तस्याच्प्रकरणस्य वैयर्थ्यमिति चेदुच्यते—यद्यपि लिहादित्वादच् सिद्धस्तथापि कस्मात् धातोः कस्मिन्नर्थे किमुपसर्गपूर्वादच् प्रत्यय इष्ट इति विशेषण प्रपञ्चयितुमिदं प्रकरणमारब्धमिति नास्य वैयर्थ्यमिति हृदयम् ।।९६।।

दृतिनाथात् पशाविः ।५।१।९७।

आभ्यां कर्मभ्यां पराद्धृगः पशौ कर्त्तरि इः स्यात् । दृतिहरिः श्वा । नाथहरिः सिंह ।।९७।।

दृति०—दृतिः चर्मखल्लः, चर्मभस्त्रा च, चर्म इत्यपि केचित्, नाथो नासा-रज्जुः। दृतिं हरतीति इप्रत्यये गुणे ङस्युक्तसमासे दृतिहरि श्वाः। नाथं हरतीति नाथहरिः सिंहः ॥९७॥

रजःफलेमलाद् ग्रहः ।५।१।९८।

एभ्यः कर्मभ्यः परात् ग्रहेरिः स्यात्। रजोग्रहिः। फलेग्रहिः। मलग्रहिः ॥९८॥

रजः०। 'ग्रहीश् उपादाने' रजो गृह्णातीति–रजोग्रहिः। फलानि गृह्णातीति—फलेग्रहिः—सूत्रे निर्देशादत्त्वम्। मलं गृह्णातीति—मलग्रहिः ॥९८॥

देववातादापः ।५।१।९९।

आभ्यां कर्मभ्यां परादापेरिः स्यात् देवापिः। वातापिः ॥९९॥

देव०—"आप्लृट् व्याप्तौ" देवानाप्नोतीति—देवापिः। वातमाप्नोतीति वातापिः ॥९९॥

सकृत्स्तम्बाद् वत्सव्रीहौ कृगः ।५।१।१००।

आभ्यां कर्मभ्यां परात् कृगो यथासङ्ख्यं वत्सव्रीह्योः कर्त्रोरिः स्यात्। सकृत्करिर्वत्सः। स्तम्बकरिर्व्रीहिः ॥१००॥

वत्सव्रीह्योः कर्त्रोरिति—एतेन व्रीहिवत्सग्रहणं प्रत्ययार्थस्य कर्तुर्विशेषणमिति दर्शयति, प्रत्ययार्थत्वं तु "कर्तरि" ।५।१।३। कृदिति वचनात्। कुतः पुनरेतदवसितं प्रत्ययार्थस्य विशेषणमेवेति, न पुनर्बाधकमेवेति, तदुच्यते धातोः प्रत्ययस्य विधानात् तदर्थस्य येन सम्बन्धस्तत्र वाच्ये प्रत्ययेन भवितव्यम्, धात्वर्थः क्रिया, तस्याश्च साधनेन सम्बन्धो न वस्तुस्वरूपेण,

साधनं च शक्तिः, न वस्तुस्वरूपम्, व्रीहिशब्दो वत्सशब्दश्च वस्तुस्वरूपेण स्वार्थमाचष्टे न शक्तिस्वरूपेणेति, तेनाशक्तिस्वरूपेण प्रतीयमानो व्रीहिर्वत्सश्च नार्हति प्रत्ययार्थो भवितुम्, सोऽप्रत्ययार्थः सन्नशक्तित्वात् कथमिमं प्रत्ययार्थं बाधेत, तस्मात् प्रत्ययार्थस्तेन कर्तरि विशिष्यते इति युक्तमुक्तं वत्सव्रीह्योः कर्त्रोरिति। एष न्यायोऽन्यत्रापि प्रत्ययार्थविशेषणे द्रष्टव्यः। शकृत् करोतीति—शकृत्करिर्वत्सः, शकृत्शब्दः पुरीष वचनोऽपि वत्सकृत-शुष्कप्रायपुरीषपरः, स्तम्बं करोतीति—स्तम्बकरिर्व्रीहिः, स्तम्बशब्दस्तृण-निचयपरः ॥१००॥

किंयत्तद्बहोरः ।५।१।१०१।

एभ्यः कर्मभ्यः परात् कृगो, अः स्यात्। किंकरा। यत्करा। बहुकरा ॥१०१॥

किम्यत्०—किं करोमीत्याज्ञां प्रतीक्षते इति—किङ्करा इति—कुरु इति विनियुक्तः किमिति पृच्छति तदुत्तरं यथादिष्टं करोतीति भावः। किङ्कर-शब्दो दासीपर्यायः, दासी चानकूला भवतीत्यनुकूलायां वाच्यायां "हेतु-तच्छीला०" ।५।१।१०३। इति परसूत्रेण टप्रत्यये विहितेऽ प्यविधानं ङ्यभावार्थम्, अन्यथा टप्रत्ययस्य टित्वात् 'अणञे'० ।२।४।२०। इति ङीः स्यादिति ज्ञापनार्थं 'किङ्कर' इत्यनुदाहृत्य किङ्करेत्युदाहृतम् ॥१०१॥

सङ्ख्याऽहर्दिवाविभानिशाप्रभाभाश्चित्रकर्त्राद्यन्तानन्तकारबाह्वरुर्धनुर्नान्दीलिपिलिविबलिभक्तिक्षेत्रजङ्घाक्षपाक्षणदारजनिदोषादिनदिवसाट्टः ।५।१।१०२।

सङ्ख्येत्यर्थप्रधानमपि एभ्यः कर्मभ्यः परात्कृगष्टः स्यात्। सङ्ख्या-करः। द्विकरः। अहस्करः। दिवाकरः। विभाकरः। निशा-

करः । प्रभाकरः । भास्करः । चित्रकरः । कर्तृकरः । आदिकरः । अन्तकरः । अनन्तकरः । कारकरः । बाहुकरः । अरुष्करः । धनुष्करः । नान्दीकरः । लिपिकरः । लिविकरः । बलिकरः । भक्तिकरः । क्षेत्रकरः । जङ्घाकरः । क्षपाकरः । क्षणदाकरः । रजनिकरः । दोषाकरः । दिनकरः । दिवसकरः ॥१०२॥

सङ्ख्या०—। व्याकरणे "स्वंरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञेती न्यायात् शब्दस्य स्वरूपमात्रवाचकत्वस्य सिद्धान्तितत्वेन संख्येति शब्दस्यापि स्वरूपमात्र-परत्वं स्यादित्याशङ्कायामाह–संख्येत्यर्थप्रधानमपीति–अपिना स्वरूपपर-मपीति भावः । अर्थप्रधानत्वस्य संख्याशब्दस्य भावेन संख्यार्थका एकादयः शब्दा गृह्यन्ते । अहेत्वाद्यर्थं आरम्भः । अहः करोतीति—अहस्कर इति—'अहन्' इत्यस्य "रो लुप्यरि०" ।२।१।७५। इति नकारस्य रेफः, तस्य "अतः कृ०" ।२।३।५। इति इति सत्त्वमत्र विज्ञेयम् । दिवा दिवसं करोतीति दिवाकरः इति–'दिवा' इत्याकारान्तमव्ययमह्नीत्यर्थे तस्याधिकरणशक्ति-प्रधानस्यापि कर्मत्वं बोध्यम् । भासः करोतीति-भास्करः, कस्कादित्वात् रेफस्य सकारः । अनन्तं करोतीति–अनन्तकरः, अथानन्तग्रहणं किमर्थम् ? अन्तग्रहणादेवानन्तशब्देऽपि तदन्तविधिना भविष्यति, नैतदस्ति—सर्वस्मि-न्नुपपदविधौ नहि तदन्तविधि-रिष्यते । अरुः क्षतम्, अरुः करोति, धनुः-करोतीति च–अरुष्करः, धनुष्करः इति–"समासेऽसमस्तस्य" ।२।३।१३। इति षत्वम् । नान्दीं देवादि स्तुतिं करोतीति—नान्दीकरः अक्षरन्यासे लिपिर्लिविः" इत्यभिधानचिन्तामणिः, लिपिं लिविं करोतीति लिपिकरः लिविकरः क्षपा क्षणदा रात्रिः, क्षपां क्षणदां करोतीति क्षपाकरः, क्षणदा-करः । रजनिं करोतीति–रजनिकरः, इतोऽक्त्यर्थात्०" ।२।४।३२। विकल्पेन ङीविधानादत्र न ङीः । दोषा रात्रिं करोतीति–दोषाकरः ॥१०२॥

हेतुतच्छीलानुकूले ऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्र मन्त्रपदात् ।५।१।१०३।

एषु कर्तृषु शब्दादिवर्जात् कर्मणः परात्कृगष्टः स्यात् । यशस्करी

विद्या। श्राद्धकरः। प्रेषणकरः। शब्दादिनिषेधः किम्। शब्दकार इत्यादि ॥१०३॥

हेतु०—। हेतुः प्रतीतशक्तिकं कारणम्, तच्छीलं तत्स्वभावः, अनुकूल आराध्यचित्तानुवर्त्ती। यशःकरोतीति टे गुणे ङ्स्युक्त—समासे टित्त्वात् स्त्रियां ङीप्रत्यये-यशस्करी विद्येति-विद्याया यशोहेतुत्वमिह गम्यते, "अतः कृकमि०" ।२।३।५। इति रस्य सत्वम्। श्राद्धं करोतीत्येवंशीलः-श्राद्धकरः। षणं करोतीति- षणकरः, अत्रानुकूल्यं गम्यते। पदकृत्यं पृच्छति-शब्दादि निषेधः किमिति उत्तरयति शब्दं करोतीति "कर्मणोऽण्" ५।१।७२। इत्यणि शब्दकारः ॥१०३॥

भृतौ कर्मणः ।५।१।१०४।

कर्मशब्दात् कर्मणः परात्कृगो भृतौ गम्यायां टः स्यात्। कर्मकरी दासी ॥१०४॥

भृतौ०—। भृतिर्वेतनं कर्ममूल्यमिति यावत्। "कर्मणोऽण्" ।५।१।७२। इति पूर्वसूत्रानुवृत्तं 'कर्मणः' इति अत्रोक्तस्य 'कर्मणः' इति पदस्य विशेषणमिति तदनुसारमेवार्थमाह—कर्मशब्दात् कर्मणः परादिति। कर्म करोतीति-कर्मकरी दासी। ननु कर्मन्शब्दस्य "कर्तुर्व्याप्यं कर्म" ।२।२।३॥ इति स्वशास्त्रेण परिभाषितत्वात् तदर्थबोधकत्वमेव युक्तम्, न तु शब्दस्वरूपपरत्वमिति शब्दस्वरूपपतया व्याख्यानमयुक्तमितिचेद्। उच्यते। पुनः कर्मग्रहणं शब्दरूपकर्मप्रतिपत्त्यर्थम्। अन्यथा 'कर्मणः' इत्यस्य "कर्मणोऽण्" ।५।१।७२। इति सूत्रात् धाराप्रवाहन्यायेनानुवर्तमानत्वात् पुनः कर्मग्रहणस्य वैयर्थ्यं स्यात् ॥१०४॥

क्षेमप्रियमद्रभद्रदात् खाऽण् ।५।१।१०५।

एभ्यः कर्मभ्यः परात् कृगः खाणौ स्याताम्। क्षेमङ्करः। क्षेम-

कारः । प्रियङ्करः । प्रियकारः भद्रङ्करः । भद्रकारः । भद्रङ्करः । भद्रकारः ॥१०५॥

क्षेमं—। क्षेमं करोतीति खे गुणे ङस्युक्तसमासे "खित्यनव्यया०" ।३।२।११ इति मोन्ते "तौ मुमो०" ।१।३।१४। इति ङकारे– क्षेमङ्करः । अणि तु वृद्धौ क्षेमकारः । खो वेति सिद्धे अण्-ग्रहणं हेत्वादिषु टबाधनार्थम्॥१०५॥

मेघर्त्तिभयाभयात्खः ।५।१।१०६।

एभ्यः कर्मभ्यः परात्कृगः खः स्यात् । मेघङ्करः । ऋतिङ्कर । भयङ्करः । अभयङ्करः ॥ १०६ ॥

मेघर्ति०।—मेघान् करोतीति मेघङ्करः । ऋतिर्गतिः सत्यता वा, ऋतिं करोतीति ऋतिङ्करः ॥१०६॥

प्रियवशाद्वदः ।५।१।१०७।

आभ्यां कर्मभ्यां पराद्वदः खः स्यात् । प्रियम्वदः । वशम्वदः ॥१०७॥

"वद व्यक्तायांवाचि" प्रियं वदतीति खे ङस्युक्तसमासे मागमेऽनुनासिके च प्रियम्वदः । एवं वशम्वदः ॥१०७॥

द्विषन्तपपरन्तपौ ।५।१।१०८।

द्विषत्पराभ्यां कर्मभ्यां परात् ण्यन्यात् तपेः खो ह्रस्वो द्विषतोऽच्च निपात्यते । द्विषन्तपः । परन्तपः ॥१०८॥

द्विषन्तप०—। इदं निपातनसूत्रम्, अलक्षणिककार्यलाभार्थमेव हि निपात-

नमारभ्यते, तत्र यद्यपि योगस्यावयवशो व्युत्पादनं नावश्यकं तथापि प्रयो-गार्थज्ञानाय प्रक्रियाज्ञानमावश्यक मिति निपातनलभ्यमाह प्रक्रिया-द्विषत्प-राभ्यां कर्मभ्यामिति । द्विषतस्तापयतीति खे तकारस्य मकारे आकार-स्य ह्रस्वे -द्विषन्तपः । परान् तापयतीति--परन्तपः ॥१०८॥

परिमाणार्थमितनखात्पचः ।५।१।१०९।

प्रस्थादिमितनखेभ्यः कर्मभ्यः परात्पचेः खः स्यात् । प्रस्थम्पचः । मितम्पचः । नखम्पचः ॥१०९॥

परिमाणार्थ०--। सर्वतो मानं परिमाणम्, तदर्थाः प्रस्थादय इत्याह--प्रस्था-दीति । प्रस्थं प्रस्थपरिमितं धान्यं पचतीति खे मागमे तस्यानुस्वारे प्रस्थम्पचः ॥१०९॥

कूलाभ्रकरीषात्कषः ।५।१।११०।

एभ्यः कर्मभ्यः कषेः खः स्यात् । कूलङ्कषाः । अभ्रङ्कषा । करी-षङ्कषा ॥११०॥

कूलाऽभ्र०--। "कष हिंसायाम्" कूलं तटं कषति भिनत्तीति खे ङस्युक्तस-मासे मागमेऽनुनासिके च कूलङ्कषा ॥११०॥

सर्वात्सहश्च ।५।१।१११।

सर्वात्कर्मणः परात् सहेः कषेश्च खः स्यात् । सर्वसहः । सर्व-ङ्कषः ॥१११॥

सर्वात्० 'सहि मर्षणे' सर्वं सहते इति सर्वंसहः । सर्वं कषतीति---सर्वङ्कषः ॥१११॥

भृवृजितृतपदमेश्च नाम्नि ।५।१।११२।

कर्मणः परेभ्य एभ्यः सहेश्च संज्ञायां खः स्यात् । विश्वम्भरा भूः । पतिम्वरा कन्या । शत्रुञ्जयोऽद्रिः । रथन्तरं साम । शत्रुन्तपो राजा । बलिन्दमः कृष्णः । शत्रुंसहो राजा । नाम्नीति किम् । कुटुम्बभारः ॥११२॥

भृवृ० 'भृंग् भरणे' 'डुभृंग्क् पोषणे च' चकाराद् धारणे, विश्वं भरति बिभर्ति वेति—विश्वम्भरा भूः—सा हि स्वोत्थानौषध्यादिना सर्वान् पुष्णाति धारयति च 'वृग्ट् वरणे', वृङ्श् संभक्तौ' संभक्तिः संसेवा, पतिं वृणोति वृणीते वेति पतिंवरा कन्येति—अजातविवाहसंस्कारा कन्या, सा हि पतिं वृणोति वृणीते वेति सार्थकं नाम तस्याः । शत्रून जयति—**शत्रुञ्जयोऽद्रिरिति**—"**शत्रुञ्जयो** विमलाद्रि" इत्यभिधानचिन्तामणिः, विमलगिरिप्रभावतः शुकनृपस्य विना संग्रामं शत्रूणां जयो जातस्तेन विमलगिरेः **शत्रुञ्जयेति** नाम ख्यातिमगमत् । रथं तरतीति—**रथन्तरं सामेति**—रथन्तरमिति सामवेदशाखाया नाम । शत्रुं तपतीति **शत्रुन्तपो** राजा । 'दमूच् उपशमे' अस्याकर्मकत्वाद् कर्मणः परत्वं न सम्भवतीति । न दमिरन्तर्भूतण्यर्थो ण्यन्तश्चात्र गृह्यते । उभयथापि सकर्मकत्वं युज्यत एवेति हृदयम्, बलिं दाम्यति दमयति वा—बलिन्दमः कृष्णः । शत्रुं सहतीति-शत्रुंसहो राजा । कुटुम्बं बिभर्तीति—कुटुम्बभारः इति—नेयं कस्यापि संज्ञेत्यस्याप्रवृत्त्याऽणेव भवतीति भावः ॥११२॥

धारेर्धर्च ।५।१।११३।

कर्मणः पराद्धारेः संज्ञायां खः स्यात् धारेश्च धर् । वसुन्धरा भूः ॥११३॥

धारेर्धर्च चुरादेराकृतिगणत्वात् 'धृण धारणे' इति धातुः । आदेशस्य स्पष्टतया प्रतिपत्तये रेफस्य स्थाने सूत्रे विसर्गादिर्न कृतः । वसु धारयतीति वसुन्धरा 'भूरि-ति ॥११३॥

पुरन्दरभगन्दरौ ।५।१।११४।

एतौ संज्ञायां खान्तौ निपात्येते । पुरन्दरः शक्र । भगन्दरो व्याधिः ॥११४॥

'दॄ विदारणे' अतो ण्यन्तात्, पुरो रिपूणां नगराणि, पुरं दारयतीति खे पुरन्दरः शक्रः । भग दारयतीति—भगन्दरो व्याधिः । धारे र्धर्च इतिवत् 'दारेर्दर्च' इत्येव वक्तव्ये निपातनाश्रयणं व्यर्थमिति । न । रेफान्तस्य पुरशब्दस्यामन्तताऽप्राप्तेति निपातनमावश्यकम् । एवमन्यदपि निपातनस्य फलं वेद्यम् ॥११४॥

वाचंयमो व्रते ।५।१।११५।

व्रते गम्याने वाचः कर्मणः पराद्यमेः खो वाचो ऽमन्तश्च स्यात् । वाचंयमो व्रती ॥११५॥

वाचंयमो० व्रतं शास्त्रबोधितो नियमः 'यम् उपरमे' अस्यान्तर्भावितण्यर्थत्वात् सकर्मकत्वमिति वाच यच्छति नियमयति वा वाचंयमो व्रतीति वाच उपरमणं हि तस्या नियमनमेव, सावद्यं न वदिष्यामि, निरवद्यमपि हितं मितं प्रियं च वदिष्यामि, तत्राप्येतावन्तं कालं न वदिष्यामीत्यादि संकल्परूपमिति भावः ॥११५॥

मन्याण्णिन् ।५।१।११६।

कर्मणः परान्मन्यतेर्णिन् स्यात् पण्डितमानी बन्धोः ॥११६॥

मन्याण्णिन्—। सूत्रे 'मन्यात् णिन्' इति विश्लेषः, मन्यात् इति च मन्यशब्दस्य पञ्चम्येकवचने रूपम्, 'मन्य' इति च श्यविकरणसहितो निर्देशः, तेन श्यविकरणार्हस्य "मनिच ज्ञाने" इत्यस्य ग्रहणम्, न तु तदनर्हस्य "मनुयि बोधने" इति तानादिकस्य, तदाह—परान्मन्यतेरिति ।

यद्यपि धातुनिर्देशे "इकिश्तिव्०" ।५।३।१३८। इतिश्यप्रयोजकः श्तिव् भवतीति "मन्यतेर्णिन्" इत्येव सूत्रमुचितम्, तथापि लाघवानुरोधेन सौत्रत्वात् श्तिवो लुकं कृत्वा 'मन्य, इति निर्देशः कृतः, यद्वा सौत्रत्वात् श्तिवं विनापि सविकरणो निर्देशः। पण्डितं मन्यते बन्धुमिति वाक्येऽनेन णिनि उपान्त्यवृद्धौ ङस्युक्तसमासे पण्डितमानी बन्धोरिति। बन्धुमिति त्याद्यन्तकर्मत्वात् द्वितीया, बन्धोरिति कृदन्तकर्मत्वात् षष्ठी। ननु णिनि सति गणपाठकृतस्य कस्यचन विकरणादेः प्राप्त्यभावात् यदेवं मन्यतेर्णिन्प्रत्यये कृते पण्डितमानीति "रूपं तदेव मनुतेरपीति गणविशेषपठितधातुपरिग्राहकश्यरूपविशिष्टस्य निर्देशो नावश्यक इति लाघवाय "मनो णिन्" इत्येव सूत्र्यतामिति। न। उत्तरत्र देवादिकस्य मन्यतेरेव ग्रहणं स्यात्, न तु तानादिकस्य मनुतेरित्येतदर्थं श्यनिर्देश आवश्यकः ॥११६॥

कर्तुः खश् ।५।१।११७।

प्रत्ययर्थात्कर्तुः कर्मणः परान्मन्यतेः खश् स्यात्। पण्डितम्मन्यः कर्तुरिति किम्। पटुमानी चैत्रस्य ॥११७॥

कर्तुः खश्—। प्रत्ययार्था कर्तुः कर्मणः परादिति पूर्वतोऽनुवृत्तस्य कर्मण इति पदस्य विशेष्यत्वं कर्तुश्च विशेषणत्वमित्यर्थः सम्पन्नः। कृत्प्रत्ययस्यार्थविशेषविधिं विना "कर्तरि" ।५।१।३। इति सूत्रेण कर्तरि विधानात् प्रत्ययस्य कर्त्रर्थकत्वम्, एवं च प्रत्ययार्थभूतः कर्तैव यत्र कर्मतया विवक्षितस्तात्रापि ततः परान्मन्यतेर्णिन् प्रत्ययः प्राप्तः, तद्विषयेऽनेन खश् विधीयते। पण्डितमात्मानं मन्यत इति खशि श्यविकरणे ङस्युक्तसमासे "खित्यनव्ययाo" ।३।२।१११। इति मागमेऽनुनासिके च पण्डितम्मन्यः। पटुमानी चैत्रस्येति–पटुं मन्यते चैत्रमिति वाक्यम्। अत्र च प्रत्ययार्थातिरिक्तमेव कर्म, नतु प्रत्ययार्थः कर्ता कर्मेति तत्र पटुंमन्यः चैत्रस्येति न भवति, अपि तु पटुमानी चैत्रस्येत्येकमेव, एकसूत्रत्वे कर्तुरित्यस्याभावे चात्रापि खश् स्यादेवेति भावः ॥११७॥

एजेः ।५।१।११८।

कर्मणः परादेजयतेः खश् स्यात् । अरिमेजयः ॥११८॥

कर्मणः परादेजयतेरिति—"एजृङ कम्पने" इति एज् धातुः कम्पनार्थक आत्मनेपदी, तत्र ण्यन्तस्यायं निर्देशोऽथवा शुद्धस्यैव धातुनिर्देशे विहितेन किप्रत्ययेन इप्रत्ययेन वा निर्देश इति सन्दिग्धम्, तत्र निर्णयार्थमुक्तम्—एजयतेरिति, एवं च ण्यन्तादित्यर्थोऽभिमतः । न च ण्यन्तपरिग्रहे मानाभाव इति वाच्यम्, खशः शित्त्वस्य सार्थक्यानुरोधेन तथा स्वीकारस्यावश्यकत्वात् । शित्त्वं सार्वधातुकत्वनिमित्तकः शब् यथा स्यादित्येवमर्थम्, शुद्धस्य 'एज्' धातोः शबि सत्यसति वा विशेषाभावेन, ण्यन्ते च विशेषस्य स्पष्टतया तस्यैव ग्रहणमिति स्वीकर्तव्यत्वात् । नत्र शित्त्वमुत्तरत्र चरितार्थमिति तत्सामर्थ्यादिहोक्तार्थासिद्धिरिति वाच्यम्, इहार्थवत्त्वे सम्भवति केवलमुत्तरार्थत्वस्यान्याय्यत्वात् । अरिमेजयतीति–अरिमेजयः ॥११८॥

शुनीस्तनमुञ्जकूलास्यपुष्पात् ट्धेः ।५।१।११९।

एभ्यः कर्मभ्यः ट्धेः खश् स्यात् । शुनिन्धयः । स्तनन्धयः । कूलन्धयः । आस्यन्धयः । पुष्पन्धयः ॥११९॥

"ट्धें पाने" इति टकारानुबन्धस्यानुकृतस्य 'धे' धातोः पञ्चम्येकवचने–ट्धेरिति । शुनींधयतीति खशि अयादेशे ङस्युक्तसमासे 'खित्यनव्यया०' ३।२।१११॥ इति ह्रस्वे मागमेऽनुनासिके च शुनिन्धयः ॥११९॥

नाडीघटीखरीमुष्टिनासिकावाताद् ध्मश्च ।५।१।१२०।

एभ्यः कर्मभ्यः पराद् ध्मः ट्धेश्च खश् स्यात् । नाडिन्धमः । नाडिन्धयः । घटिन्धमः । घटिन्धयः । खरिन्धमः । खरिन्धयः । मुष्टिन्धमः । मुष्टिन्धयः । नासिकन्धमः । नासिकन्धयः । वातन्धमः । वातन्धयः ॥१२०॥

"ध्मां शब्दाग्निसंयोगयोः" शब्दे मुखादिना चाग्निसंयोगे। नाडीं धम-तीति खशि 'श्मोति०" ।४।२।१०८। इति धमादेशे शवि पूर्वाकारलोपे ङस्युक्तसमासे मागमे तस्यानुनसिके ह्रस्वे च– नाडिंधमः, एवं नाडी धयतीति खशि शवि अयादेशेऽकारलोपे मागमे ह्रस्वे च नाडिन्धयः ॥ १२० ॥

पाणिकरात् ।५।१।१२१।

आभ्यां कर्मभ्यां परात् ध्मः खश् स्यात् । पाणिन्धमः । करन्धमः ॥१२१॥

पाणिं धमतीति=पाणिंधमः । करं धमतीति=करंधमः ॥१२१॥

कूलादुद्रुजोद्वहः ।५।१।१२२।

कूलात्कर्मणः पराभ्यामाभ्यां खश् स्यात् । कूलमुद्रुजः । कूल-मुद्वहः ॥१२२॥

"रुजोंत् भङ्गे" कूलं तटमुद्रुजतीति खशि तुदादित्वात् शे ङित्वाद् गुणाभावे पूर्वाकारलोपे ङस्युक्तसमासे-कूलमुद्रुजः । 'वहीं प्रापणे' कूलमुद्वहतीति खशि शवि मागमे च–कूलमुद्वहः ॥१२२॥

वहाभ्राल्लिहः ।५।१।१२३।

आभ्यां कर्मभ्यां परािल्लहः खश् स्यात् । वहंलिहः । अभ्रं-लिहः ॥१२३॥

वह लेढीति=वहंलिहः बलीवर्द इत्यर्थः । अभ्र लेढीति=अभ्रंलिहः । ॥ १२३ ॥

बहुविध्वरुस्तिलात्तुदः ।५।१।१२४।

एभ्यः कर्मभ्यः परात्तुदेः खश् स्यात् । बहुन्तुदः । विधुन्तुदः । अरुन्तुद । तिलन्तुदः ॥१२४॥

"तुदींत् व्यथने" बहु तुदतीति खशि तुदादित्वात् शविकरणे पूर्वाकार-लोपे ङित्त्वात् गुणाभावे ङस्युक्तसमासे मागमे तस्यानुनासिके च बहु-न्तुदः । एवं विधुं चन्द्रं तुदतीति–विधुन्तुदः । व्रणार्थकोऽरुस्शब्दः, अरुस्तुदतीति खशि 'खित्यनव्यया०' ।३।२।१११। इति मोन्ते 'संयोग-स्यादौ०' ।२।१।८८॥ इति स्लोपे च–अरुन्तुदः ॥१२४॥

ललाटवातशर्द्धात्तपाऽजहाकः ।५।१।१२५।

एभ्यः कर्मभ्यः परेभ्यो यथासङ्ख्यं तपाऽजहाग्भ्यः खश् स्यात् । ललाटन्तपः । वातमजः । शर्द्धञ्जहः ॥१२५॥

ललाट०—। "तपं संतापे" ललाटं तपतीति खशि शवि पूर्वाकारलोपे मागमे तस्यानुनासिके च ललाटन्तपः। "अज क्षेपणे च" चकाराद् गतौ वातमजतीति–वातमजः। अत्र "अधञ् ०" ।४।४।२। इत्यजेर्वी आदेशो न भवति, खशः शित्त्वात् "ओहांक् त्यागे" शर्धोऽपानशब्दः, तंजहातीति खशि ह्वादित्वात् द्वित्वे पूर्वहस्य जत्वे ह्रस्वे आकारस्य "इडेत्०" ।४।३।९४। इति लुकि ङ्युक्तसमासे पूर्वपदस्य मागमे तस्यानुनासिके च–शर्धञ्जहः ॥१२५॥

असूर्योग्राद् दृशः ।५।१।२६।

आभ्यां कर्मभ्यां परादृदृशेः खश् स्यात् । असूर्यम्पश्यः । उग्रम्पश्यः ॥२६॥

असूर्यो०—। "दृशृं प्रेक्षणे", सूर्यमपि न पश्यतीति–असूर्यम्पश्यः, "श्रौति०" ४।२।१०८। इति दृशः पश्यादेशः, अत्र दर्शनं प्रतिषिध्यते न तु सूर्य एव,

तस्मात् दृशिनैव तत्र सम्बन्धः, न सूर्येणेति विवक्षितार्थप्रतिपादनासहत्वम् तथापि विवक्षितार्थप्रतिपत्तिसत्त्वात् समासः ॥१२६॥

इरम्मदः ५।१।१२७।

इरापूर्वान्मदेः खश् स्यात् । इरम्मदः ॥१२७॥

इरम्मदः—। कर्मण इति निवृत्तम् । "मदैच् हर्षे" तृजादिषु प्राप्तेषु खश् निपात्यते, तत्र दिवादित्वात् श्ये प्राप्ते तदभावश्च निपात्यते, तदाह–खश्श्याभावश्च निपात्यते इति । इरा सुरा, तया माद्यतीति—इरंमदः इति—मागमह्रस्वादिकं प्राग्वदवसेयम् ॥२७॥

नग्नपलितप्रियान्धस्थूलसुभगाढ्यतदन्ताच्च्व्यर्थेऽच्वेर्भुवः खिष्णुखुकञौ ।५।१।१२८।

नग्नादिभ्यः केवलेभ्यस्तदन्तेभ्यश्चाऽच्व्यन्तेभ्यश्च्व्यर्थवृत्तिभ्यः परात् भुवः खिष्णुखुकञौ स्याताम् । नग्नम्भविष्णुः । नग्नम्भावुकः । पलितम्भविष्णुः । पलितम्भावुकः । प्रियम्भविष्णुः । प्रियम्भावुकः । अन्धम्भविष्णुः । अन्धम्भावुकः । स्थूलम्भविष्णुः । स्थूलम्भावुकः । सुभगम्भविष्णुः । सुभगम्भावुकः । आढ्यम्भविष्णुः । आढ्यम्भावुकः । तदन्तः । सुनग्नम्भविष्णुः । सुनग्नम्भावुक इत्यादि । अच्वेरिति किम् । आढ्यीभविता ॥१२८॥

नग्न०—। अनग्नो नग्नो भवतीति खिष्णौ "नामिनो०" ।४।३।१। इति गुणेऽवादेशे ङस्युक्तसमासे "खित्यनव्या०" ।३।१।१११। इति मागमे "तौ मुमो०" ।१।३।१४। इति सूत्रेणानुनासिके नग्नम्भविष्णुरिति, खुकञि तु "नामिनोऽकलि०" ।४।३।५१। इति वृद्धावावादेशे च नग्नम्भावुकः एवम्–अपलितःपलितो भवतीति पलितम्भविष्णुः, पलितम्भावुकः । एवं सर्वत्र वाक्यं विज्ञेयम् । आढ्यीभवितेति–पूर्वं नाढ्य आढ्यो भवतीति

"कृभ्वस्ति०" ।७।२।१२६। इति च्वौ "इश्च्वाववर्णं०" ।४।३।१११।। इत्यवर्णस्येकारे—आढ्यीभविता, क्विप्वत् च्वेः, सर्वापहारः अत्र च्व्यन्तत्वादस्याप्रवृत्त्या तृच् भवति । ननु शब्दस्वरूपं विशेष्यमाश्रित्य तदन्तविध्याश्रयणेनैव सिद्धे तदन्तग्रहणस्य सूत्रे वैयर्थ्यमिति । न । 'उपपदविधिषु तदन्तविधिरनाश्रित" इति ।।१२८।।

कृगः खनट् करणे ।५।१।१२९।

नग्नादिभ्योऽच्व्यन्तेभ्यश्च्व्यर्थवृत्तिभ्यः परात् कृगः करणे खनट् स्यात् । नग्नङ्करणं द्यूतम् । पलितङ्करणम् । प्रियङ्करणम् । अन्धङ्करणम् । स्थूलङ्करणम् । सुभगङ्करणम् । आढ्यङ्करणम् । सुनग्नङ्करणम् । च्व्यर्थ इति किम् । नग्नङ्करोति द्यूतेन ।।१२९।।

कृगः०—। 'करणे' इति "कर्तरि०" ।५।१।३। इत्यस्यापवादः । अनग्नो नग्नः क्रियतेऽनेनेति करणार्थेऽनेन खनटि गुणे ङस्युक्तसमासे पूर्वपदस्य मागमेऽनुनासिके च नग्नङ्करणं द्यूतमिति । एवं सर्वत्र बोध्यम् ।।१२९।।

भावे चाशिताद् भुवः खः ।५।१।१३०।

आशितात्परा द्भुवो भावाकरणयोः खः स्यात् । आशितम्भवस्ते । आशितम्भव ओदनः ।।१३०।।

भावे०—। भावे चेति चकारेण करणरूपार्थः समुच्चीयते, तदाह--भावकरणयोरिति । पूर्वं भावमुदाहरति—आशितम्भवस्ते इति--आशितेन तृप्तेन भूयते त्वयेतिवाक्यम, तत्र त्याद्यन्तकर्तृत्वात् 'त्वया' इत्यत्र कर्तरि तृतीया । उदाहरणे 'ते' इत्यत्र कृदन्तकर्तृत्वात् षष्ठी । करणे उदाहरणमाह—आशितम्भव ओदनः--अत्र खेन करणस्योक्तत्वात् प्रथमा, आशितो भवत्यनेनेति वाक्यम, 'अनेन' इति करणे तृतीया । सूत्रे 'आशिताद्' इति निर्देशेन अशश् भोजने" इत्यशन्तेः सकर्मकादपिकर्तहि क्तप्रत्ययो दीर्घत्वं च निपात्यते । अथवा आङ्पूर्वादविवक्षितकर्मकादश्नातेः 'गत्यर्थां०'

।५।१।११। इति कर्तरि क्ते—आशित इति । "तृप्ते त्वाघ्रातसुहिताऽऽशिता" इत्यभिधानचिन्तामणिवचनात् आशितः—तृप्त इत्यर्थः ॥१३०॥

नाम्नो गमः खड्डौ च विहायसस्तु विहः।५।१।१३१।

नाम्नः पराद् गमेः खड्डखाः स्युः विहायसो विहश्च । तुरङ्गः । तुरगः । विहङ्गः । विहगः । तुरङ्गमः । विहङ्गमः । सुतङ्गमो मुनिः ॥ १३१ ॥

नाम्नो०--। 'गमेः' इति "गम्लृ गतौ" इति गम्धातोरित्यर्थः। अत्र चकारेण पूर्वोक्तः खः समुच्चीयते इति प्रत्ययत्रयस्य विधानम्। खकारः "खित्यनव्यया०" ।३।२।१११। इति मागमार्थः। डकारो 'डित्यन्त्यस्वरादेः' ।२।१।११४। इति अन्त्यस्वरादिलोपार्थः । तुरः त्वरमाणो गच्छतीति णडि आन्त्यस्वरादिलोपे पूर्वस्य मागमे तस्यानुनासिके ग—तुरङ्ग डे तु तुरगः। विहायसा--अकाशेन गच्छतीति खडि विहादेशे च विहङ्गः। तुरङ्गम इति-अत्र खप्रत्ययः ॥३१॥

सुगदुर्गमाधारे।५।१।१३२।

सुदुर्भ्या पराद् गमेराधारे डः स्यात् । सुगः । दुर्गः पन्थाः ।१३२।

सुगदुर्ग०--। आधारार्थेऽनटो बाधनार्थमिदं सूत्रमिति 'सुदुर्भ्या०' इत्येवमेव सूत्र्यतामलं निपातनेनेति चेत् ? न-त्सन्नियोगशिष्टतया खट्प्रत्ययोऽप्यनुवर्तेत, स, न नेष्टः, निपातनस्येष्टविषयत्वात् ड एव निपातितः, तथा च निपातनमुखेन डप्रत्ययो विधीयते इति भावः। सुखेन दुःखेन च गम्यतेऽस्मिन्निति—सुगः, दुर्गः पन्थाः ॥१३२॥

निर्गो देशे ।५।१।१३३।

निः पूर्वाद् गमेराधारे देशे डः स्यात् । निर्गो देशः ॥१३३॥

निर्गो०—। "आधारे" इति पूर्वत्र निपातनार्थसम्बद्धमिहाप्यनुवर्तते। यद्यपि 'देश' इति कथनेनैवाधारार्थस्य प्रतीति-र्भवति तथापि कर्मण्यपि प्रत्ययविधाने देशस्य वाच्यता सम्भवतीति तन्निराकरणायाधारपदानुवृत्तिमाश्रित्याह—आधारे देशे डः स्यादिति ॥१३३॥

शमो नाम्न्यः ।५।१।१३४

शमो नाम्नः पराद्धातोः संज्ञायामः स्यात्। शम्भवोऽर्हन्। नाम्नीति किम्। शंकरी दीक्षा ॥१३४॥

शमो०—। शमित्यव्ययं सुखे वर्तते, भवति तत्र शम्भवोऽर्हन्निति—सुख एव तिष्ठति न कदाचिद् दुःख इति भावः। शङ्करी दीक्षेति—अयमाशयः—नाम्नीति नामपदेन यदर्थे यस्य रूढिः स एवार्थो गृह्यते, 'शङ्करी दीक्षे'त्यत्र तु शङ्करशब्दो विशेषणत्वेन प्रयुक्त इति नात्र नामत्वं तस्येति टे स्त्रियां ङीर्भवतीति, नामग्रहणाभावेऽप्यप्रत्यये शङ्करेति स्यादिति।१३४।

पार्श्वादिभ्यः शीङः ।५।१।१३५।

एभ्यो नामभ्यः पराच्छीङो अः स्यात्। पार्श्वशयः ॥१३५॥

पार्श्वा०—। "शीङ्क्स्वप्ने" पार्श्वाभ्यां शेते इति प्रकृतसूत्रेणाप्रत्यये गुणेऽयादेशे ङस्युक्तसमासे च—पार्श्वशयः आधारभिन्नार्थात् परत्वे प्रत्ययविधानार्थ आरम्भः, आधारार्थात् परत्वे च "आधारात्" ।५।१।३७॥ इति परसूत्रेण सिद्धिरिति ॥१३५॥

ऊर्द्ध्वादिभ्यः कर्तुः ।५।१।१३६।

एभ्यः कर्तृवाचिभ्यः पराच्छीङो अः स्यात्। ऊर्ध्वशयः उत्तानशयः ॥१३६॥

ऊर्ध्वा०—। ऊर्ध्वं स्थितः शेते इति ऊर्ध्वंशयः, निद्रापञ्चकमध्ये प्रचलाभिधनिद्रामनु भवत्ययम् । उत्तानः शेते इति—उत्तानशयः, यद्यपि गभीरविपर्यये सर्वथाप्रसृततया दृश्यमानः उत्तानशब्दः कोशादिषु पठ्यते, तथापि उत्तानशय ऊर्ध्वमुखं विधाय पृष्ठभरेण शयाने जने प्रयुज्यत इति 'उत्तानशये' स एवोत्तानशब्दो ग्राह्यः, उत्तानशयशब्दश्च बाले रूढः 'स्यादुत्तानशयो डिम्भः" इति कोशः ॥१३६॥

आधारात् ।५।१।१३७।

आधारान्नाम्नः पराच्छीङो अः स्यात् । खशयः ॥१३७॥

आधारात्—। खे—अनावृतप्रदेशे शेते इति खशयः ॥१३७॥

चरेष्टः ।५।१।१३८।

आधारात् परात् चरेष्टः स्यात् । कुरुचरी ॥१३८॥

चरेष्टः—। कुरुषु चरतीति-कुरुचरी ॥१३८॥

भिक्षासेनादायात् ।५।१।१३९।

एभ्यः परात् चरेष्टः स्यात् । भिक्षाचरी । सेनाचरः । आदायचरः ॥१३९॥

भिक्षा०—। ननु पूर्वेणैव सिद्धेऽस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यमिति । न । पूर्वसूत्रस्याधारोपपदत्व एव प्रवृत्तिः, अस्य चाधारेऽनाधारे चोपपद इति तदर्थमिदं सूत्रम् । भिक्षां चरतीति=भिक्षाचरीति=चरतिरिह चरणपूर्वकेऽर्जके वर्तते प्रसिद्धार्थस्य गमनस्य तत्रान्वितत्वात्, तथा च भिक्षां चरतीत्यस्य चरणेन भिक्षामर्जयतीत्यर्थः । सेनां चरति=परीक्षते इति=सेनाचरः, तापसव्यञ्जनोऽयम् वा । यो हि तापसरूपं कृत्वा सेनायां परि-

भ्रम्य तत्र प्रवर्तमानं कार्यं जानाति स तापसव्यञ्जन उच्यते सेनया चरति वा सेनाचरः । आदाय=गृहीत्वा चरति=आदायचरः, आदानं कृत्वा चरतीत्यर्थः, दाधातुर्यद्यपि सकर्मकस्तथापि कर्मणोऽत्राविवक्षितत्वम् ॥१३९॥

पुरोऽग्रतोऽग्रे सर्त्तेः ।५।१।१४०।

एभ्यः परात्सर्त्तेष्टः स्यात् । पुरःसरी । अग्रतःसरः । अग्रेसरः । ॥ १४० ॥

पुरो०—। पुरः सरतीति टे टित्वाद् ङीप्रत्यये पुरःसरी । अग्रतः सरति अग्रतःसरः, 'अग्रतस्'—शब्दे "आद्यादिभ्यः" ।७।२।८४॥ इति तस् प्रत्ययः । अग्रे सरतीति-अग्रेसरः, सप्तम्यलुप् एकारान्तमव्ययं वा । ॥ १४० ॥

पूर्वात् कर्तुः ।५।१।१४१।

पूर्वात् कर्तृवृत्तेः परात् सर्त्तेष्टः स्यात् । पूर्वसरः । कर्तुरिति किम् । पूर्वसारः ॥१४१॥

पूर्वात् कर्तुः—। पूर्वः सरतीति—पूर्वसरः, पूर्वो भूत्वा सरतीत्यर्थः । पूर्वं देशं सरति-पूर्वसारः इति=अत्र कर्मणः परत्वादस्याप्रवृत्त्या 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यणेव भवतीत्यर्थः ॥१४१॥

स्थापास्नात्रः कः ।५।१।१४२।

नाम्नः परेभ्य एभ्यः कः स्यात् । समस्थः । कच्छपः । नदीष्णः । धर्मत्रम् । १४२॥

स्थापा०=। 'ष्ठां गतिनिवृत्तौ' समे=अविषमे तिष्ठतीति के 'इडेत्पुसि०' ।४।२।६४।। इत्याकारलोपे=समस्थः । कच्छः=अनूपप्रायः कूर्मपादो वा, 'पांक् रक्षणे' कच्छं पिबतीति कच्छपः, 'ष्णांक् शौचे' नद्यां स्नातीति=नदीष्णः=तरणे कौशलमत्र गम्यते, 'निनद्याः' ।२।३।२०।। इति सस्य षः । 'त्रैङ् पालने' धर्मात् त्रायते रक्षतीति=धर्मत्रम् ।। १४२ ।।

शोकापनुदतुन्दपरिमृजस्तम्बेरमकर्णेजपं प्रियालसहस्ति-सूचके ।५।१।१४३।

एते यथासङ्ख्यं प्रियादिष्वर्थेषु कान्ता निपात्यन्ते । शोकापनुदः प्रियः । तुन्दपरिमृजोऽलसः । स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णेजपोऽति-खलः । एष्विति किम् । शोकापनोदो धर्माचार्यः ।।१४३।।

शोकापनुदः=। निपात्यन्ते इति=यद्यपि निपातनमलाक्षणिककार्यला-भार्थमेवाश्रीयते, अत्र च सर्वत्र न किञ्चिदलाक्षणिकं कार्यं प्रार्थनीयम्, तुन्दपरिमृजे वृद्धभावोऽपि पक्षे सिद्ध एव तथाप्यर्थविशेष एषां प्रयोग-नियमार्थमेव निपातनीयमिति मन्तव्यम् । 'णुदंत् प्रेरणे' शोकमपनु-दतीति=शोकापनुदः प्रियः, शोकस्याहर्ता शोकस्यावकाशमेव न ददाति पुत्रादिप्रिय इति स शोकापनुदः कथ्यते । 'मृजौक् शुद्धौ' तुन्दम्=उदरं परिमार्ष्टीति=तुन्दपरिमृजोऽलसः इति=यः किञ्चित् कार्य—मकृत्वा सततमुदरभरणे दत्तचित्तस्तिष्ठति स एव=मुच्यते, आलस्ययुक्त इत्यर्थः । 'रमि क्रीडायाम्' स्तम्बे रमते=स्तम्बेरमो हस्तीति=दर्भादितृण-निचयनिर्मितो हस्तिभक्ष्यः स्तम्बः, तत्र रमते=भक्षयन्नानन्दमनुभवति यः सः । 'जप मानसे च' मनोनिर्वर्त्ये वचने, चकारात् व्यक्ते वचने, कर्णे जपति सूचयतीति=कर्णेजपोऽतिखल इति=मा कश्चिदन्य शृणोत्विति कर्णे सूचयति यः सः । शोकापनोदो धर्माचार्यः इति यः संसार-सांसारिक भोगाद्यनित्यत्वादिकं सयुक्तिक—मुपदिश्य शोकं नाश-यति, न तु सुखमाहरति, शोकापनोद एवेति तत्रायं मा भूदिति ।।१४३।।

मूलविभुजादयः ।५।१।१४४।

एते कान्ता यथादर्शनं निपात्यन्ते । मूलविभुजो रथः । कुमुदं कैरवम् ॥१४४॥

'भुजोंत् कौटिल्ये' मूलानि विभुजतीति-मूलविभुजो रथः-धातोरूपसर्गबला-न्मर्दने वृत्तिः, तथा च विभुजतीत्यस्य विमर्दयतीत्यर्थः 'मुदि हर्षे' कुः पृथिवी, तत्र मोदते इति—कुमुदं कैरवम् ॥१४४॥

दुहेर्डुघः ।५।१।१४५।

नाम्नः पराद् दुहेर्डुघः स्यात् । कामदुघा ॥१४५॥

दुहेर्डुघः—"दुहींक् क्षरणे" कामान्—अभिलाषान् दुग्धे—पूरयतीति कामदुघा, कामक्षरणमिह कामपूरणार्थे पर्यवसितमिति, धातूनामनेकार्थत्वमिति वेति पूरयतीत्युक्तम्, डुघे डकारस्येत्त्वात् 'डित्यन्त्यस्वरादे': ।२।१।१४४। इत्यन्त्यस्वरादिलोपार्थः ॥१४५॥

भजो विण् ।५।१।१४६।

नाम्नः पराद् भजेर्विण् स्यात् । अर्द्धभाक् ॥१४६॥

भजो विण्–'भजीं सेवायाम्' अर्धं भजते इति विणि तस्य 'अप्रयोगीत्' ।१।१।३७। इति लोपे प्रत्ययत्वात् णित्त्वाच्चोपान्त्य-वृद्धौ ङस्युक्तसमासे 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति जस्य गत्वे 'विरामे वा' ।१।३।५१। इति कत्वे—अर्धभाक् । ननु विणि वर्णत्रयम् तस्य प्रयोगेऽदृश्यतया 'अप्रयोगीत्' ।१।३।३७। इतीत्संज्ञा लोपश्चेति विण्प्रत्ययस्यांशेनापि प्रयोगेऽदर्शनात् तस्य प्रत्ययत्वेन विधानमपार्थकमिति चेद् । उच्यते—णकारो वृद्ध्यर्थः, इकार उच्चारणार्थः । वकारो विण्-क्विपोः सारूप्यार्थस्तेनात्रविषये 'असरूपो०' ।५।१।१६। इति प्राप्तः क्विप् न भवति ॥१४६॥

मन्वन्क्वनिप्विच् क्वचित् ।५।१।१४७।

नाम्नः पराद्धातोरेते यथालक्ष्यं स्युः । मन्-इन्द्रशर्मा । वन्-विजावा । क्वनिप्-सुधीवा-विच् । शुभंयाः ॥१४७॥

मन्-वन्०--'क्वचिदि' त्यस्यार्थमाह--यथालक्ष्यमिति--यथालक्ष्यं कस्माच्चिद्धातोः सर्वे प्रत्ययाः पर्यायेण भवन्ति, कस्माच्चिदेक एव द्वौ वा त्रयो वेयत्थः । इन्द्रं शृणातीति मनि-इन्द्रशर्मेति, 'शृ॒श् हिंसायाम्' इति धातुः । "जनैचि प्रादुर्भावे" विजायते इति विजावा, 'वन्याङ् पञ्चमस्य' ।४।२।६। इत्याप् । शोभनं दधातीति-सुधीवा । शुभं विभक्त्यन्तप्रतिरूपकमव्ययम्, 'यांक् प्रापणे' शुभं यातीति--शुभंयाः ककारपकारौ कित्पित्कार्यार्थौ ॥१४७॥

क्विप् ।५।१।१४८।

नाम्नः पराद्धातोर्यथालक्ष्यं क्विप् स्यात् । उखास्रत् ॥१४८॥

क्विप्--। पूते वर्तमान उखशब्दः पुंस्त्री, स्थाल्यां नित्यस्त्रीति वैयाकरणा मन्यन्ते, "संसृङ् प्रमादे" प्रमादोऽवलेपः, "स्रंसूङ् अवस्रंसने" उखेन उखया वा स्रंसते इति क्विपि "नो व्यञ्जनस्यानुदितः" ।४।२।२५। इति नकारस्यानुस्वारस्थानिनो लोपे "स्रंसुध्वंस्" ।२।१।६८। इत्यत्र स्राहचर्यानाश्रयणाद् ध्वुतादेस्तदन्यस्य च स्रंसुधातोः सकारस्य दत्वे तत्वेच-उसास्रत् । ककारप्रकारौ कित्पित्कार्यार्थौ । इकार उच्चारणार्थः ॥१४८॥

स्पृशोऽनुदकात् ।५।१।१४९।

उदकवर्जान्नाम्नः परात् स्पृशो स्पृशेः क्विप् स्यात् । घृतस्पृक् । अनुदकादिति किम् । उदकस्पर्शः ॥१४९॥

स्पृशो०-। "स्पृशंत् संस्पर्शे" घृतं स्पृशतीतिक्विपि तस्य लोपे ङस्युक्तसमासे "यजसृज०" ।२।१।८७। इति षत्वापवादे "ऋत्विज्० ।२।१।६९। इति

शस्य गत्वे तस्य "विरामे वा" ।१।३।५१। इति कत्वे—घृतस्पृक् । उदक-स्पर्शः इति—उदकं स्पृशतीति 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यणि उपान्त्यगुणे ङस्युक्तसमासे उदक स्पर्शः । अनुदक इति-पर्युदासाश्रयणादुदकसदृशमनुप-सर्गं नाम गृह्यते, तेनेह न भवति—उपस्पृशति ।।१४९।।

अदोऽनन्नात् ।५।१।१५०।

अन्नवर्जान्नाम्नः परादद्देः क्विप् स्यात् । आमात् । अन्नादि-ति किम् । अन्नादः ।।१५०।।

अदोऽन्नात्०—। क्विप्सिद्धोऽन्नप्रतिषेधार्थं वचनम् । "अदंक् भक्षणे" आम-मत्तीति—आमात् ।।१५०।।

क्रव्यात्क्रव्यादावामपक्वादौ ।५।१।१५१।

एतौ यथासङ्ख्यमामात् पक्वादर्थौ क्विबण्न्तौ साधू स्तः । क्रव्यात् आममांसभक्षः । क्रव्यादः पक्वमांसभक्षः ।।१५१।।

क्रव्यात्०—। आमात्पक्वादथाविति—आमामत्तीति-आमात्,पक्वमत्तीति पक्वात् तादृशार्थौ चेत् भवत इति भावः । क्रव्यमत्तीति-क्रव्यात्,अत्र क्विप्, अर्थमाह—आममांस-भक्ष इति । क्रव्यादः पक्वमांस-भक्ष इति—अत्राण् आममांसवाच्यपि क्रव्यशब्दः 'क्रव्याद' इति निपातनसामर्थ्यात् वृत्तौ पक्व मासे वर्तते । अथवा कृतविकृत्तशब्दस्य पक्वमांसार्थस्य पृषोदरादित्वात् क्रव्यादेशः । अत्र कृत्तविकृत्तमत्तीति वाक्यम् । सिद्धौ प्रत्ययौ विषयनिय-मार्थं वचनम् ।।१५१।।

त्यदाद्यन्यसमानादुपमानाद्व्याप्येदृशष्टक्सकौ च ।५।१।१५२।

एभ्य उपमानेभ्यो व्याप्येभ्यःपराद् दृशेर्व्याप्य एव टक्सकौ, क्विप्

च स्युः । त्यादृशः । त्यादृक्षः । त्यादृक् । अन्यादृशः । अन्यादृक्षः । अन्यादृक् । सदृशः । दृक्षः । सदृक् । व्याप्य इति किम् । तेनेव दृश्यते ॥१५२॥

त्यदाद्यन्य०—। व्याप्ये व्याप्येभ्यः पराद् दृशेर्व्याप्य एवेति—सूत्रस्थ-व्याप्यशब्दस्य देहलीदीपकन्यायेनोभयोर्विशेषणत्वमिति भावः, तथा सोपपदस्यापि कर्मणि वर्तमानत्वमपेक्षितम्, प्रत्ययार्थोऽपि कर्मैव, अन्यथा कृत्प्रययत्वेन कर्तरि प्रसङ्गः स्यात् । "दृशृं प्रेक्षणे" 'त्यत्' शब्दः सर्वादिः, स्य इव दृश्यते इति टकि-त्यादृशः इति । इवार्थं उपमानमुपपदार्थेन्तर्भूतमिति तत्र वर्तमानत्वं त्यदादेः, 'अन्यत्यदादेराः' ।३।२।१५२। इति सूत्रेणान्यशब्दस्य त्यदादेश्च दृगादावुत्तरपदे आः स्यात् । टकि टकारो ङ्यर्थः, ककारो गुणाभावार्थः । सकि त्यादृक्षः--अत्र धातुशकारस्य "यज-सृज०' ।२।१।८७। इति षः, तस्य 'षढोः कः सि' ।२।१।६२। इति ककारः, प्रत्ययसकारस्य 'नाम्यन्तस्था' ० ।२।३।१५। इति षकारः, सकि ककारोऽनुबन्धो गुणाभावार्थः । क्विपि तु त्यादृक् इति–अत्र शस्य 'ऋत्विज्'० ।२।१।६६। इति गः, तस्य "विरामे वा" ।१।३।५१। इति ककारः । सदृश इत्यादि—'अत्र हक्दृशदृक्षे'।३।२।५१ इति सामान्य शब्दस्यसादेशः वचनभेदान्नात्र यथासंख्यम् ॥१५२॥

कर्तुर्णिन् ।५।१।१५३।

कर्त्रर्थादुपमानात्पराद्धातोर्णिन् स्यात् । उष्ट्रक्रोशी ॥१५३॥

कर्तुर्णिन्—"कर्तरि" ।५।१।३। इति णिन्प्रत्ययः कर्तरि । 'क्रुशं आह्वानरोदनयोः' उष्ट्र इव क्रोशतीति—उष्ट्रक्रोशी अशीलार्थो जात्यर्थश्चारम्भ ॥१५३॥

अजातेः शीले ।५।१।१५४।

अजात्यर्थानाम्नः पराच्छीलार्थाद्धातोर्णिन् स्यात् उष्णभोजी । प्रस्थायी । अजातेरिति किम् । शालीन् भोक्ता । शील इति किम् । उष्णभोजो मन्दः ॥१५४॥

अजाते:०—उष्णं भुङ्क्ते इत्येवंशील:—उष्णभोजी 'भुजंप् पालनाभ्यवहारयो:' इति धातु: । अजातेरिति प्रसज्यप्रतिषेधादसत्त्ववाचिनोऽप्युपसर्गाद्भवत्यतः उदाहरति—प्रस्थायीति—'ष्ठां गतिनिवृत्तौ' प्रतिष्ठते इत्येवंशील इति णिनि 'आत ऐ: ।४।३।५३। इत्याकारस्य ऐकारे तस्य चायादेशे-प्रस्थायी । शालीन् भोक्ता इति—अत्र शालेर्जातित्वान्नानेन प्रत्यय:, किन्तु शीलार्थे 'तन् शीलधर्मसाधुषु' ।५।२।२७। इति तृन्प्रत्यय:, अस्य कृत्त्वेपि न तत्कर्णि षष्ठी तृन्नुदन्ता०' ।२।२।६०। इति निषेधात्, किन्तु 'कर्मणि' ।२।२।४०। इति द्वितीया । उष्ण भोजो मन्द: इति—मन्दत्वात् पथ्यायोष्णं भुङ्क्ते, न तु तथास्वभाव इत्यस्याप्रवृत्त्या 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यणेव भवतीति भाव: ॥१५४॥

साधौ ।५।१।१५५।

नाम्नः परात्साध्वर्थाद्धातोर्णिन् स्यात् । साधुकारी ॥१५५॥

साधौ—अशीलार्थ आरम्भ: । 'डुकृंग् करणे' साधु करोतीति णिनि, वृद्धौ, ङस्युक्तसमासे च—साधुकारी ॥१५५॥

ब्रह्मणो वदः ।५।१।१५६।

ब्रह्मणः पराद्वदेर्णिन् स्यात् । ब्रह्मवादी ॥१५६॥

ब्रह्मणो०—"अयमाथशीलार्थ आरम्भ' जात्यर्थोऽसरूपविधिनिवृत्त्यर्थश्च 'वद व्यक्तायां वाचि' ब्रह्म-वेदं जगद्विवर्तकारणं वा ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं वा वदतीति णिनि उपान्त्यवृद्धौ ङस्युक्तसमासे च—ब्रह्मवादी ॥१५६॥

व्रताभीक्ष्ण्ये ।५।१।१५७।

अनयोर्गम्यमानयो र्नाम्नः पराद्धातोर्णिन् स्यात् । स्थण्डिलवर्त्ती । क्षीरपायिण उशीनराः ॥१५७॥

व्रताऽऽभीक्ष्ण्येव्रतं शास्त्रितो नियमः, आभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यम् । 'वृतुङ् वर्तने' स्थण्डिले वर्तत इति-स्थण्डिलवर्ती । पां पाने पुनः पुनः क्षीरं पिबन्तीति णिनि आत ऐकारे, आयादेशे च 'देशे' ।२।३।७०। इति नस्य णत्वे क्षीरपाणिण उशीनराः, उशीनरा उशीनरनामक देशवासिनो जनाः । अशीलार्थं जात्यर्थं च वचनम् ॥१५७॥

करणाद्यजे भूते ।५।१।१५८।

करणार्थान्नाम्नः पराद्भूतार्थात् यजेर्णिन् स्यात् । अग्निष्टोमयाजी ॥१५८॥

करणाद्०-'यजीं देवपूजासंगतिकरणदानेषु' अग्निष्टोमेनेष्टवानिति णिनि, उपान्त्यवृद्धौ, ङस्युक्तसमासे च-अग्निष्टोमयाजी, अग्निष्टोमस्तोत्रेण समाप्यमानो यो यागः स लक्षणयाऽग्निष्टोमस्तेनापूर्वं भावितवानित्यर्थः ॥१५८॥

निन्द्ये व्याप्यादिन्विक्रियः ।५।१।१५९

व्याप्यान्नाम्नः परात् भूतार्थाद्विक्रियः कुत्से कर्त्तरीन् स्यात् । सोमविक्रयी । निन्द्य इति किम् । धान्यविक्रायः ॥१५९॥

निन्द्ये०—"कुत्स्ये कर्तरीति—यत्कर्म क्रीणातिक्रियया सम्बध्यमानं कर्तुः कुत्सामावहति तत्रेत्यर्थः । 'डुक्रींगृश् द्रव्यविनिमये' विनिमयः परिवर्तः, सोमं विक्रीतवानितीनि गुणेऽयादेशे, ङस्युक्तसमासे च-सोमविक्रयी । धान्य विक्राय इति—अत्र 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यणेव भवति । विक्रयणमलि विक्रयः, सोमस्य विक्रयः-सोमविक्रयः, सोऽस्यास्तीति विग्रहे मत्वर्थीय इनि सोमविक्रयीत्यादीनां सिद्धावपि तत्र कुत्सायाः प्रतीतिर्न स्यात्, कथञ्चित् सत्यामपि तत्प्रतीतौ सोमं विक्रीणातीत्यर्थेऽणेव स्यादिति तद्बाधनार्थमिदं सूत्रमावश्यकम्, अन्यथा वाऽसरूपन्यायेन सत्यपि सूत्रे पक्षेऽण् स्यात्, 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' इति न्यायेन तद्बाधनार्थमिदं सूत्रम् ॥१५९॥

हनो णिन् ।५।१।१६०।

व्याप्यान्नाम्नः परात् भूतार्थाद्धन्ते निन्द्ये कर्त्तरि णिन् स्यात् । पितृघाती ॥१६०॥

हनो णिन्—। "हनंक् हिंसागत्योः" पितरं हतवानिति "ञ्णिति घात्" ४।३।१००। इति पितृघाती । हननंघातः, पितुर्घातः पितृघातः, सोऽस्यास्तीत्यर्थे मत्वर्थीय इन् प्रत्ययः, तथा च पितृघातीति रूपसिद्धिर्यद्यपि भवति तथापि तादृशप्रयोगस्य निन्दार्थमात्रे नियमार्थं सूत्रम् ॥१६०॥

ब्रह्मभ्रूणवृत्रात् क्विप् ५।१।१६१।

एभ्यः कर्मभ्यः पराद्भूतार्थाद्धन्तेः क्विप् स्यात् । ब्रह्महा । भ्रूणहा । वृत्रहा ॥१६१॥

ब्रह्म०--। ब्रह्माणं हतवानिति क्विपि--ब्रह्महा, एवंभ्रूणहा ।'क्विप्०' ,वृत्रहा ।५।१।१४८। इत्यनेनैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्, चतुर्विधश्चात्र नियमः, ब्रह्मादिभ्यः एव हन्तेर्भूते क्विप् नान्यस्मात्, तथा ब्रह्मादिभ्यो हन्तेरेव भूतेनान्यस्माद्धातोः क्विप्, तथा ब्रह्मादिभ्यो हन्तेर्भूते क्विबेव नान्यःप्रत्ययः, तथा ब्रह्मादिभ्यो हन्तेर्भूत एव काले क्विप नान्यस्मिन्निति ब्रह्मादिभ्यो हन्तेर्भूते क्विबेव नान्य इति नियमेन क्विपाऽणादिरेव बाध्यते न क्तक्तवतू, मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इति हि न्यायः ॥१६१॥

कृगः सुपुण्यपापकर्ममन्त्रपदात् ।५।१।१६२।

सोः पुण्यादेश्च कर्मणः परात् भूतार्थात् कृगः क्विप् स्यात् । सुकृत् । पुण्यकृत् । कर्मकृत् । मन्त्रकृत् । पदकृत् ॥१६२॥

कृगः सुपुण्य०—। "डुकृंग् करणे" सुष्ठु कृतवानिति क्विपि तस्य लोपे प्रत्ययलक्षणन्यायेन "ह्रस्वस्य तः पित्कृति०" ।४।४।११३। इति तागमे

सुकृत् । इदमपि नियमार्थं वचनम् । त्रिविधश्चात्र नियमः । एभ्य कृञ एव भूते क्विप् नान्यस्माद् धातोः, तथा एभ्यः कृञो भूत एव क्विप्, तथा एभ्यः परस्तु कृञो भूते क्विबेव नान्यः प्रत्ययः ॥१६२॥

सोमात्सुञः ५।१।१६३।

सोमाद्व्याप्यात्परात् भूतार्थात् सुञः क्विप् स्यात् । सोमसुत् ॥१६३॥

सोमात्०—। "षुंगट् अभिषवे" अभिषवः क्लेदनं सन्धानाख्यं पीडनमन्थने वा सोमं सुतवानिति क्विपि तागमे च–सोमसुत् । अयमपि नियमार्थो योगः । चतुर्विधश्चात्र नियमः । सोमादेव, सुञ एव, भूत एव, क्विबेवेति ॥१६३॥

अग्नेश्चेः ।५।१।१६४।

अग्नेर्व्याप्यात्परात् भुतार्थाच्चेः क्विप् स्यात् । अग्निचित् ॥१६४।

अग्नेश्चेः—। "चिगट् चयने" अग्नि चितवानिति क्विपि तागमे च अग्नि-चित् । अत्रापि चतुर्विधो नियमः । अग्नेरेव, चेरेव, भूत एव, क्विबेवेति ॥१६४॥

कर्मण्यग्न्यर्थे ।५।१।१६५।

कर्मणः परात् भूतार्थाच्चेः कर्मण्यग्न्यर्थे क्विप् स्यात् । श्येनचित् ॥१६५॥

कर्मण्य०—। कर्मण्यग्न्यर्थ इति—कर्मैवोपपदं तदेव च प्रत्ययार्थः, तच्च कर्माग्निनिमित्तकं चेद् भवेदिति समुदितोऽर्थः । श्येन इव चीयते स्मेति

क्विपि, तागमे, ङस्युक्तसमासे च श्येनचित्, श्येनाकारतया निर्मित इति भावः । बहुलाधिकाराद्दृढिविषय एवायं द्रष्टव्यः ॥१६५॥

दृशः क्वनिप् ।५।१।१६६।

व्याप्यात्परात् भूतार्थात् दृशेः क्वनिप् स्यात् । बहुदृश्वा ॥१६६॥

दृशः क्वनिप्—। दृशृं ईक्षणे" बहून् दृष्टवानिति क्वनिपि कित्त्वात् गुणाभावे बहुदृश्वा 'मन्वन्०' ।५।१।१४७। इति क्वनिपि सिद्धे भूतकाले प्रत्ययान्तरबाधनार्थं वचनम् ॥१६६॥

सहराजभ्यां कृग्युधेः ।५।१।१६७।

आभ्यां कर्मभ्यां परात् भूतार्थात् कृगो युधेश्च क्वनिप् स्यात् । सह कृत्वा । सहयुध्वा । राजकृत्वा । राजयुध्वा ॥१६७॥

सहराज०—। प्रत्ययान्तरबाधनार्थोऽयं योगः । वचनभेदेन निर्देशादिह न यथासंख्यमित्याह—आभ्यां कर्मभ्यामित्यादि । क्वनिपि ककारः कित्कार्यगुणाभावार्थः, पकारः पित्कार्यतागमार्थः, इकार उच्चारणार्थः, 'वन्' इत्यवशिष्यते । 'डुकृंग् करणे' सह कृतवानिति—सहकृत्वा । 'युधिच् सम्प्रहारे' सह युद्धवानिति—सहयुध्वा । राजानं कृतवान्, राजानं योधितवानिति-राजकृत्वा, राजयुध्वा । युधिरत्रान्तर्भूतण्यर्थः सकर्मकः ॥१६७॥

अनोर्जने डः ।५।१।१६८।

कर्मणः परादनुपूर्वात् भूतार्थाज्जनेर्डः स्यात् । पुमनुजः ॥१६८॥

अनोर्जनेर्डः— । 'जनैचि प्रादुर्भावे' डप्रत्यये डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः, अकारोऽवशिष्यते । पुमांसमनुजात इति डेऽन्त्यस्वरादिलोपे ङस्युक्तसमासे

च पुमनुजः इति—यस्याग्रजः पुमान् स एवमुच्यते। अनुपूर्वो जनिर्जननो-पसर्जनायां प्राप्तौ वर्तमानः सकर्मकः ॥१६८॥

सप्तम्याः ।५।१।१६९।

सप्तम्यन्ता द्भूतार्थाज्जनेर्डः स्यात् । मन्दुरजः ॥१६९॥

सप्तम्याः—। अयोग्यतया कर्मण इति न सम्बध्यते, नहि सप्तम्यन्तस्य कर्मत्वं सम्भवति। मन्दुरा–अश्वशाला, पुंस्त्रीलिङ्गः, तत्र जात इति—मन्दुरजः, 'ङ्यापो० ।२।४।९९। इति ह्रस्वः ॥१६९॥

अजातेः पञ्चम्याः ।५।१।१७०।

पञ्चम्यन्तादजात्यर्थात् भूतार्थात् जनेर्डः स्यात् । बुद्धिजः । अजातेरिति किम् । गजाज्जातः ॥१७०॥

अजातेः०—। बुद्धेर्जातो–बुद्धिजः । गजात् जात इति–गजशब्दस्य तत्र जातिप्रवृत्तिनिमित्त–त्वमिति नात्र प्रत्ययोऽपितु वाक्यमेव तिष्ठतीति भावः। गजस्याकृतिग्राह्यत्वेन 'आकृतिग्रहणा जातिः' इति वचनाज्जाति-त्वमवसेयमिति ॥१७०॥

क्वचित् ।५।१।१७१।

उक्तादन्यत्रापि यथालक्ष्यं डः स्यात् । किञ्जः । अनुजः । अजः । स्त्रीजः । ब्रह्मज्यः । वराहः । आखः ॥१७१॥

क्वचित्—। उक्तादन्यत्रापीति—यान्युपपदानि यश्च धातुः पूर्वसूत्रेषु निर्दिष्टस्तेभ्योऽन्येष्वप्युपपदेषु सत्सु, अन्यस्मादपि धातोरयं प्रत्ययो भवतीति भावः। उपपदव्यभिचारमाह–किञ्ज इति-किं जातेनेति किञ्जः, केन जात इति वा किञ्जः, अनिर्ज्ञातपितृकः। कर्मणो व्यभिचारमाह—

अनुजः—अनुजातः । न जातोऽजः । अजातिव्यभिचारमाह—स्त्रिया जातं–स्त्रीजम् । उपपदव्यभिचारं प्रपञ्च्य प्रकृतिव्यभिचारमाह–ज्यांश् हानौ' ब्रह्मणि जीनवानिति ब्रह्मज्य इति–अत्रोपपदस्य सत्त्वे धातोरन्यत्वमिति भावः । उपपदधातूभयव्यभिचारमाह–'हनंक् हिंसागत्योः' वरमाहतवानिति–वराहः । उपपदधातुकारकव्यभिचारमाह–'खनूग् अवदारणे' आखातः–आखः ॥१७१॥

सुयजोर्ङ्वनिप् ।५।१।१७ ।

आभ्यां भूतार्थाभ्यां ङ्वनिप् स्यात् । सुत्वानौ । यज्वा ॥१७२॥

सुयजो० ।"सुंगट् अभिषवे""यजीं देवपूजासंगतिकारणदानेषु"ङ्वनिपि'वन्' अत्रशिष्यते शेषा अनुबन्धा ङकारो गुणनिषेधार्थः,पकारः पित्कार्यार्थः इकार उच्चारणार्थः । सुतवन्ताविति—सुत्वानौ । इष्टवानितियज्वा ।"मन्-वन्" ।५।१।४७। इति सामान्यसूत्रविहिताभ्यां क्वनिप्-वन्भ्यां सिद्धे भूते नियमार्थं वचनम् । मन्नादि-सूत्रस्थक्वचिद्ग्रहणस्यैव प्रपञ्चः ॥१७२॥

जॄषोऽतृः ।५।१।१७३।

जॄषेर्भूतार्थादतृः स्यात् । जरती ॥१७३॥

जॄषोऽतृ०—। "जॄषच् जरसि" अतृ-प्रत्यये ऋकारोऽनुबन्धः । जीर्यति स्मेति अतृप्रत्यये गुणे ऋदित्त्वात् स्त्रियां "अधातूदृदितः" ॥२४।२। इति ङ्यां—जरती । उकारानुबन्धं कृत्वा ऋकारानुबन्ध "अभ्वादेः०"।१।४।९० इति दीर्घत्वप्रतिषेधार्थः ॥१७३॥

क्तक्तवतू ।५।१।१७४।

भूतार्थाद्धातोरेतौ स्याताम् । कृतः । कृतवान् ॥१७४॥

क्तक्तवतू०—। "डुकृंग् करणे" अनुस्वारेत्त्वादनिट्, क्रियते स्मेति–कृतः "तत्साप्या०" ।३।३।२१। इति कर्मणि क्तः । करोति स्मेति क्तवतौ–कृतवान् "कर्तरि" इति क्तवतुः ॥१७४॥

❀ इति पञ्चमाध्याये प्रथमः पादः ❀

अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयः पादः

श्रुसदवस्भ्यः परोक्षा वा ।५।२।१।

एभ्यो भूतार्थेभ्यः परोक्षा वा स्यात् । उपशुश्राव । उपससाद । अनूवास । पक्षे । उपाश्रौषीत् । उपाशृणोत् । उपासदत् । अन्ववात्सीत् । अन्ववसत् ॥ १ ॥

श्रुसद०—भूत इति अनुवर्तते इत्याह=भूतार्थेभ्य इति=भूतार्थमात्रे परोक्षा भवति, तत्र न परोक्षत्वविवक्षाया आवश्यकतेति भावः । "श्रुंट् श्रवणे" इत्यतः परोक्षाणवि "द्विर्धातुः०" ।४।१।१। इति द्वित्वे सति 'श्रुश्रु' इति ततो "व्यञ्जनस्या०" ।४।१।४४। इति पूर्वस्याना-दिव्यञ्जनलोपे 'शुश्रु' इति, ततो "नामिनो०" ।४।३।५१। इति वृद्धौ शुश्रौ' इति, "ओदौतो०" ।१।२।२४। इत्यावादेशे उपेन योगे=उपशु-श्राव । 'षद्लृं विशरणगत्यवसादनेषु" विशरणं शटनम्, अवसादोऽनु-त्साहः, अतो णवि द्वित्वे पूर्वस्यानादिव्यञ्जनलोपे "ञ्णिति" ।४।३।५०। इत्युपान्त्यवृद्धौ—उपससाद । 'वसं निवासे' अतो णवि द्वित्वे पूर्वस्या-नादिव्यञ्जनलोपे सस्वरस्य वकारस्य च 'यजादि०" ।४।१।७२। इति य्वृति—ऊकारे उपान्त्यवृद्धौ अनुना योगे समानदीर्घे च—अनूवास । अद्यतनभूतकाले 'अद्यतनी' ।५।२।४। इत्यद्यतनी विभक्तिर्भवतीति श्रुधातोरद्यतन्या दिप्रत्यये 'सिजद्यतन्याम्'३।४।५३ इति सिचि 'सः सिज०' । ।४।३।५। इतीति 'सिचि परस्मै०' ।४।३।३५। इति वृद्धौ 'अड् धातो०' ।४।४।२९। इत्यडागमे 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति सस्य षत्वे—उपा-श्रौषीत् । अनद्यतनभूतकाले 'अनद्यतने ह्यस्तनी" ।५।२।७। इति ह्यस्तनी विभक्ति भवतीति श्रुधातो-र्ह्यस्तन्या दिवि तु श्रौति०" ।४।२।१०८। इति 'शृ' इत्यादेशे 'श्वादेः श्नुः' ।३।४।७५। श्नुविकरणे 'श्रू श्नोः' ।२।१।५३। इति गुणेऽडागमे च उपाशृणोत् । सद्धातोरद्यतनीदौ लृदि-त्वात् 'लृदिद्०' ।३।४।६४। इत्यङि अडागमे च—उपासदत् । ह्यस्तन्या

दिवि तु 'औति०' ।४।२।१०८। इति सीदादेशे, शवि अडागमे च–उपासीदत्। 'वस्' धातोरद्यतनीदौ सिचि 'सस्तः सि' ।४।३।६२। इति धातुसकारस्य तकारे 'व्यञ्जनाना०' ।४।३।४५। इत्युपान्त्यवृद्धावडागमे च अन्ववात्सीत्। ह्यस्तनीदिव तु शवि अडागमे च=अन्ववसत्। बहुवचनंव्याप्त्यर्थम्, तेन भूतानद्यतनेऽपीयं ह्यस्तन्या न बाध्यते । असरूपत्वात् 'असरूपोऽपवादे०' ।५।१।१६। इत्येवाद्यतन्यादिसिद्धौ बा=वचनं 'त्यादिष्वन्योन्यं नासरूपोत्सर्गविधिरिति न्यायं ज्ञापयति ॥१॥

तत्र क्वसु-कानौ तद्वत् ।५।२।२।

परोक्षामात्रविषये धातोः परौ क्वसुकानौ स्यातां तौ च परोक्षेव । शुश्रुवान् । सेदिवान् । ऊषिवान् । पेचिवान् । पेचानः ॥२॥

तत्र क्वसु०—। 'तत्र' इत्यस्यार्थमाह=परोक्षामात्रविषये इति=परोक्षामात्रं परोक्षासामान्यम्, न केवलं पूर्वसूत्रविहिता परोक्षैवेति भावः। क्वसुकानाविति=। अत्र क्वसुः 'कर्तरि' ।५।१।३। इति कर्तरि भवति। क्वसौ ककारः कित्कार्यगुणाभावाद्यर्थः, उकारे नागमाद्यर्थः, 'वस्' इत्यवशिष्यते। कानस्य 'पराणि कानाऽऽनशौ०' ।३।३।२०। इत्यात्मनेपदसंज्ञाविधानात् स 'तत्साप्या०' ।३।३।२१। इति भावकर्मणोः, 'इङितः०' ।३।३।२२। इति कर्तरि, 'ईगितः' ।३।३।९५। इति फलवति कर्तरि चः भवति। काने ककारः कित्कार्यार्थः, 'आन' इत्यवशिष्यते। 'श्रुंट् श्रवणे' अनोऽनेन सूत्रेण क्वसौ तस्य परोक्षावद्भावेन द्वित्वे पूर्वस्यानादिव्यञ्जनलोपे 'शुश्रुवस्' शब्दः, तस्य सौ=शुश्रुवानिति। 'षद्लृं विशरणगत्यसादनेषु' अतः क्वसौ 'अनादेशादे०' ।४।१।२४। इत्यत एकारे द्वित्वनिषेधे 'घसेकस्वरातः०' ।४।४।८२। इतीटि 'सेदिवस्' शब्दः, तस्मात्सौ=सेदिवानिति, 'वसं निवासे' अतः क्वसौ 'यजादि०' ।४।१।७२। इति य्वृत्ति, सस्वखस्योकारे द्वित्वे पूर्वस्यानादिव्यञ्जनलोपे समानदीर्घे 'घस्वसः' ।२।३।३६। इति सस्य षे 'घसेकस्वरातः०' ।४।४।८१। इतीटि 'उषिवस्' शब्दस्य सौ=उषिवानिति। 'डुपचींष् पाके' अतः क्वसौ, अत एकारे, द्वित्वाभावे, इटि च पेचिवानिति। 'पच्' धातोरीदित्वात् फलवति कर्तर्यात्मनेपदे काने तस्य परोक्षावद्भावादत एकारे

द्वित्वाभावे च—पेचान:। भूताधिकारेणैवोक्त परोक्षाविषयत्वे लब्धे 'तत्र' ग्रहणं परोक्षामात्रप्रतिपत्त्यर्थम्, तेन पेचिवान्' इत्यादि सिद्धम्॥२॥

वेयिवदनाश्वदनूचानम् ।५।२।३।

एते भूतेऽर्थे क्वसुकानान्ताः कर्त्तरि वा निपात्यन्ते । समीयिवान्। अनाश्वान् । अनूचानः । पक्षे । अगात् । उपैत् । उपेयाय। नाशीत् । नाश्नात् । नाश । अन्ववोचत् । अन्ववक् । अन्वब्रवीत् । अनूवाच । ३॥

वेयिवद०—पूर्वसूत्रेण परोक्षामात्रविषयेविहितौ, किन्त धातुमात्रात् तौ द्वावपि विहितौ, इह च भूतमात्रे धातुविशेषात्• क्वसुर्धातुविशेषाच्च कान इष्ट इति, किञ्चान्यदपि किञ्चिदलाक्षणिकं कार्यं वक्ष्यमाणरीत्या सम्पादनीयमिति निपातनमारभ्यते । समीयिवनिति--। अत्र निपातन-सामर्थ्यात् क्वसुरेव, न कानः । सम्पूर्वस्य'इंण्क्गतौ'इति धातोःक्वसौ"घसेकस्वरात०" ।४।४।४८इतीटि द्वित्वे "योऽनेकस्वरस्य"।२।१।५६। इति यत्वापवादे"इणः" ।२।१।५१। इतीयादेशे समानदीर्घे "समीयिवस्"शब्दस्य सौ-समीयिवान् । 'अशश् भोजने'' इति 'अश्'-धातोः क्वसौ द्वित्वे पूर्वस्यानादिव्यञ्जनलोपेऽत आकारे समानदीर्घे ङस्युक्तसमासे नञोऽनादेशे 'अनाश्वस्'-शब्दस्य सौ—अनाश्वानिति, निपातनसामर्थ्यात् क्वसुरेव भवति न कानः, घसेकस्वरातः' ।४।४।८२। इतीट् प्राप्तस्तदभावश्च निपातनात् भवति । 'अनूचान इति–। अनुपूर्वात् 'वचंक् भाषणे' इत्यतः, अथवा 'ब्रूंग्क् व्यक्तायां । वाचि' इति ब्रूधातोः स्थाने 'अस्तिब्रुवो०' ।४।४।१। इति वचादेशादनुपूर्वात् कर्तरि काने सति 'यजादि०' ।४।४।१।७९। इति स्वरसहितवकारस्य य्वृति–उकारे ततो द्वित्वे पूर्वस्यानादिव्यञ्जनलोपे समानदीर्घे च—अनूचानः, निपातनसामर्थ्यादत्र क्वसुर्न भवति । निपातनस्येष्टविषयत्वात् कर्तु रन्यत्र'अनूक्त' इत्येव भवति । वावचनात् पक्षेऽद्यतन्यादयोऽपि भवतीत्याह—पक्षे-अगात् इत्यादि । इणोऽद्यतन्यां 'इणिकोर्गाः' ।४।४।२३। इति गादेशे 'पिबेति' ३।४।६६। इति सिचो लोपेऽडागमे च—अगात् । उपपूर्वस्येणो ह्यस्तन्यादिवि 'एत्यस्तेर्वृद्धि' ।४।४।३०। इति वृद्धौ—उपैत् । उपपूर्वस्य परोक्षाण-

वि द्वित्वे 'नामिनो०' ।४।३।५१। इति वृद्धौ 'पूर्वस्यास्वे०' ।४।१।३७। इति पूर्वस्येयादेशे=उपेयाय । अश्नातेरद्यन्यादौ सिचि, तस्येटि, देरीति, सिचो लुपि, आद्यस्वरवृद्धौ समानदीर्घे च---आशीत्, तेन नञा योगे नाशीत् इति वाक्यम् ह्यस्तनीदिवि, श्नाविकरणे, वृद्धौ,नञा योगे च नाश्नादिति वाक्यम् । परोक्षाणवि द्वित्वे पूर्वस्यानादिव्यञ्जनलोपेऽत आकारे=आश, नञायोगे नाशेति वाक्यम् अनुपूर्वाद् वचेरद्यतन्या दौ 'शास्त्यसू०' ।३।४।६० इत्यङि 'श्वयत्यसू०' ।४।३।१०४। इत्यनेन धातोर्वोचादेशेऽडागमेच=अन्ववोचत् । प्रतिपदोक्तस्यवचेः 'व्यञ्जनाददेः०' ।४।३।७८। इति दिवो लोपेऽडागमे चस्य 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति कत्वे च=अन्ववक् । ह्यस्तन्यां ब्रूगो वचा देशाभावे 'ब्रूतः परादिः' ।४।३।६३। इतीति गुणेऽवादेशेऽडागमे च-अन्वब्रवीत् । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः वचोः परोक्षाणवि, द्वित्वे, पूर्वस्यानादि-व्यञ्जनलोपे, सस्वरस्य पूर्ववकारस्य य्वृति उकारे, उपान्त्य वृद्धौ—अनूवाच ॥३॥

अद्यतनी ।५।२।४।

भूतार्थाद्धातोरद्यतनी स्यात् । अकार्षीत् ॥४॥

अद्यतनी—**भूतार्थादिति**—भूतशब्देन भूतकालवृत्तित्वरूपोऽर्थ उच्यते, तथा च भूतकालवृत्तावर्थे स्वार्थे वर्तमानाद् धातोरिति; नहि धातुर्भूते वर्तते तस्य शब्दस्वरूपत्वेन सदावर्तमानत्वात्, किन्तु तदर्थभूता क्रिया भूतकालविषयिणी वाच्या इयं चाद्यतनी ह्यस्तन्यादिभिः परत्वाद् बाध्यत इत्यद्यतनमात्रविषया विज्ञेया । 'डुकृंग् करणे' अतोऽद्यतनीदौ, सिचि, 'सः सिज०' ।४।३।६५। इति देरीति, 'सिचि परस्मै०' ।४।३।४४। इति वृद्धौ-वडागमे सस्य षे च ॥५॥

विशेषाऽविवक्षाव्यामिश्रे ।५।२।५।

अनद्यतनादिविशेषाऽविवक्षायां व्यामिश्रणे च सति भूतार्थाद्धातोरद्यतनी स्यात् । रामो वनमगमत् । अद्य ह्यो वाऽभुक्ष्महि ॥ ५ ॥

विशेषा०—अद्यतनेऽपि काले परोक्षत्वविवक्षायामद्यतनी नेष्टा, ह्यस्तनेऽपि काले ह्यस्तनत्वाविवक्षायां सेष्टेति पूर्वसूत्रेण तत्सिद्धयभावादिदं सूत्रमारब्धम् । अनद्यतना—दीत्यत्रादिपदेन परोक्षा ग्राह्या । व्यामिश्रणं—अद्यतन्या विषयेण सहानद्यतन्यादिविषयस्य सन्दिग्धरूपतया विवक्षितत्वम्, तत्रानद्यतननिमित्तां ह्यस्तनीं वारयितुमद्यतनी विधीयते । गमेरद्यतनीदावङि, अडागमे च—रामो वनमगमत् सतोऽप्यत्र विशेषस्याविवक्षा, यथा—अनुदरा कन्येति । 'भुजंप् पालनाभ्यवहारयो' अभ्यवहारो भोजनम्, तत्र पालने परस्मैपदम्, भोजनादौ तु 'भुनजोऽत्राणे' ।३।३।३७। इत्यात्मनेपदेऽद्यतनीतृतीयत्रिकबहुवचने महिप्रत्यये सिचि अनुस्वारेत्त्वादिड्भावे 'सिजाशिषा०' ।४।३।३५। सिचः कित्त्वाद् गुणाभावे 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति जस्य गत्वे 'अघोषे प्रथमोऽशिटः' ।१।३।५०। इति गस्य कत्वे 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति सस्य षत्वेऽडागमे च अभुक्ष्महि ॥५॥

रात्रौ वसोऽन्त्ययामास्वप्तर्यद्य ।५।२।६।

रात्रौ भूतार्थवृत्तेर्वसतेरद्यतनी स्यात् स चेदर्थो यस्यां रात्रौ भूतस्तस्या एवान्त्ययामं व्याप्याऽस्वप्तरि कर्त्तरि स्यात् । अद्यतनेनैवान्त्ययामेनावच्छिन्ने अद्यतने चेत्प्रयोगोऽस्ति नाद्यतनान्तरे । अमुत्रावात्सम् । रात्र्यऽन्त्ययामे तु मुहूर्त्तमपि स्वापेऽमुत्रावसमिति ॥६॥

रात्रौ०—अतीताया रात्रेः पूर्वार्धस्य मतान्तरेण प्रहरत्रयस्य वाऽनद्यतनत्वेन तत्र ह्यस्तन्याः प्राप्ते 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति' इति न्यायेनास्य तदपवादत्वस्यौचित्याद् ह्यस्तन्या अपवादोऽयं योगः । अन्त्ययामास्वप्तरीति पदं व्याचष्टे—स चेदर्थो इत्यादि । अद्य इत्यस्यार्थमाह—अद्यतनेनैवा इत्यादि । अमुत्रावात्समिति—न्याय्ये प्रत्युत्थाने प्रत्युत्थितं कश्चित् कंचिदाह—क्व भवानुषितः ? स तं प्रति उत्तररूपेणेदं वाक्यमाह—अमुत्रावात्सम् । अत्र यद्यप्यनद्यतनत्वं वासक्रियायां स्पष्टम्, तथापि विशेषविहितत्वादनद्यतननिमित्तां ह्यस्तनीं प्रबाध्याद्यतनी—विधीयतेऽनेनेति भावः 'वसं निवासे' अतोऽद्यतनीतृतीय-

विकैकवचनेऽमि सिचि 'व्यञ्जना०' ।४।३।४५। इत्युपान्त्यवृद्धौ 'सस्तः सि' ।४।३।९२। इति धातुसकारस्य तेऽडागमे च—अवात्समिति भवति । स चेदित्यादिना कृतस्य नियमस्य फलमाह—राज्यन्त्ययामे इत्यादि—अद्यतननिमित्ता ह्यस्तन्येव परत्वात् भवतीति भावः ॥६॥

अनद्यतने ह्यस्तनी ।५।२।७।

आ न्याय्यादुत्थानादान्याय्याच्चसंवेशनादहरुभयतः सार्द्धरात्रं वाऽद्यतनः। तस्मिन्नसति भूतार्थाद्धातोर्ह्यस्तनी स्यात्। अकरोत् ॥७॥

अनद्यतने०—। अनद्यतनशब्दस्याद्यतनभिन्नार्थकत्वादद्यतनशब्दार्थमाह—आ न्याय्यादुत्थानादान्याय्याच्च संवेशनादिति—न्याय्य उत्थानसमयो रात्रेश्चतुर्थो यामः, रात्रेश्चतुर्थयामादारभ्या-गामिन्या रात्रेः पूर्वं यामत्रयं तदभिव्याप्येत्यर्थः, एतदवच्छिन्नमहोऽद्यतन इत्येकं मतम् मतान्तरेणाह-अहरुभयतः सार्धरात्रं वेति—अतीतरात्रेरन्त्ययामद्वयम्, वर्तमानदिनस्य यामचतुष्टयम्, आगामिन्या रात्रेराद्यं यामद्वयमद्यतन इति मतान्तरमिति भावः। ह्यस्तनी-ह्यस्तनीति विभक्तेर्नाम, न तावता ह्यस्तनकालवृत्तावर्थे तस्या विधानमिति मन्तव्यम् अद्यतनभिन्नार्थत्वात् तस्याः। उदाहरति अकरोदिति—एककर्तृकाद्यतनभिन्नभूतार्थविषयक उत्पत्त्यनुकूलो व्यापार इति क्रमेणार्थः 'डुकृंग् करणे' अतो ह्यस्तन्या दिवि 'कृगतनादेरुः' ।३।४।८३। इत्युविकरणे धातोर्गुणे विकरणस्य 'उश्नो' ।४।३।२। इति गुणेऽडागमे च-अकरोत् ॥७॥

ख्याते दृश्ये ।५।२।८।

लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शने भूतानद्यतनेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्ह्यस्तनी स्यात्। अरुणत्सिद्धराजोऽवन्तीम्। ख्यात इति किम्। चकार कटम्। दृश्य इति किम्। जघान कंसं किल वासुदेवः ॥ ८ ॥

ख्याते०—। ख्यातशब्दं व्याचष्टेलोकविज्ञाते इति न केवलं प्रयोक्तुर्ज्ञानविषयेऽपितु सकललोकप्रसिद्धे । दृश्यशब्दं व्याच्चष्टे चप्रयोक्तुः शक्यदर्शने इति-सति प्रयत्ने प्रयोक्त्रा द्रष्टुं योग्ये विषय इत्यर्थः। यत्र प्रयोक्त्रा सोऽर्थो न दृष्टः किन्तु तत्सत्त्वकाले समीप एव तस्यार्थस्य वृत्ततया दर्शनयोग्यता तस्य भवति । अत्र यद्यपि प्रयोक्त्राऽदृष्टत्वेन परोक्षत्वमिति परोक्षायाः प्राप्तिस्तथापि लोकख्यातत्वेन प्रयोक्ता तस्यार्थस्य स्वप्रत्यक्षत्वमिव मन्यते इति तद् द्योतयितुं परोक्षापवादो ह्यस्तनी विधीयत इति भावः । अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तीमिति-सिद्धराजचरितस्य प्रयोक्तृग्रन्थकृत्समये सकललोकविज्ञाततया भूतत्वेन तत्र सूत्रार्थघटनमिति भावः । 'रुधृ्ंपी आवरणे' अतो ह्यस्तन्या दिवि 'रुधां स्वरा०' ।३।४।८२। इति स्वरात्परतः श्नविकरणे नस्य णेऽडागमे, धस्य ते च—अरुणत् । चकार कटमिति—कटादिकरणस्य साधारणकार्यतया कैश्चिदेव तत्समीपवर्तिभिर्दृष्टत्वेन ज्ञातत्वेन वा न सकललोकख्यातत्वं तस्येति भावः । जघान कंसं किल वासुदेव इति-वासुदेवकर्तृककंसहननस्य प्रयोक्तुर्दर्शनयोग्यत्वाभावः, तस्य तज्जन्मनो बहुकालपूर्ववृत्त—तया द्रष्टुमशक्यत्वात् । यदि च तत्समानकालवृत्तिरेव जनो वाक्यं प्रयुङ्क्ते तदा 'कंसमहन् वासुदेवः' इति प्रयोग इष्ट स्यादिति भावः । 'हनंक् हिंसागत्योः' इत्यस्य परोक्षायां जघान ॥८॥

अयदि स्मृत्यर्थे भविष्यन्ती ।५।२।९।

स्मृत्यर्थे धातावुपपदे भूतानद्यतनार्थवृत्तेर्धातोर्भविष्यन्ती स्यात्, अयद्योगे । स्मरसि साधो स्वर्गे स्थास्यामः । अयदीति किम् । अभिजानासि मित्र यत्कलिङ्गेष्ववसाम ॥९॥

अयदि०—। 'भूते' 'अनद्यतने' इति पदद्वयं पूर्वतोऽनुवृत्तम् । 'स्मृत्यर्थे' इति पदं चतदर्थकधातुपरम्, स च धातुरिह सप्तम्यन्तेन निर्दिष्टत्वादुपपदं न तु प्रत्ययप्रकृतिः, तदाह—स्मृत्यर्थे धातावुपपदे इति । स्मरसि साधो । स्वर्गे स्थास्यामः—अत्र 'पश्य मृगो धावति' इत्यादाविव वाक्यार्थस्यैव स्मरणकर्मत्वम् । इदं वाक्यं जातिस्मरणेन ज्ञा–निदृष्ट्या वा, नहि सर्वसाधारणेन जनेन पूर्वशरीरानुभूतं स्वर्गाधिकरणकस्थानं स्मरण-

विषयीभवितुमर्हतीति वाक्यप्रयोगोऽनुचितः स्यादिति । अभिजानासीत्यादि—अत्र यदः प्रयोगादस्याप्रवृत्त्या ह्यस्तनी भवति ॥९॥

वा काङ्क्षायाम् ।५।२।१०।

स्मृत्यर्थे धातावुपपदे प्रयोक्तुः क्रियान्तराकाङ्क्षायां सत्यां भूतानद्यतनार्थाद्धातोर्भविष्यन्ती वा । स्यात् । स्मरसि मित्र काश्मीरेषु वत्स्यामोऽवसाम वा । तत्रौदनं भोक्ष्यामहे, अभुञ्जमहि वा ॥१०॥

अयदीति नानुवर्तते । स्मरसीत्यादि—अत्र वासो लक्षणं भोजनं लक्ष्यमिति लक्ष्यलक्षणयोः संबन्धे प्रयोक्तुराकाङ्क्षा भवति, यत्परार्थमुपादीयते तत् लक्षणम्, यदर्थं च किञ्चिदुपादीयते तत् लक्ष्यमिति भोजनार्थं वासः समाश्रित इति वासस्य लक्षणत्वं स्पष्टम्, एवं भोजनार्थं वास उपादीयत इति भोजनस्य लक्ष्यत्वमपि स्पष्टमेव, अथवा परिज्ञातं लक्षणम्, अपरिज्ञातं लक्ष्यम्, वासो लक्षणं तेन हि भोजनं च लक्ष्यते, भोजनं लक्ष्यम्, न तु लक्षणमपरिज्ञातत्वात्, परिज्ञातं हि अपरिज्ञातस्य लक्षणं भवति, यथाऽग्नेर्धूम इति, लक्ष्यलक्षणयोश्च परस्परं सम्बन्धः प्रसिद्धः, प्रयोक्ता लक्षणे प्रयुक्ते लक्ष्यं प्रति साकाङ्क्ष इति पूर्वक्रियायां लक्षण भूतायां लक्ष्यभूताऽन्या क्रिया प्रयोक्ताऽपेक्ष्यत एव ॥१०॥

कृताऽस्मरणाऽतिनिन्हवे परोक्षा ।५।२।११।

कृतस्यापि चित्तविक्षेपादिनाऽस्मरणेऽत्यन्तनिन्हवे वा गम्ये भूतानद्यतनार्थाद्धातोः परोक्षा स्यात् । सुप्तोहं किल विललाप । कलिङ्गेषु ब्राह्मणो हतस्त्वया । नाहं कलिङ्गान् जगाम ॥११॥

कृताऽस्मरणा०—। अपरोक्षकालार्थ आरम्भः । सुप्तोऽहं किल विललापेति

—क्लि संप्रश्नवार्तयोः। विपूर्वस्य 'लप व्यक्ते वचने' इत्यस्य 'परोक्षाणवि—विललापेति, स्वापसमये चित्तस्य निद्राधीनतया विक्षिप्तत्वेऽपि कृतस्य व्यापारस्य प्रत्यक्षत्वमुपपन्नम् । न चा—प्रत्यक्षविषयीभूतस्यार्थस्य पश्चादपि कथं स्मरणम्, अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति लक्षणादिति वाच्यम्, स्वेन कृतस्य व्यापारस्य सर्वथानुभवाभावस्याशक्यतया तस्मिन् कालेऽनुभवस्यानुव्यवसायाभावेऽपि तस्य वस्तुतो जातत्वेन स्मरणसम्भवात् । सूत्रेऽति ग्रहणादेकदेशापह्नवे ह्यस्तन्येव—न कलिङ्गेषु ब्राह्मण-महमहनम् ॥११॥

परोक्षे ।५।२।१२।

भूतानद्यतने परोक्षार्थाद्धातोः परोक्षा स्यात् । धर्मं दिदेश तीर्थङ्करः ॥१२॥

परोक्षे०—। अक्षाणां परः परोक्षः, अत एव निर्देशात् साधुः अव्युत्पन्नो वा असाक्षात्कारार्थः ॥१२॥

हशश्वद्युगान्तः प्रच्छ्ये ह्यस्तनी च ।५।२।१३।

हे शश्वति च प्रयुक्ते पञ्चवर्षमध्यप्रच्छ्ये च भूतानद्यतने परोक्षेऽर्थे वर्तमानाद्धातोर्ह्यस्तनीपरोक्षे स्याताम् । इति हाकरोत् । इति ह चकार । शश्वदकरोत् । शश्वच्चकार । किमगच्छस्त्वं मथुराम् । किं जगन्थ त्वं मथुराम् ॥१३॥

हशश्वद्०—। पञ्चवर्षं युगम्, तस्यान्तर्मध्यम्, तत्र पृच्छ्यते यः स युगान्तप्रच्छ्यः । स च भूतानद्यतनस्य परोक्षस्यार्थस्य विशेषणमित्याह—पञ्चवर्षमध्यप्रच्छ्ये इत्यादि । युगान्तःप्रच्छ्य इत्यस्योदाहरणमाह—किमगच्छस्त्वं मथुरामित्यादि—मथुरागमनं हि न युगान्तो दूरवर्ति, आसन्नस्यैवात्र पृच्छाविषयत्वात्, ततोऽधिकदिनस्य विषयतायां तु परोक्षैव स्यात् ॥१३॥

अविवक्षिते ।५।२।१४।

भूतानद्यतने परोक्षे परोक्षत्वेनाविवक्षितेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्ह्यस्तनी स्यात् । अहन् कंसं किल वासुदेवः ॥१४॥

अविवक्षिते—। एवं परोक्षानद्यतने विवक्षावशादद्यतनी—ह्यस्तनी—परोक्षास्तिस्रो विभक्तयः सिद्धाः ॥१४॥

वाऽद्यतनी पुरादौ ।५।२।१५।

भूतानद्यतने परोक्षे परोक्षत्वेनाविवक्षितेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोः पुरादावुपपदे अद्यतनी वा स्यात् । अवात्सुरिह पुरा छात्राः । पक्षे अवसन् । ऊषुर्वा । तदाभाषिष्ट राघवः । पक्षे अभाषत । बभाषे वा ॥१५॥

वाऽद्यतनी पुरादौ—। 'परोक्षे' इति निवृत्तम् । अपरोक्षे ह्यस्तन्याः परोक्षे तु परोक्षाया अपवादः । वावचनात् पक्षे यथाप्राप्तितेऽपि भवतः । 'वसं निवासे' इति 'वस्' धातुः, ततोऽद्यतनी—प्रथमत्रिक—बहुवचनेऽनि सिचि 'सिज्विदोऽभुवः" ।४।२।९२। इत्यन पुसादेशे 'व्यञ्जनानामनिटि' ।४।३।४५। इत्युपान्त्यवृद्धौ 'सस्तः सि' ।४।३।९२। इति धातुसकारस्य तकारस्य तकारेऽटि च=अवात्सुरिति । ह्यस्तनीप्रथमत्रिकबहुवचनेऽनि शवि पूर्वाकारलोपेऽटि च=अवसन् । परोक्षाप्रथमत्रिकबहुवचने उसि य्वृति द्वित्वे पूर्वस्यानादिव्यञ्जनलोपे समानदीर्घे च ऊषुः । 'भाषि च व्यक्तायां वाचि' इति आ 'भाष्' धातोरात्मनेपदेऽद्यतनीतप्रत्यये सिचि तस्यादाविटि सस्य षे तद्योगे तकारस्य टेऽटि च=अभाषिष्ट । ह्यस्तनीतप्रत्यये शवि अटि च=अभाषत । परोक्षाया एप्रत्यये द्वित्वे पूर्वस्यानादिव्यञ्जनलोपे ह्रस्वे भस्य बे=बभाषे । भूतमात्रविवक्षयाऽद्यतन्याः सिद्धौ पुरादियोगे तद्वचनं स्मृत्यर्थहशश्वत्–स्मयोगे सामान्यविवक्षयाऽद्यतनी न भवतीति ज्ञापनार्थम् ॥१५॥

स्मे च वर्त्तमाना ।५।२।१६।

भूतानद्यनतनेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोः स्मे पुरादौ चोपपदे वर्त्तमाना स्यात् । पृच्छति स्म पुरोधसम् । वसन्तीह पुरा छात्राः । अथाह वर्णी ॥१६॥

स्मे०—। पृच्छति स्म पुरोधसम्–'प्रछंत् ज्ञीप्सायाम्" स्वरेभ्यः' ।१।३।३०। इति छस्य द्वित्वे पूर्वस्य चत्वे 'प्रच्छ्' इत्यतस्तिवि 'शविकरणे 'ग्रहव्रश्च०' ।४।१।८४। इति व्वृति-पृच्छति, पृष्टवानित्यर्थः, पुरोधसं पुरोहितम्। वसन्तीह पुरा छात्रा इति–'वसं निवासे' अतोऽन्तिप्रत्यये शवि 'लुगस्या०' ।२।१।११३। इति पूर्वाकारलोपेच–वसन्ति,निवासं कृतवन्त इत्यर्थः। अथाऽऽहवर्णी-'ब्रुगः' पञ्चानां०' ।४।२।११८ इति-आह । एवं च पुरादियोगेऽद्यतनी-ह्यस्तनी-परोक्षा-वर्तम नाश्चतस्रोविभक्तयः सिद्धाः, स्मपुरायोगे तु परत्वाद्वर्तमानेव-नटेन स्म पुराऽधीयते । एवं-हशश्वत्स्मयोगेऽपि-इतिह स्मोपाध्यायः कथयति, शश्वदधीयते स्म । श्ययोगेऽप्येवम्-न ह स्म वै पुराऽग्निरपरशुवृक्णं दहतीति ॥१६॥

ननौ पृष्टोक्तौ सद्वत् ।५।२।१७।

ननावुपपदे पृष्टप्रतिवचने भूतेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्वर्तमानेव वर्त्तमाना स्यात् । किमकार्षीः कटं चैत्र । ननु करोमि भोः । नुन कुर्वन्तं मां पश्य ॥१७॥

ननौ०—। 'अनद्यतन' इति निवृत्तम् । पृष्टस्य धात्वर्थस्योक्तिः प्रतिवचनं–पृष्टोक्तिरित्याह—पृष्टप्रतिवचने इति । सद्वद्वचनादत्र विषये शतानशावपि भवतः । तेन 'ननु' कुर्वन्तं मां पश्येति' सिद्धम् 'डुकृंग् करणे' इत्यतोऽद्यतन्या' मध्यमपुरुषैवचने सौ, सिचि, सेरादावीति, वृद्धौ, सस्य षत्वे, सेरिदित्त्वात् सस्य विसर्गेऽटि च–अकार्षीः । वर्तमानामिवि, उविकरणे, धातोर्विकरणस्य गुणे—करोमि, अकार्षमिति तदर्थः । शतरि उविकरणे धातोर्गुणेऽस्य 'अतः शित्युत्' ।४।२।८९। इत्युकारे विकारणस्य वादेशे

'कुर्वत्' शब्दस्य द्वितीयैवचनेऽमि कुर्वन्तमिति ॥१७॥

नन्वोर्वा ।५।२।१८।

नन्वोरुपपदयोः पृष्टोक्तौ भूतेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्वा वर्त्तमाना स्यात् सा च सद्वत् । किमकार्षीः कटं चैत्र । न करोमि भोः । न कुर्वन्तं मां पश्य । नाकार्षम् । नु करोमि भोः । नु कुर्वाणं मां पश्य । न्वकार्षम् ॥१८॥

नन्वोर्वा०—। न निषेधे, नु बितर्के पादपूरणे च । अत्र वर्तमानाविधानस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षेऽद्यतनीत्याह नाकार्षमिति-किमकार्षीरिति प्रश्नेऽद्यतन्याः प्रयोगेण प्रतिवचनेऽपिपक्षेऽद्यतन्येव प्रयुक्ता—नाकर्षमिति, यदि च ह्यस्तन्या प्रश्नः कृतः स्यात् तदा सैवोत्तरेऽपि प्रयुज्येत, किन्तु नात्राद्यतनादीनां विवक्षेति सामान्य भूतार्थकतयाऽद्यतन्यैव प्रश्नस्तयैव पाक्षिकमुत्तरमिति । कृधातुमात्मनेपदिनमाश्रित्यानशि उविकरणे धातोर्गुणेऽत उकारे उविककरणस्य वा देशे नस्य णत्वेऽमि कुर्वाणमिति, कुर्वन्त-मित्यर्थः ॥१८॥

सति ।५।२।१९।

वर्त्तमानार्थाद्धातोर्वर्त्तमाना स्यात् । अस्ति कूरं पचति । मांसं न भक्षयति । इहाधीमहे । तिष्ठन्ति पर्वताः ॥१९॥

सति०—। सन्-विद्यमानो वर्तमान इत्यर्थः, स च प्रारब्धापरिसमाप्तःक्रियाप्रबन्ध इति मनसि निधायाह-वर्तमानार्थादिति । 'असक् भुवि' अतस्तिवि अस्ति, अत्रात्मधारणानुकूलक्रियायाः प्रारब्धत्वम्, तदीयस्थितेरुत्तरत्रानुवर्तनाच्चापरिसमाप्तत्वं स्फुटम् । 'डुपचींष् पाके' अतस्तिवि शवि च—कूरं पचति । 'भक्षण् अदने' अतो णिचि तिवि शवि च—मांसं न भक्षयति,-अत्र मांसभक्षणं न कर्तव्यमित्येवंरूपो नियम आत्मधर्मो विवक्षितः, तस्य सर्वदाऽसमाप्तत्वेन वर्तमानाप्रयोग उचित एवेति । 'इङ्क् अध्ययने' नित्यमधिपूर्वोऽयम्, अतो वर्तमानाया उत्तमपुरुषबहुवचने महेप्रत्यये—इहाधीमहे,

अत्र क्रियान्तरव्यवधानेऽप्यध्ययनादिक्रियायाः प्रारम्भापरिसमाप्तिरस्त्येव परैर्भूतभविष्यद्भिन्नत्वं वर्तमानत्वमिति मत्वा पर्वतादीनां सर्वकाले स्थितत्वेन तत्र वर्तमानाप्रयोगः कथमित्याशङ्कितं तदुत्तरयति–तिष्ठन्ति पर्वता इति-अत्र स्फुटैव प्रारम्भापरिसमाप्तिः, 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इति स्थाधातोर्वर्तमानान्तिप्रत्यये शवि 'श्रौति०' ।४।२।१०८। इति तिष्ठादेशे' पूर्वाकारलोपे च=तिष्ठन्ति ॥१९॥

शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ ।५।२।२०।

सदर्थाद्धातोः शत्रानशौ स्यातां भविष्यन्तीविषयेऽर्थे स्य-युक्तौ । यान् । शयानः । यास्यन् । शयिष्यमाणः ॥२०॥

शत्रानशा०—शतृ-प्रत्यये शकार ऋकारश्चानुबन्धौ 'अत्' इत्यवशिष्यते, आनशि च शकारोऽनुबन्धः, 'आन' इत्यवशिष्यते, 'नवाऽऽद्यानि०' ।३।३।१९। इति शतृः परस्मैपदत्वात् स परस्मैपदिनो धातोर्भवति । 'पराणि०' ।३।३।२०। इत्यानश आत्मनेपदत्वात् स आत्मनेपदिनो धातोर्भवति 'यांक् प्रापणे' अतो शतरि समानदीर्घे च–'यात्' शब्दः, अतो घुटि सौ परे 'ऋदुदितः' ।१।४।७०। इति स्वरात्परतो नागमे संयोगान्तलोपे च-यान् । 'शीङ्क् स्वप्ने' अतो आनशि 'शीङः ए शिति' ।४।३।१०४। इत्येकारेऽयादेशे च 'शयान' शब्दः, तस्य प्रथमायां शयानः । एष्यदर्थे स्यसहिते शतरि याधातोःयास्यन् । स्यसहित आनशि शीधातो—शयिष्यमाणः—'अतो म आने' ।४।४।११४। इति मोन्तः ॥२०॥

तौ माङ्याक्रोशेषु ।५।२।२१।

माङ्युपपदे आक्रोशे गम्ये तौ शत्रानशावेव स्याताम् । मा पचन् वृषलो ज्ञास्यति । मा पचमानोऽसौ मर्तुकामः ॥२१॥

'शत्रानशो'—नुवृत्तावपि 'तौ' ग्रहणमवधारणार्थ–मित्याह–'शत्रानशावेवेति । सतीत्यनुवर्तत इति भूतादौ न स्यादिति । न । बहुवचनादसत्यपि

भवति । मा पचन् वृषलो ज्ञास्यति—माङ् निषेधे, वृषलो दासजातिः, 'पचन् इति' शतृप्रत्ययान्तः, भूतकालिकपचनाभावविशिष्टो वृषलोऽग्रे ज्ञास्यतीति प्रयोगार्थः । मा पचमानोऽसौ मर्तुकाम इति–पचमान इत्यानश्-प्रत्ययान्तः, मर्तुं कामो यस्य स मर्तुकामः, 'तुमश्च०' ।३।२।१४०। इति मलोपः, भूतकालिकपचनाभावविशिष्टोऽसौ मरणेच्छुरिति प्रयोगार्थः । 'एव' इत्यवधारणे तेनात्र विषयेऽसरूपविधिनाप्यद्यतनी न भवति ॥२१॥

वा वेत्तेः क्वसुः ।५।२।२२।

सदर्थाद्वेत्तेः क्वसुर्वा स्यात् । तत्त्वं विद्वान् । विदन् ॥२२॥

'मण्डूकप्लुति' न्यायेन 'सति' इत्यस्यात्रानुवर्तनादाह—सदर्थादिति । सूत्रे वावचनात् पक्षे शतृप्रत्ययो वर्तमाना विभक्तिश्चापि भवति तत्त्वं विद्वानिति-'विदक् ज्ञाने' अतः क्वसौ सौ 'ऋदुदितः' ।१।४।७०। इति स्वरात् परतो नागमे 'न्स्-महतोः' ।१।४।८६। इति दीर्घे संयोगान्तलक्षणे सकारलोपे च—विद्वान्, एवं शतरि नागमे संयोगान्तलक्षणे तलोपे च—विदन्, उभयत्र व्यञ्जनान्तत्वात् सिलोपः क्वसौ ककारः कित्कार्यार्थः । उकारो ङ्याद्यर्थः । अत्र 'असरूपो०' ।५।१।१६। इति विकल्पे सिद्धे वाग्रहणमत्र प्रकरणेऽसरूप-विधेर्लक्ष्यानुरोधार्थम्, अत एव 'वयः-शक्ति०' ।५।२।२४। इत्यत्रानभिधानान्न वाऽसरूपः शतृरित्युक्तम् ॥२२॥

पूङ्यजः शानः ।५।२।२३।

आभ्यां सदर्थाभ्यां परः शानः स्यात् । पवमानः । यजमानः ॥२३॥

पूङ् यजः०–शाने शकारोऽनुबन्धः 'आन' अवशिष्यते । अर्थविशेषोक्तिं विना विहितः शानः 'कर्तरि' ।५।१।३। इति कर्तरि भवति । 'पूङ् पवने' पवते इति शाने शवि गुणेऽवादेशे 'अतो म आने' ।४।४।११४। इति मागमे च पवमानः । 'यजीं देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' यजति यजते वेति शाने शवि मागमे च यजमानः । 'पराणि०' ।३।३।२०। इत्यानश आत्मनेपदसंज्ञा,

पूङो ङित्त्वात् 'ङितः०' ।३।३।२२। इत्यात्मनेपदम्, यजेरीदित्त्वात् फलवति कर्त्तरि 'ईगितः' ।३।३।६५। इत्यात्मनेपदमित्याभ्यामप्यात्मनेपदस्य प्राप्त्या पूर्वसूत्रेणैवानशः सिद्धया रूपे विशेषाभावेन सूत्रस्य वैयर्थ्यमिति । न । आनशा योगे 'तृप्तार्थ०' ।३।१।८५। इति सूत्रेण षष्ठीसमासनिषेध उक्तः, न च यजेरफलवति कर्त्तर्यानश्प्रत्ययोऽस्तीति वचनम्, एव मुत्तरत्रापि । शकारः शित्कार्यार्थः ।।२३

वयः शक्तिशीले ।५।२।२४।

एषु गम्येषु सदर्थाद्धातोः शानः स्यात् । स्त्रियं गच्छमानाः । समश्नानाः । परान्निन्दमानाः ।।२४।।

वयःशक्ति०—'वयः—प्राणिनां कालकृता बाल्याद्यवस्था । स्त्रियं गच्छमाना इति—स्त्रीगमनं तद्योग्यमवस्थाविशेषं द्योतयति, 'गम्लृ गतौ इति 'गम्' धातुः परस्मैपदी, अतः शाने शवि 'गमि०' ।४।२।१०६। इत्यन्तस्य छादेशे मागमे च गच्छमानाः । समश्नाना इति-शक्तिः सामर्थ्यम्, समीहितकार्यसम्पादतयोग्यतेति यावत् । सम्यग्भोजनकर्तृत्वं सामर्थ्यद्योतकमेव, नासमर्थो भोक्तुमपि प्रभवति, कुतः सम्यग्भोजनम्, अशश् भोजने' अतः शाने श्नाविकरणे समा योगे—समश्नानाः । परान् निन्दमाना इति-शीलं स्वभावः, परनिन्दा न सर्वसाधारणी प्रकृतिः, किन्तु कस्यचिदेव स्वभावः । । विभावः । 'णिदु कुत्सायाम्' इति 'निन्द्' धातोः शाने शवि मागमे च-निन्दमानाः । अत्रानभिधानान्न वाऽसरूपः शतृ ।।२४।।

धारीङोऽकृच्छ्रेऽतृश् ।५।२।२५।

सुखसाध्ये सत्यर्थे वर्त्तमानाद् धारेरिङश्च परोऽतृश् स्यात् । धारयन्नाचाराङ्गम् । अधीयन् द्रुमपुष्पीयम् ।।२५।।

धारीङो०—'चुरादेराकृतिगणत्वेन 'धृण् धारणे' इत्यतो णिचि वृद्धौ 'धारि' इत्यतोऽनेनातृशि शवि गुणे पूर्वाकारलोपे–धारयत्, ततः सौ नागमे

संयोगान्तलक्षणे तलोपे व्यञ्जनान्तलक्षणे सिलोपे च—धारयन् आचाराङ्गम्। अधिपूर्वात् 'इंङ्क् अध्ययने' इत्यतोऽतृशि इयादेशो: समानदीर्घे च 'अधीयन्' इत्यतः सौ—अधीयन् द्रुमपुष्पीयमिति—दशवैकालिकसूत्रस्य प्रथममध्ययनमित्यर्थः । इङ आनशि प्राप्ते धारेः शत्रानशौः प्राप्तौ वचनम् । वाऽसरूपोऽपि नेष्यते एत्र ॥२५॥

सुग्द्विषार्हः सत्रिशत्रुस्तुत्ये ।५।२।२६।

सदर्थेभ्य एभ्यो यथासङ्ख्यं सत्रिणि शत्रौ स्तुत्ये च कर्त्तर्यतृश् स्यात् । सर्वे सुन्वन्तः । चौरं द्विषन् । पूजामर्हन् । एष्विति किम् । सुरां सुनोति ॥२६॥

सुग्-द्विषा-ऽर्हः०—सत्री-यजमानः । सर्वे सुन्वन्त इति यागे यजमाना एव ऋत्विग्भिः कर्तव्यं सोमाभिषवणं कुर्वन्तीति यजमाना इत्यर्थोऽनेन वाक्येन लभ्यते, 'षुंगू 'अभिषवे' क्लेदनं सन्धाख्यं पीडनमन्थने वाऽभिषवः, अतोऽतृशि श्नुविकरणे वादेशे सुन्वन्तः । 'द्विषींक् अप्रीतौ' अतोऽतृशि—**चौरं** द्विषन्—'द्विषो वाऽतृशः' ।२।२।८४। इति विकल्पेन कर्मणि षष्ठीति द्वितीया भवति, शत्रुरित्यर्थः । 'अर्हं पूजायाम्' अतोऽतृशि शवि पूर्वाकारलोपे सौ—पूजाम्—अर्हन्—स्तुत्य इत्यर्थः । सुरां सुनोतीति—**अर्थ**-निर्देशस्याभावे सामान्यसूत्रेणापि 'शतृ०' अत्र स्यादिति सूत्रस्यानर्थक्येन एष्वेवार्थेषु 'एभ्यो धातुभ्य' इति नियामकं सूत्रमिदमावश्यकमिति भावः ॥२६॥

तृन्शीलधर्मसाधुषु ।५।२।२७।

शीलादिषु सदर्थाद्धातोस्तृन् स्यात् । कर्त्ता कटम् । वधूमूढां मुण्डयितारः श्राविष्टायनाः । गन्ता खेलः ॥२७॥

तृन् शील०—। शीलादिष्विति—शीलादिरर्थो धात्वर्थस्य विशेषणम्, तथाहि धात्वर्थः शीलं यत्र विवक्ष्यते, एवं धात्वर्थो धर्मत्वेन यत्र विवक्ष्यते,

धात्वर्थसम्पादने साधुत्वं यत्र विवक्ष्यत इत्येवं क्रमेणार्थः कार्यः । कृधा-तोरनेन तृनि गुणे सौ=कर्ता कटमिति=' तृन्नुदन्ता०' ।२।२।९०। इति षष्ठीनिषेधाद् द्वितीया, करणमस्य शीलमित्यर्थः। मुण्डां कुर्वन्तीति णिचि अन्त्यस्वरादिलोपेऽनेन तृनि इटि गुणेऽयादेशे जसि=वधूमूढां मुण्डयितारः श्राविष्ठायना इति='श्राविष्ठायन' इति गोत्रविशेषस्य नाम, तद्गोत्रीया जना वधूमूढां मुण्डन्तीति तेषां धर्मः धर्मः कुलाद्याचारः। गन्ता खेल इति=खेटं लीलया गच्छतीति=खेलः, खेटं यो लीलया गच्छति स साधु गच्छतीत्यर्थः ॥२७॥

भ्राज्यऽलङ्कृग्निराकृग्भूसहिरुचिवृतिवृधिचरिप्रजनाप-त्रप इष्णुः ।५।२।२८।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्य इष्णुः स्यात् । भ्राजिष्णुः । अलङ्करिष्णुः । निराकरिष्णुः । भविष्णुः । सहिष्णुः । रोचिष्णुः । वर्त्तिष्णुः । वर्द्धिष्णुः । चरिष्णुः । प्रजनिष्णुः । अपत्रपिष्णुः । ॥ २८ ॥

भ्राज्यलङ्कृग्०—। भ्राजनशीलो भ्राजनधर्मा साधु भ्राजते वेति 'भ्राजि दीप्तौ' इति 'भ्राज्' धातोरिष्णौ—भ्राजिष्णुः ॥२८॥

उदः पचिपतिपदिमदेः ।५।२।२९।

उत्पूर्वेभ्य एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्य इष्णुः स्यात् । उत्पचिष्णुः । उत्पतिष्णुः । उत्पदिष्णुः । उन्मदिष्णुः ॥२९॥

उदः पचि—। पतेर्नेच्छन्त्यन्ये ।

भूजेः ष्णुक् ।५।२।३०।

आभ्यां शीलादिसदर्थाभ्यां ग्स्नुक् स्यात् । भूष्णुः । जिष्णुः ॥३०॥

भूजे०:—। ककारः कित्कार्यार्थः । 'भू सत्तायाम्' भूष्णुः । 'जि जये'—जिष्णुः ॥३०॥

स्थाग्लाम्लापचिपरिमृजिक्षेः स्नुः ।५।२।३१।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्यः स्नुः स्यात् । स्थास्नुः । ग्लास्नुः । म्लास्नुः । पक्ष्णुः । परिमार्क्ष्णुः । क्षेष्णुः ॥३१॥

स्था—ग्ला०—। 'ष्ठां गतिनिवृत्तौ—स्थास्नुः । ग्लै हर्षक्षये' इह हर्षक्षयो धात्वपचयः—ग्लास्नुः, 'म्लैं गात्रविनामे' विनामः कान्तिक्षयः—म्लास्नुः । 'डुपचींष् पाके' पचतीत्येवंशील इति स्नौ 'चजः कगम्' ।२।१।८६॥ इति चस्य के 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५॥ इति सस्य षे 'रषृवर्णा०' ।२।३।६३॥ इति नस्य णे पक्ष्णुः । 'मृजौक् शुद्धौ' परिमार्ष्टीत्येवंशीलः इति स्नौ 'लघोरूपान्त्यस्य' ।४।३।४॥ इत्युपान्त्यगुणे 'मृजोऽस्य' ।४।३।४२॥ इति वृद्धौ 'यजसृज०' ।२।१।८७। इति जस्स षत्वे 'षढोः ।२।१।६२॥ इति षस्य कत्वे 'नाम्यन्त स्था०' ।२।३।१५॥ इति प्रत्ययसकारस्य षत्वे नस्य णत्वे च—परिमार्क्ष्णुः । 'क्षि क्षये' 'क्षित् निवासगत्योः'—क्षेष्णुः—अत्र नाम्यन्तलक्षणो गुणः, नामिनः परतया सस्य षः, 'क्षिषश् हिंसायाम्' इत्यस्य न सानुबन्धत्वात् ॥३१॥

त्रसिगृधिधृषिक्षिपः क्नुः ।५।२।३२।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्यः क्नुः स्यात् । त्रस्नुः । गृध्नुः । धृष्णुः । क्षिप्नुः ॥३२॥

त्रसि०—। 'त्रसैच् भये'—त्रस्नुः । 'गृधूच् अभिकाङ्क्षायाम्'—गृध्नुः । 'ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये'—धृष्णुः क्षिपंच् प्रेरणे' 'क्षिपींत् प्रेरणे'—क्षिप्नुः । अत्र प्रत्ययस्य कित्त्वात् सर्वत्र गुणाभावः ॥३२॥

सनूभिक्षाशंसेरुः ।५।२।३३।

शीलादिसदर्थात्सन्नन्ताद् भिक्षाशंसिभ्यां च उः स्यात् । लिप्सुः । भिक्षुः । आशंसुः ॥३३॥

सनूभिक्षा०–। सूत्रे 'सन्' शब्द उपात्तः, स च द्विविधः—'तुमर्हा०' ।३।४।२१ इति विहितः सन् प्रत्ययरूपः, षन संभक्तौ इति 'षणूयी दाने' इति धातुगणपठितः सन् धातुरूपः, तत्र कस्येह ग्रहणमिति विचारणायां भिक्षिसाहचर्याद्धातोरेव ग्रहणमित्याशङ्कामपनेतुमाह–सन्नन्तादिति—प्रत्ययं विना 'सन्नन्तादित्यर्थो न ज्ञायते इति प्रत्ययग्रहणमिति ज्ञायते । प्रत्ययग्रहणे 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ।७।४।११५। 'विशेषणमन्तः' ।७।४।११३। इति सन्नन्तादित्यर्थो लभ्यते । 'तुमर्हा०' ।३।४।२१। इति सन्नन्तादनेनोप्रत्यये 'अतः' ।४।३।८२। इत्यकारलोपे लिप्सुः । आङ् शंस्' इति 'आ शसुङ् इच्छायाम्' इत्यस्य ग्रहणम्, न तु "शंस् स्तुतौ च' इत्यस्य, तत्राङ्योगस्यानियतत्वात् ।३३।

विन्दु-इच्छू ।५।२।३४।

शीलादिसदर्थाभ्यां वेत्तीच्छतिभ्यामुर्यथासङ्ख्यं नुपान्त्यच्छान्तादेशौ च निपात्येते । विन्दुः । इच्छुः ॥३४॥

विन्द्विच्छू०—। वेदनशीलो-विन्दुः । एषणशील इच्छुः ।।३४।

शॄवन्देरारुः ।५।२।३५।

आभ्यां शीलादिसदर्थाभ्यां आरुः । स्यात् । विशरारुः । वन्दारुः ॥३५॥

शॄवन्दे०–। विशीर्यत इत्येवंशील इति-विशरारुः, 'शॄश् हिंसायाम्' इति धातुः अयमपि कर्तर्येव प्रत्ययः, 'विशीर्यते' इत्यत्र कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां 'एकधातौ०' ।४।३।८६ इति क्य आत्मनेपदञ्च 'पदुङ्स्तुत्यभिवादनयोः'

स्तुतिर्गुणैः प्रशंसा,अभिवादनं पादयोः प्रणिपातः वन्दनशीलो-वन्दारुः।३५।

दाट्धेसिशदसदो रुः ।५।२।३६।

शीलादिसदर्थेभ्यो दारूपट्धेसिशदसद्भ्यो रुः स्यात् । दारुः । धारुः । सेरुः । शद्रुः । सद्रुः ।।३६।।

दाट्धे०–। 'डुदांग्क् दाने' 'देङ् पालने' 'दाम् दाने' 'दोंच् छेदने' 'दांव्क् लवने' 'दैव्' शोधने इति सर्वेषां दारूपत्वस्यौपदेशिकत्वप्रयोगिकत्वयोरन्यतरस्य सत्त्वाद् भवतीह दाग्रहणेन, ग्रहणम्, ददाति, दयते, यच्छति द्यति, दाति, दायति इत्येवंशीलो—दारुः, ट्धेग्रंहणद्दारूपमिह गृह्यते न संज्ञा ।ट्धें-पाने' धयतीत्येवंशीलो–धारुः। 'षिगृट् बन्धने' षिग्श् बन्धने सिनोतीत्येवं शीलः,सेरुः। 'शद्लृ शातने' 'शदेः शिति' ।३।३।४१। इत्यात्मनेपदे'श्रौति०' ।४।२।१०८। इति शीयादेशे 'शीयते' इति भवति, शीयते इत्येवंशील इति-शद्रुः। 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' विशरणं शटनम्, अवसादोऽनुत्साहः, 'षद्लृ अवसादने' सीदतीत्येवंशीलः-सद्रुः ।।३६।।

शीङ्श्रद्धानिद्रातन्द्रादयिपतिगृहिस्पृहेरालुः ।५।२।३७।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्य आलुः स्यात् । शयालुः । श्रद्धालुः । निद्रालुः । दयालुः । तन्द्रालुः । पतयालुः । गृहयालुः । स्पृहयालुः ।।३७।।

शीङ्०–। 'शीङ्क् स्वप्ने' शेते इत्येवंशील इत्यालौ-शयालुः। 'डुधांग्क् धारणे च' इत्यतः श्रत्पूर्वाद् श्रद्धत्ते इत्येवंशील इत्यालौ श्रद्धालुः। निद्राति, निद्रायति इत्येवंशीलः निद्रालुः। तन्द्रेतिः सौत्रो धातुः, तत आलौ-तन्द्रालुः। दयते इत्येवंशीलो--दयालुः। पति-गृहिस्पृह्योऽदन्ताश्चौरादिकाः, पतिगृही सौत्राविकारान्तौ वा, पतयतीत्येवंशीलः-पतयालुः गृह्यत इत्येवंशीलो-गृहयालुः, स्पृहयतीत्येवंशीलः-स्पृहयालुः ।।३७।।

ङौ सासहिवावहिचाचलिपापतिः ।५।२।३८।

शीलादिसदर्थानां सहिवहिचलिपतां यङन्तानां ङौ सति यथा-सङ्ख्यमेते निपात्यन्ते । सासहिः । वावहिः। चाचलिः। पापतिः ॥३८॥

ङौ सासहि०—। सासह्यत इत्येवंशीलः-सासहिः । वावह्यते—वावहिः । चाचल्यते—चाचलिः । पनीपत्यते-पापतिः । अत एव वचनात् ङिः,निपातनान् न्यागमाभावः, ङाविति ङकारः 'तृन्नुदन्ता०' ।२।२।८० इत्यत्र विशेषणार्थः ॥३८॥

सस्त्रिचक्रिदधिजज्ञिनेमिः ।५।२।३९।

एते शीलादौ सदर्थाद्व्युक्तमन्तो ङ्यन्ता निपात्यन्ते । सस्त्रिः । चक्रिः । दधिः । जज्ञिः । नेमिः ॥३९॥

सस्त्रि०—। सस्तीत्येवंशीलः-सस्त्रिः, करोतीत्येवंशीलः—चक्रिः, दधाति—दधिः, जायते जानाति वा—जज्ञिः, नमति-नेमिः, द्विवर्चनाभाव एत्वं च निपातनात् ॥३९॥

शॄकमगमहनवृषभूस्थ उकण् ।५।२।४०।

शीलादिसर्थेभ्य एभ्य उकण् । शारुकः । कामुकः । आगामुकः । घातुकः । वार्षुकः । भावुकः । स्थायुकः ॥४०॥

शॄकम०—। शृणातीत्येवंशीलः—शारुकः "नामिनो०" ।४।३।५१। इति वृद्धिः ॥४०॥

लषपतपदः ।५।२।४१।

शीलादिसदर्थेभ्य एभ्य उकण् स्यात् । अभिलाषुकः । प्रपातुकः । उपपादुकः ॥४१॥

लष०—। अभिलषतीत्येवंशील:-अभिलाषुक: । योगविभाग उत्तरार्थः ॥४१॥

भूषाक्रोधार्थजुसृगृधिज्वलशुचश्चानः ।५।२।४२।

भूषार्थेभ्यः क्रोधार्थेभ्यो ज्वादेर्लषादेश्च शीलादिसदर्थेभ्योऽनः स्यात् । भूषणः । क्रोधनः । कोपनः । जवनः । सरणः । गर्द्धनः । ज्वलनः । शोचनः । अभिलषणः । पतनः । अर्थस्य पदनः ॥४२॥

भूषा०—। भूषयतीत्येवंशीलो-भूषणः । जवति सौत्रो वेगाख्ये संस्कारे वर्तते, तेन चल्यर्थद्वारेण न सिध्यतीतीहोपादानम् । पदेरिदित्त्वादुत्तरेणैव सिद्धे सकर्मकार्थं वचनम्, "इङितो०' ।५।२।४४। इति सूत्रे 'चलशब्दार्थाद्०' ।५।२।४३। इति सूत्रे स्थितस्य 'अकर्मकाद्' इत्यस्यानुवर्तनात् 'इङितो०' ।५।२।४४। इत्यस्याकर्मकादेव प्राप्तेः, पदधातुः स्वभावतः सकर्मक एव, अविवक्षितकर्मतयैव क्वचिदकर्मकत्वमिति, एवत्सर्वं मनसि निधायाह— अर्थस्य पदन इति, अर्थज्ञानशील इत्यर्थः ॥४२॥

चलशब्दार्थादकर्मकात् ।५।२।४३।

चलार्थाच्छब्दार्थाच्च धातोः शीलादिसदर्थादकर्मकादनः स्यात् । चलनः । रवणः । अकर्मकादिति किम् । पठिता विद्या ॥४३॥

चल०—। चलतीत्येवंशील:-चलनः ॥४३॥

इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात् ।५।२।४४।

व्यञ्जनमादिरन्तश्च यस्य तस्मादिदितो ङितश्च धातोः शीलादिसदर्थादनः स्यात् । स्पर्द्धनः । वर्त्तनः । व्यञ्जनाद्यन्तादिति किम् । एधिता । शयिता । अकर्मकादित्येव । वसिता वस्त्रम् ॥४४॥

इङितो०—। "एधि वृद्धौ" एधत इत्येवंशील इति तृनि–एधिता । "वासिक् आच्छादने" वस्त इत्येवंशील इति तृनि–वसिता वस्त्रम् ॥४४॥

न णिङ्यसूददीपदीक्षः ।५।२।४५।

णिङन्तात् यन्तात् सूदादिभ्यश्च शीलादिसदर्थेभ्योऽनो न स्यात् । भावयिता । क्ष्मायिता । सूदिता । दीपिता । दीक्षिता ॥४५॥

न णिङि० "भूङ प्राप्तौ णिङ्" ।३।४।१९। इति वचनाद् भूधातोः प्राप्त्यर्थत्वं, ङित्वं, णिङ् च, भावयत इत्येवंशील इति 'तृन् शील०' ।५।२।२७। इति तृनि-भावयिता । 'क्ष्मायैङ् विधूनने' क्ष्मायते इत्येवंशील इति-क्ष्मायिता ॥४५॥

द्रमक्रमो यङ् ।५।२।४६।

शीलादिसदर्थाभ्यां यङन्ताभ्यामाभ्यामनः स्यात् । दन्द्रमणः । चङ्क्रमणः ॥४६॥

द्रम०—। कुटिलं द्रमति क्रामतीत्येवंशीलः—दन्द्रमणः, चङ्क्रमणः । सकर्मकार्थं वचनम्, य इति प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थं च । 'अतः' ।४।३।८२। इति हि लुक् प्रत्यये विषयभूतेऽपि भवति ॥४६॥

यजिजपिदंशिवदादूकः ।५।२।४७।

एभ्यो यङन्तेभ्यः शीलादिसदर्थेभ्य ऊकः स्यात् । यायजूकः ।

जञ्जपूकः । दन्दशूकः । बावदूकः ॥४७॥

यजि०—। भृशं पुनः पुनर्वा यजतीत्येवंशीलो--यायजूकः ॥४७॥

जागुः ।५।२।४८।

शीलादिसदर्थाज्जागुरूकः स्यात् । जागरूकः ॥४८॥

जागुः—। यङः इति निवृत्तम् । जागर्तीत्येवंशीलो—जागरूकः ॥४८॥

शमष्टकात् घिनण् ।५।२।४९।

शीलादिसदर्थेभ्यः शमादिभ्योऽष्टभ्यो घिनण् स्यात् । शमी । दमी । तमी । श्रमी । भ्रमी । क्षमी । प्रमादी । क्लमी ॥४९॥

शमष्टकात्०—। शाम्यतीत्येवंशीलः–शमी । घञन्तान्मत्वर्थीयेन सिद्धयति तृन्बाधनार्थं तु वचनम् । णकारो वृद्धयर्थः । घकारः उत्तरत्र कत्वगत्वार्थः ॥४९॥

युजभुजभजत्यजरञ्जद्विषदुषद्रुहदुहाभ्याहनः ।५।२।५०।

शीलादिसदर्थेभ्य एभ्यो घिनण् स्यात् । योगी । भोगी । भागी । त्यागी । रागी । द्वेषी । दोषी । द्रोही । दोही । अभ्याघाती । अकर्मकादित्येव । गां दोग्धा ॥५०॥

युज-भुज०—। युज्यते युनक्ति वा इत्येवंशीलो योगी । भुङ्क्ते भुनक्ति भुजतीति वा भोगी । रागीति—'अकट्घिनो'० ।४।२।६०। इति नलोपः । गां दोग्धेति–अत्र तृनि 'भ्वादे०' ।२।१।८३। इति, 'अधश्चतुर्था०' ।२।१।७९। इति, 'ततीय०' ।१।३।३९। इति च—दोग्धा ॥५०॥

आङः क्रीडमुषः ।५।२।५१।

शीलादिसदर्थाभ्यामाभ्यां आङ्पूर्वाभ्यां घिनण् स्यात् । आक्रीडी । आमोषी ॥५१॥

आङः०—। आक्रीडते इत्येवंशीलः—आक्रीडी । शीलादिप्रत्ययान्ताः प्रायेण रूढिप्रकारा यथादर्शनं मुक्तोपसर्ग-प्रयुज्यन्त इति उपसर्गान्तरे उपसर्गाधिक्ये वा शीलादिप्रत्यया न भवन्ति । एवमुत्तरत्रापि ॥५१॥

प्राच्च यमयसः ।५।२।५२।

शीलादिसदर्थाभ्यामाङः प्राच्च पराभ्यामाभ्यां घिनण् स्यात् । प्रयामी । आयामी । प्रयासी । आयासी ॥५२॥

प्राच्च०—। प्रयच्छतीत्येवंशीलः—प्रयामी ॥५२॥

मथलपः ।५।२।५३।

प्रात्पराभ्यामाभ्यां शीलादिसदर्थाभ्यां घिनण् स्यात् । प्रमाथी । प्रलापी ॥५३॥

मथलपः—। प्रमथतीत्येवंशीलः—प्रमाथी ॥५३॥

वेश्च द्रोः ।५।२।५४।

वेः प्राच्च परात् द्रो शीलादिसदर्थाद् घिनण् स्यात् । विद्रावी । प्रद्रावी ॥५४॥

वेश्च द्रोः—। विद्रवतीत्यवंशील.—विद्रावी ॥५४॥

विपरिप्रात्सर्त्तेः ।५।२।५५।

एभ्यः पराच्छीलादिसदर्थात्सदर्थात्सर्त्तेर्घिनण् स्यात् । विसारी । परिसारी । प्रसारी ॥५५॥

विपरीति यद्यपि 'वेश्च द्रोः' ।५।२।५४ इति सूत्रात् चकारेण विमनुकृष्य विशब्दात्सर्त्ते-र्घिनण् सिध्यति, तथापि 'विपरिप्रात्सर्त्तेः, इति सूत्रं कृत्वा घिनण्-करणेऽपि एकस्या अपि मात्राया गौरवो न जायत इत्येतादृशं सूत्रकरणमपि युक्तं प्रतिभाति ।
अथवा चकारानुकर्षणेन घिनण्करणे गौरवो भवेत् तथाहि चकारं कृत्वानु-कर्षणे प्रथमं चकारार्थानुसंधानं कार्यम्, पश्चात्पूर्वसूत्रस्यानुसंधानं कार्यम् तथा विशब्दार्थस्यानुसन्धानं कार्यम्, तदैतत्सूत्रार्थलाभो संजायेतेति विग्रह-णम् । अत्र सूत्रे विग्रहणे तु केवलविशब्दार्थस्यानुसंधानेन वार्थलाभो भवति विसरतीत्येवंशीलो-विसारी ॥५५॥

समः पृचैप्ज्वरेः ।५।२।५६।

शीलादिसदर्थाभ्यां समः पराभ्यां पृणक्तिज्वरिभ्यां घिनण् स्यात् । संपर्की । संज्वरी ॥५६॥

समः०—। 'पृचैप् संपर्के' संपृणक्तीत्येवंशीलः—संपर्की । पिन्निर्देशाद् 'पृचैप् सम्पर्चने' इति पृचेरादादिकस्य न ग्रहणम् । संज्वरतीत्येवंशीलः—संज्वरी ॥५६॥

संवेः सृजः ।५।२।५७।

शीलादिसदर्थात्संविभ्यां परात्सृजेर्घिनण् स्यात् । संसर्गी । विसर्गी ॥५७॥

संवेः०—। संसृजतीत्येवंशीलः संसृज्यते वा संसर्गी, 'क्तेऽनिटः०' ।४।१।१११ इति जस्य गः ॥५७॥

संपरिव्यनुप्राद्वदः ।५।२।५८।

शीलादिसदर्थेभ्यः पराद्वदेर्घिनण् स्यात् । संवादी । परिवादी । विवादी । अनुवादी । प्रवादी ।।५८।।

संपरि०—। नच 'संवेः सृजः' ।५।२।५७। इति सूत्रात् संवि चकारेणानुकृष्यास्य सूत्रस्यार्थो संजायते, तस्मात् संविग्रहणमनर्थकमिति वाच्यम्, 'विपरिप्रात्०' ।५।२।५४। इति सूत्रेऽस्याः शङ्काया निराकृतत्वात्, नन्वत्र सूत्रे संविग्रहणमकृत्वा चकारकरणे लाघवं भवेदिति न पूर्वसूत्रेणोत्तरितत्वमिति चेत्सत्यम्–पूर्वसूत्रानुसन्धानं विनाऽपीदृशार्थावगत्यर्थमत्र सूत्रे संविग्रहणम्, एतेनानुसंधानलक्षणगौरवापत्तिरपि न, यतः क्वचिदर्थावगतयेऽपि क्लिष्टतास्वरूपो गौरवो न भवेदिति मात्रागौरवं करोत्याचार्यः, यथा 'स्यौजस०' ।१।१।१८। इति सुपामिति बहुवचनम् । अत्राप्यर्थावगतये गौरवो न भवेदिति बहुवचनं कृतमस्ति तथाहि 'तदादेशाः तद्वद्भवन्ति' इति न्यायेन साध्यसिद्धि भविष्यति, किं बहुवचनेन ? सत्यम्–न्याय विनाऽपीत्थं साधितम् । इयं महती शक्तिर्यत्परिभाषां न्यायान् च विनाऽपि साध्यत इति । साध्यसिद्धिः स्याद्यादेशानामपि प्रथमादिसंज्ञाप्रतिपत्तिः । अन्यदपि प्रयोजनं दृश्येत, तदातदप्यादरणीयमेवेति विद्वद्भिर्मृग्यम् । संवदतीत्यवंशीलः–संवादी ।।५८।।

वेर्विचकत्थस्रम्भकषकसलसहनः ।५।२।५९।

शीलादिसदर्थेभ्यो विपूर्वेभ्य एभ्यो घिनण् स्यात् । विवेकी । विकत्थी । विस्रम्भी, विकाषी । विकासी ।।विलासी । विघाती ।।

वेर्विच०—। विविनक्तीत्येवंशीलः 'क्तेऽनिटः०' ।४।१।१११। इति चस्य के विवेकी । विघातीति–'ञ्णिति घात्' ।४।३।१००। इति घातादेशः ।।५९।।

व्यपाभेर्लषः ।५।२।६०।

एभ्यः परात्लषेः शीलादिसदर्थाद् घिनण् स्यात्। विलासी। अपलाषी, अभिलाषी ॥६०॥

व्यपा०—। विलषतीत्येवंशीलः—विलाषी ॥६०॥

सम्प्राद्वसात् ।५।२।६१।

अभ्यां पराद्वसतेः शीलादिसदर्थाद् घिनण् स्यात्। संवासी। प्रवासी ॥६१॥

संवसतीत्यवंशीलः—संवासी। शब्निर्देशाद्वस्तेर्न भवति ॥६१॥

समत्यपाभिव्यभेश्चरः ।५।२।६२।

एभ्यः पराच्चरेः शीलादिसदर्थाद् घिनण् स्यात्। सञ्चारी। अतिचारी। अपचारी। अभिचारी। व्यभिचारी ॥६२॥

संचरतीत्येवंशीलः—सञ्चारी ॥६२॥

समनुव्यवाद्रुधः ।५।२।६३।

एभ्यः पराच्छीलादिसदर्थाद्रुधो घिनण् स्यात्। संरोधी। अनुरोधी। विरोधी। अवरोधी ॥६३॥

समनु०—। संरुन्धे इत्यवंशीलः—संरोधी ॥६३॥

वेर्दहः ।५।२।६४।

विपूर्वाच्छीलादिसदर्थाद्दहेर्घिनण् स्यात्। विदाही ॥६४॥

वेदंड़: —विदहतीत्येवंशील:—विदाही ॥६४॥

परेर्देविमुहश्च ।५।२।६५।

परिपूर्वाभ्यां शीलादिसदर्थाभ्यामाभ्यां दहेश्च घिनण् स्यात् । परिदेवी । परिमोही । परिदाही ॥६५॥

परेर्देवि०—। देवीति देवृधातोरण्यन्तस्यण्यन्तस्य च ग्रहणम् दीव्यतेर्यन्तस्य तु न, तस्य देवीति रूपस्य लक्षणिकत्वात् । परिदेवते परिदेवयति वा–परिदेवी ॥६५॥

क्षिपरट: ।५।२।६६।

परिपूर्वाभ्यामाभ्यां शीलादिसदर्थाभ्यां घिनण् स्यात् । परिक्षेपी । परिराटी ॥६६॥

क्षिप०—। परिक्षिप्यति परिक्षिपति वा परिक्षेपी ॥६६॥

वादेश्च णक: ।५।२।६७।

परिपूर्वाच्छीलादिसर्थाद्वादयते:, क्षिपरटिभ्यां च णक: स्यात् । परिवादक: । परिक्षेपक: । परिराटक: ॥६७॥

वादेश्च०—। परिवादयतीत्येवंशील:—परिवादक: । सामान्यकर्तरि विहिता अपि प्रत्यया: प्रकरणवशेन शीलादिविशिष्टमपि कर्तारमभिधास्यत एव, सर्वविशेषस्य सामान्यान्तर्गतत्वात्, तथा च कर्तरि विहितो 'णकतृचौ' ५।१।४८। इति णकप्रत्यय: शीलार्थेऽपि वाऽसरूपविधिना भविष्यत्येवेति सूत्रमिदं व्यर्थमिति । न । 'असरूपत्वात्०' ।५।१।४८। इति सिद्धे पुनर्विधानं शीलादिप्रत्ययेष्वशीलादिकृत्प्रत्ययोऽसरूपविधिर्न भवतीति ज्ञापनार्थम्, तेन 'णकतृचौ' ।५।१।४८। इति णके, 'नाम्युपान्त्य०' ।५।१।५४। इति के

'अच' ।५।१।४६। इत्यचि च शीलाद्यर्थेऽलंकारकः, परिक्षिपः, परिरट इत्यादि न भवति ॥६७॥

निन्दहिंसक्लिशखादविनाशिव्याभाषासूयानेकस्वरात् ५।२।६८।

एभ्यः शीलादिसर्थेभ्यो णकः स्यात् । निन्दकः । हिंसकः । क्लेशकः । खादकः । विनाशकः । व्याभाषकः । असूयकः । चकासकः ॥६८॥

निन्द०—। निन्दतीत्येवंशीलो–निन्दकः । क्लिश्नाति, क्लिश्यते वा–क्लेशकः । विनाशयति–विनाशकः । असूयक इति असूयः कण्ड्वादौ, अनेकस्वरत्वादेव सिद्धेऽसूयग्रहणं कण्ड्वादिनिवृत्त्यर्थम्, तेन–कण्डूयिता, मन्तूयिता, अत्रतून्नेव । विनाशिग्रहण मन्यस्यण्यन्तस्य निवृत्त्यर्थम्-कारयिता क्लिशेरविशेषेण ग्रहणाद् दैवादिकादिदिस्वेऽपि अनो न भवति ॥६८॥

उपसर्गाद्देवृदेविक्रुशः ।५।२।६९।

उपसर्गात्परेभ्यः शीलादिसदर्थेभ्य एभ्यो णकः स्यात् । आदेवकः । परिदेवकः । आक्रोशकः ॥६९॥

उपसर्गा०=। आदेवत इत्येवंशीलः=आदेवकः । देवीति दीव्यतेर्देवतेर्वा ण्यन्तस्य ग्रहणम् । परिदेवयतीत्येवंशीलः=परिदेवकः ॥

वृङ्भिक्षिलुण्टिजल्पिकुट्टाट्टाकः ।५।२।७०।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्यष्टाकः स्यात् । वराकी । भिक्षाकः । लुण्टाकः । जल्पाकः । कुट्टाकः ॥७०॥

वृङ्०=। वृणीत इत्येवंशीला-वराकी । टकारो ङ्यर्थ ॥७०॥

प्रात्सूजोरिन् ।५।२।७१।

आभ्यां प्रात्पराभ्यां शीलादिसदर्थाभ्यां इन् स्यात् । प्रसवी । प्रजवी ॥७१॥

प्रात्० — । 'सू' इति निरनुबन्धग्रहणात् सुवतेर्ग्रहणम्, न सूतिसूयत्योः । प्रसुवतीत्यवंशीलः — प्रसवी ॥७१॥

जीण्दृक्षिविश्रिपरिभूवमाभ्यमाव्यथः ।५।२।७२।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्य इन् स्यात् । जयी । अत्ययी । आदरी । क्षयी । विश्रयी । परिभवी । वमी । अभ्यमी । अव्यथी ॥७२॥

जयतीत्येवंशीलो — जयी । क्षयीति क्षीति क्षिक्षितोर्ग्रहणम् ॥७२॥

सृघस्यदो मरक् ।५।२।७३।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्यो मरक् स्यात् । सृमरः । घस्मरः । अद्मरः ॥७३॥

सृघस्यदो० — । सरतीत्येवंशीलः — सृमरः ॥७३॥

भञ्जिभासिमिदो घुरः ।५।२।७४।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्यो घुरः स्यात् । भङ्गुरम् । भासुरम् । मेदुरम् ॥७४॥

भज्यते स्वयमेवेत्येवंशीलं — भङ्गुरमिति घुरस्य घित्त्वात् 'क्तेऽनिटः०' ।४।१।१११। इति जस्य गत्वम्, नकारस्थानीयञकारस्य

'म्नां०' ।३।१।३९। इति ङत्वम् । भासते इत्येवंशीलं=भासुरम् । मेद्यति, मेदते वेत्येवं शीलं=मेदुरम् ॥७४॥

वेत्तिच्छिदभिदः कित् ।५।२।७५।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्यः कित् घुरः स्यात् । विदुरः । छिदुरः । भिदुरः ॥७५॥

वेत्ति०—। वेत्तीत्येवंशीलो=विदुरः । छिद्यते भिद्यते स्वयमेवेत्येवंशीलः-छिदुरः, भिदुरः, कित्वाङ्गुणो न भवति । वेत्तीति तिव्निर्देश इतरविदित्रयव्युदासार्थः ॥७५॥

भियो रुरुकलुकम् ।५।२।७६।

शीलादिसदर्थाद् भियः कित एते स्युः । भीरुः । भीरुकः । भीलुकः ॥७६॥

भियो—बिभेतीत्येवंशीलो भीरुरित्यादि, कित्वात्सर्वत्र गुणाभावः । ननु ऋफिडादौ भीरुकशब्दपाठेन लत्वे सिद्धे पृथग्लुकप्रत्ययस्य विधानमुचितमिति । उच्यते—'ऋफिडादीनां०' ।२।३।१०४। इति सूत्रे पठिता ऋफिडादयो न स्वभावतः क्वचन परिगणिताः, किन्तु प्रयोगत एवानुसर्तव्या इति के तत्र ग्राह्याः के नेति विचारस्य लक्ष्यानुरोधितया ज्ञानगौरवाधायकत्वाद् वरं लुक्प्रत्ययस्य पार्थक्येन विधानम् ॥७६॥

सृजीण्नशष्ट्वरप् ।५।२।७७।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्यः कित् ट्वरप् स्यात् । सृत्वरी । जित्वरी । इत्वरः । नश्वरः ॥७७॥

सृजी०—सरतीत्येवंशीला—सृत्वरी, 'ह्रस्वस्य०' ।४।४।११३। इति तागमः,

टित्त्वात् 'अणेञ्०' ।२।४।२०। इति ङीः । इत्वर इति-गमनशीलार्थे निष्पन्नोऽपीत्वरशब्दः क्रूरकर्मणि, पथिके, नीचे, दुर्विधे च वर्तते । इत्वर-शब्दस्य हि व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यदन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तमस्ति ।।७७।।

गत्वरः ।५।२।७८।

गमेष्ट्वरप्मश्च त् निपात्यते । गत्वरी ।।७८।।

गत्वरीत्यत्र—"अणञेये० ।२।४।२०। इति ङीः ।।७८।।

स्म्यजसहिंसदीपकम्पकमनमो रः ।५।२।७९।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्यो रः स्यात् । स्मेरम् । अजस्रम् । हिंस्रः । दीप्रः । कम्प्रः । कम्रः । नम्रः । ।।७९।।

स्म्यजस०—'स्मयत इत्येवंशीलं—स्मेरम् । अजसिति 'जसूच् मोक्षणे' नञ्पूर्वः, न जस्यतीत्येवंशीलम्—अजस्रम्, अजस्रशब्दोऽयं स्वभावात् सातत्यविशिष्टां क्रियामाह, तेन धात्वर्थं एव कर्तरि रः प्रत्ययोऽन्यथा क्रियाभिधानानुपपत्तेः, तेनाजस्रो घट इति न भवति । कामयत इत्येवंशीलः कम्रः ।।७९।।

तृषिधृषिस्वपो नजिङ् ।५।२।८०।

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्यो नजिङ् स्यात् । तृष्णक् । धृष्णक् । स्वप्नजौ ।।८०।।

तृषि—'तृष्यतीत्येवंशीलो नजिङि, ङित्त्वाद्गुणाभावे 'चजः०' ।२।१।८६। इति जस्य गत्वे, विरामे वा' ।१।३।५१ इति कत्वे च तृष्णक् । इकार उच्चारणार्थः ।।८०।।

स्थेशभासपिसकसो वरः ।५।२।८१

एभ्यः शीलादिसदर्थेभ्यो वरः स्यात्। स्थावरः । ईश्वरः । भास्वरः । पेश्वरः । विकस्वरः ॥८१॥

स्थेश०—तिष्ठतीत्येवंशीलः—स्थावरः ॥८१॥

यायावरः ।५।२।८२।

यासेर्यङन्ताच्छीलादिसदर्थाद् वरः स्यात् । यायावरः ॥८२॥

यायावरः—"कुटिलं यातीत्येवंशीलो—यायावरः ॥८२॥

दिद्युद्ददृज्जगज्जुहूवाक्प्राट्धीश्रीद्रूस्रूज्वायतस्तूकटप्रूपरिव्राट्भ्राजादयः क्विप् ।५।२।८३।

एते क्विबन्ताः शीलादौ सत्यर्थे निपात्यन्ते । विद्युत् । ददृत् । जगत् । जुहूः । वाक् । तत्वप्राट् । धीः । श्रीः । शतद्रूः । स्रूः । जूः । आयतस्तूः । कटप्रूः । परिव्राट् । विभ्राट् । भाः ८३॥

विद्युत्—"द्योतत इत्येवंशीलोदि-द्युत्, दृणातीति—ददृत्, गच्छतीति—जगत्, जुहोतीति—जुहूः, एषु द्वित्वम्, दृणातिजुहोत्योर्ह्रस्वत्वदीर्घत्वे च । वक्तीति-वाक्, तत्त्वं पृच्छतीति—तत्त्वप्राट्, दधाति ध्यायति वा—धीः, श्रयतीति—श्रीः, शतं द्रवतीति—शतद्रूः, स्रवतीति—स्रूः, जवतीति—जूः, आयतं स्तौतीति-आयतस्तूः, कटं प्रवते—कटप्रूः, परिव्रजतीति—परिव्राट् एषु दीर्घत्वम्, दधातेराकारस्य ध्यायतेर्याशब्दस्य चेकारः। विभ्राजत इति—विभ्राट्। भासत इति—भाः । शीलादिष्वसरूपविधिर्नास्ति, तेन—सामान्यलक्षणः क्विप् न प्राप्नोतीति पुनर्विधीयते । शीलादिप्रत्ययानां पूर्णोऽवधिः ॥८३॥

शंसंस्वयंविप्राद् भुवो डुः ।५।२।८४।

एभ्यः पराद्भुवः सदर्थात् डुः स्यात् । शम्भुः । सम्भुः । स्वयम्भुः । विभुः । प्रभुः ॥८४॥

शं सुखं तत्र भवति-शम्भुः ॥८४॥

पुव इत्रो दैवते ।५।२।८५।

सदर्थात्पुवो दैवते कर्त्तरि इत्रः स्यात् । पवित्रोऽर्हन् ॥८५॥

पुव०-"पुनाति पवते वा-पवित्रोऽर्हन् ॥८५॥

ऋषिनाम्नोः करणे ।५।२।८६।

ऋषिसंज्ञयोः सदर्थात्पुवः करणे इत्रः स्यात् । पवित्रोयमृषिः । दर्भः पवित्रः ॥८६॥

पूयतेऽनेनेति-पवित्रोऽयमृषिः । दर्भः पवित्रः इति-दर्भस्य पवित्र इति संज्ञा ॥८६॥

लूधूसूखनिचरसहार्त्तेः ।५।२।८७।

एभ्यः सदर्थेभ्यः करणे इत्रः स्यात् । लवित्रम् । धवित्रम् । सवित्रम् । खनित्रम् । चरित्रम् । सहित्रम् । अरित्रम् ॥८७॥

लू-धू-'लुनात्यनेनेति लवित्रम् । धुवत्यनेनेति-धवित्रम् । सुवत्यनेन-सवित्रम् : निरनुबन्धग्रहणाद् धूग्सूङोर्न भवति । ऋच्छतीयर्ति वाऽनेन अरित्रम् ॥८७॥

नीदाव्शसूयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतपानहस्त्रट् ।५।२।८८।

एभ्यः सदर्थेभ्यः करणे त्रट् स्यात् । नेत्रम् । दात्रम् । शस्त्रम् । योत्रम् । स्तोत्रम् । तोत्त्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्त्रम् । पात्री । नध्री ॥८८॥

नी-दाव्–"नयत्यनेन–नेत्रम् । दात्यनेन–दात्रम् ॥८८॥

हलक्रोडास्ये पुवः ।५।२।८६।

सदर्थात्पुवो हलक्रोडयोर्मुखे करणे त्रट् स्यात् । पोत्रम् ॥८६॥

हल–"पुनाति पवते वाऽनेन–पोत्रम्, हलस्य सूकरस्य च मुखमुच्यते ।८६॥

दंशेस्त्रः ।५।२।६०।

सदर्थाद्दंशेः करणे त्रः स्यात् । दंष्ट्रा ॥६०॥

"दशत्यनया–दंष्ट्रा । प्रत्ययान्तरकरणमाबर्थम्, अन्यथा टित्त्वाद् ङीः स्यात् ॥६०॥

धात्री ।५।२।६१।

ट्धेर्धागो वा कर्मणि त्रट् स्यात् । धात्री ॥६१॥

धात्री–'नीदाव्०' ।५।२।८८। इति सूत्रे धाशब्दपाठेनैव 'ट्धें पाने' 'डुधांग्क् धारणे च' इत्यनयोर्ग्रहणसम्भवे धात्रीत्यस्य सिद्धावपि तस्य करणार्थकत्वात् निपातनमाश्रितमित्याह–कर्मणीति । धयन्ति तामिति–धात्री=स्तनदायिनी, अथवा–दधति तां भैषज्यार्थमिति धात्री=आमलकी ॥६१॥

ज्ञानेच्छार्चार्थञीच्छील्यादिभ्यः क्तः ।५।२।६२।

ज्ञानेच्छार्चार्थेभ्यो ञीम्द्यः शील्यादिभ्यश्च सदर्थेभ्यः क्तः स्यात् । राज्ञां ज्ञातः राज्ञामिष्टः । राज्ञां पूजितः । भिन्नः । शीलितः । रक्षितः ॥९२॥

ज्ञानेच्छा---"अत्र सकर्मकेभ्यः, कर्मणि, अकर्मकेभ्यः कर्तरि क्तः प्रयुज्यत इति इति कथं लभ्यमिति चेद् उच्यते---एतद्विषये न किमपि विशेषतो विधेयमपि त्वस्मिन्नध्याये प्रथमपादादौ यथा यस्माद्धातोर्यः प्रत्ययो यत्रार्थे विहितस्तत्रैव स्यात्, केवलं भूतार्थविषयत्वमेव न स्वीकर्तव्यमिति वर्तमान-कालमात्रस्यैवात्र विशेषतो विधेयत्वम् । 'ज्ञांश् अवबोधने" अतः सकर्म-कत्वात् कर्मणि क्तेऽनेन वर्तमानकालतायां---राज्ञां ज्ञातः इति---'क्तयो०' ।२।२।९१। इत्यत्र वर्तमानकालवर्जनान्न षष्ठीनिषेधः इति 'कर्तरि ।२।२।८६। षष्ठ्यां राज्ञामिति, अनुस्वारेत्त्वादिडभावे च---ज्ञात इति, राजभिर्ज्ञायमान इत्यर्थः । 'इषत् इच्छायाम्' राज्ञामिष्टः इति---'सहलुभे०' ।४।४।४६। इति वेट्त्वात् 'वेटोऽपतः' ।४।४।६२। इति क्ते परे इडभावे षकारयोगे तकारस्य टकारे---इष्ट इति, राजभिरिष्यमाण इत्यर्थः । 'पूजण् पूजायाम्' राज्ञां पूजितः इति---राजभिः पूज्यमान इत्यर्थः । सर्वत्र 'ज्ञानेच्छार्चा०' ।३।१।८६। इति समासाभावः ॥९२॥

उणादयः ।५।२।९३।

सदर्थाद्धातोरुणादयो बहुलं स्युः । कारुः । ईडुः ॥९३॥

उणादय०"ननु किं नाम बहुलमिति चेद् । उच्यते---क्वचित् प्रवृत्तिः, क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा, क्वचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, बाहुलकं चतुर्विधं वदन्ति ॥१॥ इति । 'डुकृंग् करणे' करोतीति---कारुः, ॥९३॥

❀ इति पञ्चमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ❀

प्र०—जंगल में से साधू--जाते हों और कोई मृग जीवन बचाने हेतु भाग रहा हो और साधू ने उसे देखा हो कि कौन-सी दिशा में गया है। उसके पीछे कोई शिकारी आकर पूछे तो साधू झूठा जवाब देवे न ? तो क्या महाव्रत का भंग हुआ ऐसा माना जायगा ?

उ०—नहीं, उसमें महाव्रत का भंग नहीं होता। साधू को झूठ नहीं बोलने की प्रतिज्ञा है। जितना सच्चा जाने वह सब बोलना ही वैसा नहीं है। सच्चा भी अहितकर नहीं बोल सकता वैसी आज्ञा है। इसमें—तपोवन में आज्ञा नहीं है।

एक मन्दिर है। वहाँ वृक्ष उगा। वह वृक्ष गिरे तो मन्दिर टूटे वैसा लगे तो हम श्रावकों को समझावें। समझाने पर भी यदि श्रावक नहीं माने तो हम स्वयं वृक्ष उखाड़ें यह आज्ञा। ऐसे समय यदि अपवाद आज्ञा नहीं पाले तो पाप लगता है। **वृक्ष काटा जा सकता है। परन्तु वनस्पति नहीं की जा सकती, प्रेरणा भी नहीं की जा सकती।**

प्र०—क्या शासन के उत्कर्ष के लिये नहीं ?

उ०—जो ऐसा माने उसका' वे जाने परन्तु ऐसा बोला भी नहीं जा सकता, पाप लगता है।

हमारे से जितना बोला जाय उतना ही बोल सकते हैं, ज्यादा कुछ भी नहीं बोल सकते।

आज तुम लोग भिखारियों को भीख नहीं देते, और हमको चाहिये उतनी भिक्षा मिलती है। तो हम तुम्हारे यहाँ से लाकर भिखारियों को देने लगे तो तुम तुम्हारे घर में हमको आने दोगे ? हमारी पूरी विधि अलग है। साधु श्रावक को पहचाने और श्रावक साधु को पहचाने तो काम हो जाय।

प्र०—आज पुस्तकादि में भी अमुक की प्रेरणा से छपा वैसा लिखा जाता है।

उ०—साधू प्रेरणा नहीं कर सकते। वैसा करते हों तो वह गलत है। उपदेश से हुआ वैसा कहा जाता है।

हमारे से जितना उपदेश में कहा जाय उतना ही बोला जा सकता है। आदेश में जो कहा जाता है वह हम नहीं बोल सकते। हम आदेश करें और उसे नहीं मानें तो उसका पाप हमको लगता है।

प०पू० कलिकाल—कल्पतरु आचार्य—
देव श्री विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

भादरवा सुदी पंचमी को उपाध्याय श्रीधर्मसागर जी म. ने 'मरी हुई माता जैसी कही है। और चतुर्थी को कल्पलता जैसी कही है। देखो कल्पकिरणावली में आपके अक्षर—

"मुञ्च मृतमातृसदृशीं पञ्चमीं, स्वीकुरु च कल्पलतासमां चतुर्थीम्" अर्थ—मरी हुई माता जैसी पंचमी को छोड़ दो और कल्पलता समान चतुर्थी को स्वीकार करो।

परन्तु आश्चर्य है कि इतने शास्त्रपाठ होते हुए भी आज कई लोग पञ्चमी की संवत्सरी करने को तैयार हुए है। भादरवा सुदी पंचमी की वृद्धि में भादरवा सुदी त्रीज की वृद्धि करनी यानी भादरवा सुदी पहली पंचमी को ही संवत्सरी होती है।

—:०:—

अथ पञ्चमाध्याये तृतीयः पादः

वर्त्स्यति गम्यादिः ।५।३।१।

गम्यादयो भविष्यत्यर्थे इन्नाद्यन्ताः साधवः स्युः । गमी ग्रामम् । आगामी ॥१॥

वर्त्स्यति गम्यादिः—। गमिष्यतीति—गमी ग्रामम्, इन्नौणादिकः सति प्राप्तौ वर्त्स्यति भवति । आगमिष्यतीति—आगामी अत्रौणादिको णिन् । ॥१॥

वा हेतुसिद्धौ क्तः ।५।३।२।

वर्त्स्यदर्थाद्धातोर्धात्वर्थहेतोः सिद्धौ सत्यां क्तो वा स्यात् । मेघश्चेद् वृष्टः सम्पन्नाः सम्पत्स्यन्ते वा शालयः ॥२॥

वा हेतुः—। मेघश्चेद् वृष्टः सम्पन्नाः सम्पत्स्यन्ते वा शालयः इति—अत्र सम्पूर्वात् 'पदिच् गतौ' इत्यतः प्रत्ययश्चिकीर्षित इति तदर्थभूतायाः शालिनिष्पत्तेर्हेतुर्वर्षणं तस्य सिद्धिर्वृष्टः क्तप्रत्ययेनो—क्तं वेति भवति सम्पूर्वाद् पदेः क्तप्रत्ययोऽनेन, अनुस्वारेत्वादिडभावे क्तस्य धातुदस्य च 'रदाद' ।४।२।६९॥ इति नादेशे—सम्पन्ना इति । अस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे भविष्यन्त्यपि भवतीत्याह—सम्पत्स्यन्त इति ॥२॥

कषोऽनिटः ।५।३।३।

कषेः कृच्छ्रगहनयोरनिड्धातोर्वर्त्स्यदर्थात् क्तः स्यात् । कष्टम् ।

कष्टा दिशस्तमसा । अनिट इति किम् । कषिताः शत्रवः ।।३।।

कषोऽनिटः=। कृच्छ्रं दुःखम्, गहनं दुष्प्रवेशम् । 'कषः कृच्छ्रगहने' ।४।४।६७।। इति क्तयोः कषोऽनिट्त्वमुक्तम्' । कषिष्यतीति क्ते 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०।। इति तस्य टे=कष्टमिति । **कषिताः शत्रव** इति=निर्मूलिता इत्यर्थः । अत्र कषः कृच्छ्रगहनयोर-भावाद-निट्त्वं नास्तीति क्तो भविष्यति न भवति, अपि तु भूते । 'कषिष्यतीति कष्टम् । 'इत्यत्र कषिष्यतीति तु अर्थकथनमात्रम् यतः कष्टगहनार्थयोः वर्त्स्यति क्त एव भवति, असरूप-विधिरपि नेष्टः, पूर्वत्र वाग्रहणात् ।।३।।

भविष्यन्ती ।५।३।४।

वर्त्स्यदर्थाद्धातोर्भविष्यन्ती स्यात् । भोक्ष्यते ।।४।।

भविष्यन्ती=। 'भुजंप् पालनाभ्यव—हारयोः' अभ्यवहारो भोजनम् । त्राणादन्यत्र 'भुनजोऽत्राणे' ।३।३।३७।। इत्यात्मनेपदे—भोक्ष्यते इति—'लघोरूपान्त्यस्य' ।४।३।४।। इति गुणः, 'चजः कगम्' ।२।१।८६।। इति जस्य गः, तस्य अघोषे०' ।१।३।५०।। इति कः, 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति सस्य षः ।।४।।

अनद्यतने श्वस्तनी ।५।३।५।

नास्त्यद्यतनो यत्र तस्मिन् वर्त्स्यत्यर्थे वर्त्तमानाद्धातोः श्वस्तनी स्यात् । कर्त्ता । अनद्यतन इति किम् । अद्य श्वो वा गमिष्यति ।।५।।

अनद्यतनें श्वस्तनी=। 'डुकृंग् करणे' अतः श्वस्तनीताप्रत्ययेऽनुस्वारेत्त्वादिडभावे गुणे च=कर्ता ।।५।।

परिदेवने ।५।३।६।

अनुशोचने गम्ये वर्त्स्यदर्थाद्धातोः श्वस्तनी स्यात् । इयं तु कदा गन्ता, यैवं पादौ निधत्ते ॥६॥

परिदेवने—। अनुशोचन इति—अनु पश्चात्, शोचनं तद्विषयकदुःख-प्रकटनमित्यर्थः । भविष्यत्सामान्यस्य विवक्षाया पूर्वेण श्वस्तन्या अप्राप्तौ सूत्रमिदम् । विशेषविधानात् कदाकर्हिलक्षणा विभाषा बाध्यते ॥६॥

पुरायावतोर्वर्त्तमाना ।५।३।७।

अनयोरुपपदयोर्वर्त्स्यदर्थाद्धातोर्वर्त्तमाना स्यात् । पुरा भुङ्क्ते । यावद्भुङ्क्ते ॥७ ।

पुरायावतो०—। भविष्यदनद्यतेऽपि परत्वाद् वर्तमानैव भवति—पुरा श्वो भुङ्क्ते, यावच्छ्वो व्रजति ॥७॥

कदाकर्ह्योर्नवा ।५।३।८।

अनयोरुपपदयोर्वर्त्स्यदर्थधातोर्वर्त्तमाना वा स्यात् । कदा भुङ्क्ते । कदा भोक्ष्यते । कदा भोक्ता । कर्हि भुङ्क्ते । कर्हि भोक्ष्यते । कर्हि भोक्ता ॥८॥

कदाकर्ह्यो०—। सामान्यतो भविष्यति विहिताया वर्तमानाया अभावे, अनद्यतने भविष्यति श्वस्तनी, सामान्ये भविष्यति भविष्यन्ती भवति । ॥ ८ ॥

किंवृत्ते लिप्सायाम् ।५।३।९।

विभक्तिडतरडतमान्तस्य किमो वृत्तं किंवृत्तं तस्मिन्नुपपदे प्रष्टु-

लिप्सायां गम्यमानायां वर्त्स्यदर्थाद्धातोर्वर्त्तमाना वा स्यात् । को भवतां भिक्षां ददाति । दास्यति । दाता वा । एवं कतरः । कतमः । किंवृत्त इति किम् । भिक्षां दास्यति । लिप्सायामिति । किम् । कः पुरं यास्यति ॥९॥

किंवृत्ते॰—। लब्धुमिच्छा-लिप्सा तस्यां=लिप्सायामिति—'डुलभिष् प्राप्तौ' अत इच्छायां सनि 'रभलभ॰' ।४।१।२१॥ इति पूर्वस्येत्वे द्वित्वाभावे च 'लिप्स' इत्यतो भावे 'शंसिप्रत्ययात्' ।५।३।१०५॥ इति स्त्रियामप्रत्यये आपि च=लिप्सा । भिक्षां दास्यतीति—यद्यप्यत्र लिप्साद्योतकमपि पदं नास्ति, किमादिप्रयोगे सा स्पष्टं प्रतीयते, तथापि वक्तुः स्वरादिवैचित्र्यादेव प्रकरणवशा वा लिप्सा प्रतीयत इति किंवृत्तपदाभावे स्यादेवेह वर्तमानेति भावः । कः पुरं यास्यतीति=अत्र गमनविषयकप्रश्न एव न तु लिप्सेति नास्य प्रवृत्तिः ॥९॥

लिप्स्यसिद्धौ ।५।३।१०।

लब्धुमिष्यमाणाद्भक्तादेः सिद्धौ फलावाप्तौ गम्यायां वर्त्स्यदर्थाद्धातोर्वर्त्तमाना वा स्यात् । यो भिक्षां ददाति, दास्यति, दाता वा स स्वर्गलोकं याति, यास्यति याता वा ॥१०॥

लिप्स्य॰=। अकिंवृत्तार्थोऽयमारम्भः भक्तादेः-ओदनादेरित्यर्थः ॥१०॥

पञ्चम्यर्थहेतौ ।५।३।११।

पञ्चम्यर्थः प्रैषादिः तस्य हेतुरुपाध्यायागमनादिः तस्मिन्नर्थे वर्त्स्यति वर्त्तमानाद्धातोर्वर्त्तमाना वा स्यात् । उपाध्यायश्चेदागच्छति, आगमिष्यति, आगन्ता वा अथ, त्वं सूत्रमधीष्व ॥११॥

पञ्चमीविधाने निमित्तभूतो योऽर्थः स पञ्चम्यर्थः; स च

प्रैषादिरित्याह-प्रैषादिरिति-'प्रैषाऽनुज्ञाऽवसरे०' ।५।४।२९। इति प्रैषादिषु कृत्याः, पञ्चमी, च विधीयन्ते, न्यत्कारपूर्विका प्रेरणा प्रैषः, अनुज्ञा कामचारानुमतिः, अतिसर्ग इति यावत् अवसर प्राप्तकालता, निमित भूतकालोपनतिरिति यावत्ः, एवं हि 'विधिनिमन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थने' ।५।४।४५। इति सप्तमी पञ्चमी च विधीयेते। आगच्छतीति--'गम्लृ गतौ' आङ्पूर्वादितोऽनेन वर्तमानायां शवि 'गमि०' ।४।२।१०६। इति छादेशे 'स्वरेभ्यः' ।१।३।३०। इति छस्य द्वित्वे पूर्वस्य च 'अघोषे०' ।१।३।५० इति चादेशे च-आगच्छति। आगच्छतीत्यत्र "गमोऽनात्मने: ।४।४।५१। इतीट् श्वस्तनीताप्रत्यये 'एकस्वरा०'।४।४।५६। इतीडभावे म्नां०'।१।३।३९। इति मस्य ने=आगन्तेति। 'इङ्क् अध्ययने' नित्यमधिपूर्वोऽयम्, ततः पञ्चमीमध्यमपुरुषस्य स्वे परे—अधीष्व। अत्र भविष्यदुपाध्यायागमनमध्यनादिविषयस्य प्रैषस्यातिसर्गस्य प्राप्तकालतायाश्च हेतुर्भवति ॥११॥

सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्त्तिके ।५।३।१२।

ऊर्ध्वमुहूर्ताद् भव ऊर्ध्वमौहूर्त्तिकः तस्मिन्पञ्चम्यर्थहेतौ वर्त्स्यत्यर्थे वर्त्तमानाद्धातोः सप्तमी वर्त्तमाना च वा स्यात्। ऊर्ध्वमुहूर्त्तादुपाध्यायश्चेदागच्छेत्, आगच्छति, आगन्ता वा। अथ त्वं तर्कमधीष्व ॥१२॥

ऊर्ध्वं मुहूर्त्तादिति-ऊर्ध्वमुहूर्तशब्दः, 'नाम नाम्ना०'।३।१।१८। इति समासः। ऊर्ध्वमुहूर्त्तशब्दाद्भवार्थे 'अध्यात्मा०।६।३।७८। इतीकणि, अस्मादेव निर्देशादुत्तरपदवृद्धौऊर्ध्वं मौहूर्तिकः ऊर्ध्वमुहूर्त्तादुपाध्यायश्चेदागच्छेदित्यत्र सामान्यभविष्यति भविष्यन्त्यां गमिष्यतीत्यपि भवति ॥१२॥

क्रियायां क्रियार्थायां तुम् णकच् भविष्यन्ती ।५।३।१३।

यस्माद्धातोस्तुमादिविधिस्तद्वाच्या क्रियाऽर्थः प्रयोजनं यस्यास्तस्यां क्रियायामुपपदे वर्त्स्यदर्थाद्धातोस्तुमादयः स्युः। कर्तुम्,

कारकः । करिष्यामीति वा याति । क्रियायामिति किम् । भिक्षिष्ये इत्यस्य जटाः । क्रियार्थायामिति किम् । धावतस्ते पतिष्यति वासः ॥१३॥

वेति निवृत्तम् 'णकतृचौ' ।५।१।४८। इति सामान्येन सिद्धे क्रियार्थोपपदभाविन्या भविष्यन्त्या बाधा ना भूदिति णकज्विधानम्, असरूपविधिना णकोऽपि भविष्यतीति चेत् ? एवं तर्हि असरूपविधिना तृजादयो मा भूवन्निति पुनर्णकज्विधानम्, तेनौदनस्य पाचको व्रजति, पक्ता व्रजति, पचो व्रजति, विक्षिपो व्रजतीत्यादि न भवति। कर्तुम्, कारकः, करिष्यामीति वा यातीति 'डुकृंग् करणे' 'क्त्वातुमम्भावे०'।५।१।१३। इति भावेऽनेन तुमि अनुस्वारेत्त्वादिडभावे गुणे च-कर्तुमिति एवमनेन णकचि वृद्धावारादेशे च-कारक इति। अनिर्दिष्टार्थत्वात्'कर्तरि'।५।१।३।इति कर्तरि णकच् । अनेन भविष्यन्त्यां-करिष्यामीती-'हनृतः स्यस्य' ।४।४।४९। इतीट्। यथा हि नामार्थद्वयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धो न भवति समानत्वात्, तथा क्रिययोरप्यभेद एव सम्बन्धः स्यात्, स चानुपपन्न उभयोः परस्परं भिन्नार्थकत्वात्। अन्यस्य सम्बन्धस्य शब्दोपस्थितस्याभावाच्चानन्वयापत्तेरिति 'इति' शब्देनोभयोः सम्बन्धः क्रियते, इतिशब्दो निमित्तार्थकः, एवं च यथा कर्तुं यातीत्यत्र भविष्यत्कालिककृत्युद्देश्यकं वर्तनकालिकयानमित्यर्थः, यथा वा कारको यातीत्यत्रापि स एवार्थः, केवलमत्र णकचा कर्तृत्वमपि प्रतीयते यथा भविष्यत्कालिककृति कर्तृकर्तादृशकृत्योद्देश्यकं च यानमित्यर्थः। तथेहापि भविष्यत्कालिककृत्युद्देश्यकं यानमित्येव बोधः, स चेतिशब्दसहकारेणैव, एवमन्यत्राप्यूह्यम् ।भिक्षिष्ये इत्यत्र जटा न धारणक्रियामुखेनोक्ता अपितु द्रव्यत्वेनेति भिक्षिष्ये इत्यत्रभविष्यत्सामान्ये भविष्यन्त्येव, न तु तुम्णकचावपीतिभावः। यदि च भिक्षितुम् इत्यपि क्वचिच्छ्रूयते तर्हि स धारयतीत्यध्याहृत्यैव कथञ्चिद् व्याख्येयः। धावतस्ते पतिष्यति वास इति-धावूग् गतिशुद्धयोः' इत्यस्य "सृं गतौ' 'वेगे सर्तेर्धाव्' ।४।२।१०७। इत्यादेशस्य वा शतरि षष्ठ्येकवचने-धावतः' अत्रोपपदभूता धावनक्रिया, किन्तु न सा पतनार्थमुपादीयते, किन्तु अन्यार्थं धावतस्तस्य गात्रचाञ्चल्यादिना वासः पतितः ॥१३॥

कर्मणोऽण् ।५।३।१४।

क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे कर्म्मणः परात्स्यदर्थाद्धातोरण् स्यात् । कुम्भकारो याति ॥१४॥

कर्मणोऽण्०—। 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इति सामान्येन विहितोऽण् णकचा पूर्वसूत्रविहितेन बाध्येतासरूपविधिश्च नास्तीति पुनर्विधीयते, सोऽपवादत्वाण्णकचं बाधते, परत्वात् सामान्यस्याणो बाधकान् टकादीनपि, वकगायो व्रजति, सुरापायो व्रजति, गोदायो व्रजति । कुम्भकारो यातीति-भविष्यत्कालिककुम्भकर्तृकं कुम्भकरणोद्देश्यकं च यानमित्यर्थः ॥१४॥

भाववचनाः ।५।३।१५।

भाववचना घञ्क्त्यादयः ते क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे वत्स्यदर्थाद्धातोः स्युः । पाकाय, पक्तये, पचनाय, वा याति ॥१५॥

भाववचनाः—। क्रियार्थोपपदेन तुमा मा बाधिषतेतिवचनम्, असरूपविध्यभावस्य ज्ञापितत्वात् । पाकाय, पक्तये, पचनाय वा यातीति 'डुपचींष्-पाके पचनं पाकः, अत्रानेन घञि 'क्तेऽनिट०' ।४।१।१११। इति चस्य कत्वम्, 'ञ्णिति' ।४।३।५०। इत्युपान्त्यवृद्धिश्च, 'तुमोऽर्थे०' ।२।२।६१। इति चतुर्थी—पाकायेति, अत्र घञो भाववचनत्वं 'भावाककर्त्रोः' ।५।३।१८। इति भावे विधानात् । एवमनेन क्तौ—पक्तये-अत्र क्तेर्भाववचनत्वं 'स्त्रियां क्तिः' ।५।३।९१। इति भावे क्तिविधानात् । पचनायेति—अत्रानेनानट्प्रत्ययः, अनटो भाववचनत्वं च 'अनट्' ।५।४।२४। इति भावेऽनटो विधानात् । सूत्रे वचनग्रहणाद्येषां याभ्यः प्रकृतिभ्यः परे भाववाचकत्वं दृष्टं ते ताभ्य एव प्रकृतिभ्यः स्युः ॥१५॥

पदरुजविशस्पृशो घञ् ।५।३।१६।

एभ्यो घञ् स्यात् । पादः । रोगः । वेशः । स्पर्शः ॥१६॥

पदरुज०—। वत्स्र्यतीति निवृत्तम् । 'कर्तरि' ।५।१।३। इति कर्तरि घञ्

भवतीत्यर्थः । पद्यते, पत्स्यते, अपादि, पेदे वा—पादः, कालविशेषविव-क्षाया अभावात् कालत्रयेऽपि प्रत्ययो भवति । रोग इति—'क्तऽनिटः०' ।४।१।१११। इति जस्य गत्वम् ।।१६।।

सर्त्तेः स्थिरव्याधिबलमत्स्ये ।५।३।१७।

सर्त्तेरेषु कर्तृषु घञ् स्यात् । सारः स्थिरः । अतीसारो व्याधिः : सारो बलम् । विसारो मत्स्यः ।।१७।।

सरति कालान्तरमिति—सारः स्थिरः ।।१७।।

भावाऽकर्त्रोः ।५।३।१८।

भावे कर्तृवर्जे च कारके धातोर्घञ् स्यात् । पाकः । प्राकारः । दायो दत्तः ।।१८।।

भावाऽकर्त्रोः—। पचनं—पाकः । प्रकुर्वन्ति तमिति कर्मणि घञि—प्राकारः । दीयते इति कर्मणि घञि दायोदत्तः, कैश्चित् कर्तृवर्जिते कारकेऽभिधेये संज्ञायामेव घञुक्तः, स्वमते तु न तथेति ज्ञापनाय द्वितीयमुदाहरणमसंज्ञायामुदाहृतम् । करणाधिकरणयोरनट् तदपवादश्च व्यञ्जनान्तेभ्यो घञ् वक्ष्यते । भावो भवत्यर्थः साध्यरूपः क्रियासामान्यं धात्वर्थः, स धातुनैवोच्यते तत्रैव च त्यादयः क्त्वातुमम्स्तव्यानीयादयश्च भवन्ति । यस्तु भावो धात्वर्थ धर्मः सिद्धता नाम लिङ्ग—संख्यायोगी स द्रव्य वद्धात्वर्थादन्यः, तत्रायं घञादिविधिः, तेन तद्योगे लिङ्गवचनभेदः सिद्धो भवति—पाकः—पाकौ—पाकाः, पचनम् पचने पचनानि, पक्तिः-पक्ती-पक्तय इति । ।।१८।।

इङोऽपादाने तु टिद्वा ।५।३।१९।

इङो भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् स चापादाने वा टित् । अध्यायः । उपाध्यायी । उपाध्यायः ॥१९॥

इङोऽपादाने०—। अध्ययनम्, अधीयत इति वा— अध्यायः । उपेत्याधीयतेऽस्या इति—उपाध्यायी । टिद्विधानसामर्थ्यात् स्त्रियां क्तिर्बाध्यते । उपेत्याधीयतेऽस्मादिति—उपाध्यायः । सर्वत्र 'नामिनो'० ।४।३।५१। इति वृद्धिः, एदैतोः०' ।१।२।२३। इत्यादेशः ॥१९॥

श्रोर्वायुवर्णनिवृत्ते ।५।३।२०।

श्रोर्भावाकर्त्रोरेष्वर्थेषु घञ्स्यात् । शारो वायुः वर्णो वा । नीशारः प्रावरणम् ॥२०॥

श्रो०—। शीर्यते ओषधादिभिरिति—शारो वायुः, 'शॄ श् हिंसायाम्' इति धातुः, कर्मणि घञ् । मालिन्येन शीर्यत इति—शारो वर्णः, अत्रापि कर्मणि घञ्, शारः कर्बुरवर्णः । निवृत्तं निवरणं प्रावरणमित्यर्थः इत्याह नीशारः प्रावरणम्, निशीर्यते शीताद्युपद्रवो येनेति वाक्यम्, करणे घञ्, 'घञ्युपस०' ।३।२।८६। इति दीर्घत्वम्, नीशारो हिमानिलापहं वस्त्रमित्यर्थः ॥२०॥

निरभेः पूल्वः ।५।३।२१।

निरभिभ्यां यथा क्रमाभ्यां भावाकर्त्रोर्घञ्स्यात् । निष्पावः । अभिलावः ॥२१॥

निरभे०।— 'पू' इति पूग्पूङोः सामान्येन ग्रहणम् । यथासंख्यमिति—'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इति न्यायेन निरुपसर्गेण पुवः सम्बन्धः, अभिना च लुवः । ननु च 'पूग् पूङ् लू' इति त्रयो धातवः, उपसर्गौ तु द्वौ, अतः संख्यावैषम्याद् यथासंख्येन न भवितव्यमिति चेत् । न—पूरूपमुत्सृष्टानुबन्ध-सामान्यमेकमेव, ततो नास्ति वैषम्यमित्यदोषः ।

निष्पूयत इति कर्मणि घञि वृद्धावकारेशे 'निर्दु०' ।२।३।६। इति षत्वे च निष्पावः, अयं कङ्कुरे राजमाषे श्वेतशिम्बिधान्यादौ च वर्तते। ॥ २१ ॥

रोरुपसर्गात् ।५।३।२२।

उपसर्गपूर्वाद्रौतेर्भावाकर्त्रोर्घञ्स्यात् । संरावः ।।२२।।

रोरुपसर्गात्—। संरवणं—संरावः ॥२२॥

भूश्र्यदोऽल् ।५।३।२३।

एभ्य उपसर्गपूर्वेभ्यो भावाकर्त्रोरल् स्यात् । प्रभवः । संश्रयः । विघसः । उपसर्गादित्येव । भावः । श्रायः । घासः ।।२३।।

भूश्र्यदो०—। 'अदंक् भक्षणे' इनि सोपसर्गादत्तेरलि 'घस्लृ०' ।४।४।१७। इति घसादेशे च विघसः । 'भूश्र्योः 'युवर्ण०' ।५।३।२८। इति सिद्धे रनेनालो विधानमुपसर्गा-देवेति नियमार्थम् । लकारो 'मिग्मीगो०' ।४।२।८। इत्यत्र विशेषणार्थः ।।२३।।

न्यादो नवा ।५।३।२४।

निपूर्वाददेरलि घस्लभावो ऽतो दीर्घश्च वा स्यात् । न्यादः । निघसः ।।२४।।

न्यादो०—। विकल्पेन निपातनात् निपातनाभावे पूर्वेण-निघस इति । ॥ २४ ॥

संनिव्युपाद्यमः ।५।३।२५।

एभ्य उपसर्गेभ्यः पराद्यमेर्भावाकर्त्रोरल् वा स्यात् । संयमः । संयामः । नियमः । नियामः । वियमः , वियामः । उपयमः । उपयामः । ॥२५॥

संनि०—। संयमनं=संयमः, एवं सर्वत्र अल्, पक्षे घञ् ॥२५॥

नेर्नदगदपठस्वनक्वणः ।५।३।२६।

निरुपसर्गात् परेभ्य एभ्यो भावाकर्त्रोरल् वा स्यात् । निनदः । निनादः । निगदः । निगादः । निपठः । निपाठः । निस्वनः । निस्वानः । निक्वणः । निक्वाणः ॥२६॥

नेर्नद०—णद अव्यक्ते शब्दे ॥२६॥

वैणे क्वणः ।५।३।२७।

वीणायां भवो वैणः । तदर्थादुपसर्गपूर्वात्क्वणेर्भावाकर्त्रोरल्वा स्यात् । प्रक्वणः प्रक्वाणो वीणायाः वैण इति किम् । प्रक्वाणः शृङ्खलस्य ॥२७॥

वैणे०—। वैण इत्यत्र 'भवे ।६।३।१२।इत्यण । अनुपसर्गस्य 'न वा क्वणः ।५।३।४८। सूत्रेण विकल्पोऽस्ति ॥२७॥

युवर्णवृदृवशरणगम्-ऋद्ग्रहः ।५।३।२८

इवर्णोवर्णान्तेभ्यो वृादेॠदन्तेभ्यो ग्रहेश्च भावाकर्त्रोरल् स्यात् । चयः । क्रयः । रवः । लवः । वरः । आदरः । वशः । रणः । गमः । करः । ग्रहः । ॥२८॥

युवर्ण०—। उपसर्गाद् 'वा' इति च निवृत्तम् । घञोऽपवादोऽयं योगः ।

चिगृट् चयने' अतोऽलिगुणे च—चयः। डुक्रीगृश् द्रव्यविनिमेये'—क्रयः। 'रुक् शब्दे'–रवः। 'लूग्ण् छेदने'—लवः। 'कृत् 'विक्षेपे' कृश् हिंमायाम्'—करः ॥२८॥

वर्षादयः क्लीबे ५।३।२६।

एतेऽलन्ताः क्लीबे यथादर्शनं भावाकर्त्रो निपात्यन्ते । वर्षम् । भयम् ॥२६॥

वर्षादयः०—। नपुंसके 'क्लीबे क्तः' ।५।३।१२४। इति, 'अनट्' ।५।३।१२४। इति च विहितक्तानट्निवृत्त्यर्थं वचनम्। अनपुंसके भावे 'तत् साप्या०' ।३।३।२१। इति विहितः क्तस्तु न निवर्त्यते विजातीयत्वात्—वृष्यते स्म--वृष्टं मेघेन, भीतं बटुना, अत्र 'कृत्याः, क्तानाः, खल्, ञिन् भावे' । नं. ६ ॥ इति लिङ्गानुशासनान्नपुंसकत्वं विज्ञेयम् । नन्वेकत्र लिङ्गानुशासनेन नपुंसकत्वं दर्शित मपरत्र 'क्लीबे क्तः' ।५।३।१२३॥ इति सूत्रेणेति कोऽनयो विशेष इति चेत् ? उच्यते—लिङ्गानुशासनेन नपुंसकत्वविधानं क्तान्तस्य, न तु क्तविधानम्, सूत्रेण च नपुंसके क्तविधानमिति विशेषः, किञ्च नपुंसकविहितक्तस्य कर्तरि 'वा क्लीबे' ।२।२।६२। इति षष्ठी भवति, यथा—मयूरस्य मयूरेण वा नृत्तमिति, अन्यक्तस्य कर्तरि 'क्तयोः' ।२।२।९१। इति षष्ठी विधानात् तृतीयैव भवति, यथा प्रकृते ॥२६॥

समुदोऽजः पशौ ।५।३।३०।

आभ्यां परादजः पशुविषयार्थवृत्तेर्भावाकर्त्रोरल् स्यात् । समजः पशूनाम् । उदजः पशूनाम् । पशाविति किम् । समाजो नृणाम् ।३०।

समुदोऽज०— 'अज क्षेपणे 'च' चकाराद् गतौ, संवीयते—समज इति,समूह इत्यर्थः। उदज इति-प्रेरणमित्यर्थः। समाज इति—अत्र घञ् । धञि

अलि वाजेर्वीभावो न भवति, 'अघञ्०' ।४।४।२। इत्यत्र तयोर्वर्जनात् ।।३०।।

सृग्लहः प्रजनाक्षे ।५।३।३१।

आभ्यां यथासङ्ख्यं प्रजनाविषयार्थवृत्तिभ्यां भावाकर्त्रोरल् स्यात् । गवामुपसरः । अक्षाणां ग्लहः । प्रजमाक्ष इति किम् । उपमारो भृत्यै राज्ञाम् ।।३१।।

सृग्लह०—। प्रजनो गर्भग्रहणम् । गर्भग्रहणार्थं स्त्रीषु पुंसां प्रथमं सरणमुपसर उच्यते । अक्षाणां ग्लह इति—ग्रहणमित्यर्थः, ग्रहेः सूत्रनिपातनाल्लत्वम्, ग्लहिः प्रकृत्यन्तरं वा । उपसारो भृत्यै राज्ञामिति-भृतिर्वेतनं तदर्थं नृपसमीपगमनमित्यर्थः ।।३१।।

पणेर्माने ।५।३।३२।

पणेर्मानार्थाद्भावाकर्त्रोरल् स्यात् । मूलकपणः । मान इति किम् । पाणः ।।३२।।

घञोऽपवादोऽयं योगः । 'पणि व्यवहारस्तुत्योः' पण्यते इति कर्मण्यलि—पणः, मूलकस्य पणः—मूलकपणः, मूलकादीनां संव्यवहारार्थं परिमितो मुष्टिरित्यर्थः । पाण इति—नात्र मानार्थः किन्तु सामान्यतो व्यवहारो वा स्तुतिर्वेति नास्य प्रवृत्तिरिति घञो भवतीत्यर्थः ।।३२।।

संमदप्रमदौ हर्षे ।५।३।३३।

एतौ भावाकर्त्रोर्हर्षेऽर्थेऽलन्तौ स्याताम् । संमदः, प्रमदो वा स्त्रीणाम् । हर्ष इति किम् । संमादः । प्रमादः ।३३।

संमद०–निपातनम् रूपनिग्रहार्थम्, तेनोपसर्गान्तरयोगे न भवति–प्रसंमादः, संप्रमादः, अभिसंमादः ॥३३॥

हनोऽन्तर्घनान्तर्घणौ देशे ।५।३।३४।

अन्तःपूर्वाद्धन्तेरल् घन्घणादेशौ च निपात्येते, देशेऽर्थे भावाकर्त्रोः । अन्तर्घनः । अन्तर्घणो वा देशः । अन्तर्घातोऽन्यः ।३४।

हनो०–। 'अन्तर्' इत्यव्ययं मध्यार्थे वर्तते, 'हनंक् हिंसा-गत्योः,' अन्तर्हण्यतेऽस्मिन्निति–अन्तर्हन इत्यादि, अत्र देशेऽन्तर्गता अन्ये जना हन्यन्त इति भावः ।३४।

प्रघणप्रघाणौ गृहांशे ।५।३।३५।

प्रपूर्वाद्धन्तेर्गृहांशेऽर्थेऽल् घणघाणादेशौ च निपात्येते । प्रघणः । प्रघाणो वा द्वारालिन्दकः । प्रघातोऽन्यः ।३५।

प्रघण०–। गृहस्य द्वारदेशे द्वौ प्रकोष्ठकौ अलिन्दसंज्ञकौ, एको बाह्योऽपर आभ्यन्तरः, तत्र बाह्यो प्रकोष्ठे निपातनमिदम्, प्रकर्षेण हन्यते प्रविशद्भिर्जनैरित्यन्वर्थात् । तथा चात्र कर्मण्यल् प्रत्ययः । यद्यपि सूत्रे गृहांशस्य सामान्येनार्थतयोपादानं तथापि प्रयोगार्थबलाद् द्वारप्रकोष्ठ एव निपातनमिति लभ्यते, अन्यत्र घञेव तस्मिन् परे च 'ञ्णिति घात्' ।४।३।१००। इति घातादेशः, तथा चाह-प्रघातोऽन्य इति ॥३५॥

निघोद्घसङ्घोद्घनाऽपघनोपघ्नं निमितप्रशस्तगणात्याधानाङ्गासन्नम् ।५।३।३६।

हन्तेर्निघादयो यथासङ्ख्यं निमिताद्यर्थेषु कृतघत्वादयोऽलन्ता

निपात्यन्ते । समन्ततो मितं निमितम् । निघा वृक्षाः । उद्घः प्रशस्तः । सङ्घः प्राणिसमूहः । अत्याधीयन्ते च्छेदनार्थं कुट्टनार्थं वा काष्ठादीनि यत्र तदत्याधानम् । उद्घनः । अपघनः शरीरावयवः । उपघ्नः आसन्नः ।३६।

निघोद्घ०--। निर्विशेषं निश्चयेन वाहन्यन्ते ज्ञायन्ते-निघा वृक्षाः । उत्कर्षेण हन्यते ज्ञायते-उद्घः प्रशस्तः । संहतिः संघः। उद्घन्यतेऽस्मिन्निति-उद्घनः। अपहन्यतेऽनेनेति-अपघन शरीरावयव इति। उपहन्यते समीपे इति ज्ञायते-उपघ्न आसन्नः ॥३६॥

मूर्त्तिनिचिताऽभ्रे घनः ।५।३।३७।

हन्तेर्मूर्त्यादावर्थेऽल् घनादेशश्च निपात्यते । मूर्त्तिः काठिन्यम् । अभ्रस्य घनः । निचितं निरन्तरम् । घनाः केशाः । अभ्रं मेघः । घनः ।३७।

मूर्त्त०—। अभ्रस्य धन इति-मेघस्य काठिन्यं परिपूर्णत्वमित्यर्थः । घनाः केशा इति-निरन्तरा इत्यर्थः । धन इति—मेघ इत्यर्थः ॥३७॥

व्ययोद्रोः करणे ।५।३।३८।

एभ्यः पराद्धन्तेः करणेऽल् घनादेशश्च निपात्यते । विघनः । अयोघनः । द्रुघनः ।३८।

व्ययो०—। ननु भावाकर्त्रोरित्यस्यानुवृत्तेः सत्त्वात् कर्तृभिन्ने कारके विधीयमानः प्रत्योऽभिधानसामर्थ्यादिह करणे स्यादेवेति करणग्रहणमनावश्यकमिति चेत् ? उच्यते—अभिधानसामर्थ्यात् क्वचन करणार्थस्यैव प्रतीतिरस्तु, तथापि क्वचित् भावस्य कर्तृभिन्नकारकाणां चार्थतया प्रवेशो मा ज्ञायीति तद्वारणाय स्पष्टप्रतिपत्तये च करणग्रहणम् । अन्यथाऽत्र करणे

प्रत्ययोऽन्यत्र वेति संशयःस्यादेव । विहन्यतेऽनेन तिमिरमिति विघनः=सूर्य अथवा वयःपक्षिणो,हन्यन्तेऽनेनेति वा विघनः=पाश इति। द्रुघन इति-द्रु र्हन्यतेऽने-नेति द्रुघनः=कुठारः । अत्र'हनो घि'।२।३,६४।इत्यस्य व्याप्या प्रवृत्तेः 'पूर्वपदस्या०' ।२।३।६४। इति न णत्वमिति स्त्रियांमस्य सूत्रस्य न प्रवृत्ति-रपितु परत्वादनडेव=विहननी, अयोहननी,द्रुहननी ।।३८।।

स्तम्बाद् घ्नश्च ।५।३।३९।

स्तम्बात्पराद्धन्तेरल् घ्नघनादेशौ च निपात्येते, करणे । स्तम्बघ्नो दण्डः । स्तम्बघनो यष्टिः ।३९।

स्तम्बाद्०=। स्तम्बो हन्यतेऽनेन—स्तम्बघ्नो दण्डः । स्त्रियां परत्वादनडेव स्तम्बहननी यष्टिः ।।३९।।

परेर्घः ।५।३।४०।

परिपूर्वाद्धन्तेरल् घादेशश्च करणे निपात्यते । परिघोऽर्गला ।४०।

परेर्घ०=। परिहन्यतेऽनेनेति करणेऽलि घादेशे च=परिघ इति=तदर्थ-माह अर्गला इति ।।४०।।

ह्वः समाह्वयाह्वयौ द्यूतनाम्नोः ।५।३।४१।

द्यूते नाम्नि चार्थे यथासङ्ख्यं समाङ्पूर्वादाङ्पूर्वाच्च ह्वोऽल् ह्वयादेशश्च निपात्यते । समाह्वयः प्राणिद्यूतम् । आह्वयः संज्ञा ।४१।

करण इति निवृत्तम् । 'ह्वेंग् स्पर्धाशब्दयोः'=समाह्वयः प्राणि-द्यूतमिति ।।४१।।

न्यभ्युपविभ्यो वाऽश्चोत् ।५।३।४२।

एभ्यः परात् ह्वो भावाकर्त्रोरल् स्यात्तद्योगे वा उश्च । निहवः । अभिहवः । उपहवः । विहवः ।४२।

न्यभ्यु०—। 'नि अभि उप वि' एषां समाहारः । समाहारस्य क्लीबत्वेऽपि सौत्रत्वात् पुंस्त्वेन निर्देशः, 'आगमशासनमनित्यम्' इति–न्यायाद्वा क्लीबत्वेऽपि नागमाभावो विज्ञेयः, तथा निर्देशे लाघवं बीजमित्यर्थ । ननु सूत्रे 'वाश्चोत्' इति समानाधिकरणविभक्तया निर्देशाद्वृत्तावपि 'वा उश्च' इत्युक्ततया सामानाधिकरण्यं गम्यते । यथा दुग्धं दधि भवतीत्यत्र सामानाधिकरण्येन निर्देशात् कृत्स्नस्य दुग्धस्य दधितया विपरिणातो विवक्षितस्तथा 'वा उश्च' इत्यनेनवाशब्द उकाररूपेण विपरिवर्तत विवक्षितः, अन्यथा स्थानिनि षष्ठी विभक्तेरौचित्यात् षष्ठ्या निर्देश 'षष्ठ्याऽन्त्यस्य' ।७।४।१०६। इति परिभाषया वाशब्दाकारस्यैवोकारः स्याद्, इष्यते च सर्वस्य अनेनालि वाशब्दस्योकारे गुणेऽवादेशे च—निहव इत्यादि । जुहोतिनैव सिद्धे रूपान्तरकिकृत्यर्थं वचनम् ।।४२।।

आङो युद्धे ।५।३।४३।

आङो ह्वो युद्धेऽर्थे भावाकर्त्रोरल् स्यात् वा उश्च । आहवो युद्धम् । युद्ध इति किम् । आह्वायः ।।४३।।

आङो०—। आहूयन्ते योद्धारोऽस्मिन्निति आहवो युद्धम् । आह्वाय इति–अत्र घञ् ।।४३।।

आहावो निपानम् ।५।३।४४।

निपानं पश्वादिपानार्थो जलाधारः तस्मिन्नर्थे आङ् पूर्वात्

ह्वो भावाकर्त्रोरल् आहावादेशश्च निपात्यते । आहावो वीनाम् ॥४४॥

आहावो०—। आहूयन्ते वयः पानायास्मिन्नित्याहावो वीनामिति—निपानमित्यर्थः ॥४४॥

भावेऽनुपसर्गात् ।५।३।४५।

अनुपसर्गात् भावे ह्वोऽल् स्यात् वा उश्च । हवः । भाव इति किम् । व्याप्ये ह्वायः । अनुपसर्गादिति किम् । आह्वायः ॥४५॥

भावे०—। भावाकर्त्रोरित्यस्यानुवृत्तेः सत्त्वादनुक्तेऽपि 'भावे' भावार्थे प्रत्ययः स्यादेवेति भावग्रहणं व्यर्थमिति चेत् । उच्यते–'सन्नियोगशिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः सहैव निवृत्तिः' इति न्यायेनोभयोरप्यर्थयोः सहैवानुवृत्तिः स्यादिति भाववत् कर्तृभिन्ने कारकेऽपि प्रत्ययः स्यादिति तद्वारणाय भावाभिधानमावश्यकम्, क्वचिदेकदेशानुवृत्तेश्च विनिगमकप्रमाणव्याख्यानादिसापेक्षत्वेन तदाश्रयणापेक्षया 'व्याख्यानाद्वरं करणम्' इति न्यायेन भावपदग्रहणस्यैव लघीयस्त्वम् । ह्वानं--हवः । व्याप्ये ह्वाय इति–हूयते इति कर्मणि घञि ह्वाय इत्येव भवतीत्यर्थः । आह्वाय इति–अत्र घञेवेत्यर्थः ॥४५॥

हनो वा वध् च ।५।३।४६।

अनुपसर्गाद्धन्तेर्भावेऽल् वा स्यात् तद्योगे च हनो वध् । वधः । घातः ॥४६॥

हनो०—। घञि हनो घातादेशे–घातः ॥४६॥

व्यधजपमद्भ्यः ।५।३।४७।

एभ्योऽनुपसर्गेभ्योभावाकर्त्रोरल् स्यात् । व्यधः । जपः । मदः ॥४७॥

व्यध०—। एकवचनेनापि निर्वाहे सत्यपि बहुवचननिर्देशः किमर्थं इति चेत् । उच्यते—व्याप्त्यर्थम्, तेन 'भावे' इति निवृतम् ॥४७॥

नवा क्वणयमहसस्वनः ।५।३।४८।

अनुपसर्गेभ्य एभ्यो भावाकर्त्रोरल् वा स्यात् । क्वणः । क्वाणः । यमः । यामः । हसः । हासः । स्वनः । स्वानः ॥४८॥

नवा क्वण०—। अप्राप्तविभाषेयम् । क्वाण इत्यादौ घञ् ॥४८॥

आङो रुप्लोः ।५।३।४९।

आङः पराभ्यां रुप्लुभ्यां भावाकर्त्रोरल् वा स्यात् । आरवः, आरावः । आप्लवः ॥४९॥

आङो०—। रौतेर्घञि प्लवतेरलि नित्यं प्राप्ते विकल्पः ॥४९॥

वर्षविघ्नेऽवाद् ग्रहः ।५।३।५०।

अवपूर्वाद् ग्रहे वर्षविघ्नेऽर्थे भावाकर्त्रोरल् वा स्यात् । अवग्रहः । अवग्राहः । वर्षविघ्ने इति किम् अवग्रहोऽर्थस्य ॥५०॥

वर्षविघ्नेऽर्थे इति--वर्षस्य वृष्टेः, विघ्नः प्रतिबन्धः, तस्मिन्नर्थं इत्यर्थः । 'युवर्ण०' ।५।३।२८। इति नित्यमलि प्राप्ते पक्षे घञः प्रवृत्त्यर्थं विकल्पविधानम् । 'ग्रहीश् उपादाने' अवपूर्वादतोऽनेनालि पक्षे घञि उपान्त्यवृद्धौ च–अवग्रहः, अवग्राहः,—वृष्टेः प्रतिबन्ध इत्यर्थः ॥५०॥

प्राद्रश्मितुलासूत्रे ।५।३।५१।

प्रपूर्वाद् ग्रहे रश्मौ तुलासूत्रे चार्थे भावाकर्त्रोरल् वा स्यात्। प्रग्रहः। प्रग्राहः ॥५१॥

प्रगृह्यते इति–प्रग्रहः, प्रग्राहः,—अश्वादेः संयमनरज्जुस्तुलासूत्रं चोच्यते ॥५१॥

वृगो वस्त्रे ।५।३।५२।

प्रपूर्वाद् वृगो वस्त्रविशेषेऽर्थे भावाकर्त्रोरल् वा स्यात्। प्रवरः। प्रावारः। वस्त्र इति किम्? प्रवरो यतिः ॥५२॥

वृगो०—। प्रवृण्वन्ति तमित्यलि प्रवरः, घञि वृद्धौ 'घञ्युपसर्गस्य०' ३।२।८६। इति दीर्घे च प्रावारः, उत्तरासङ्ग इत्यर्थः। प्रवरो यतिरिति —वस्त्रार्थाभावादस्याप्रवृत्त्या 'युवर्ण०' ।५।३।२८। इति नित्यमल् भवतीत्यर्थः ॥५२॥

उदः श्रेः ।५।३।५३।

उत्पूर्वाच्छ्रेर्भावाकर्त्रोरल् वा स्यात्। उच्छ्रयः। उच्छ्रायः ॥५३॥

उदःश्रेः—। नित्यमलि प्राप्ते विकल्पः। 'श्रिग् सेवायाम्' उत्पूर्वादस्मादले-नालि गुणे पक्षे घञि वृद्धौ 'प्रथमा०' ।१।३।४। इति शस्य छत्वे तकारस्य चत्वे च उच्छ्रयः, उच्छ्राय इति ॥५३॥

युपूद्रोर्घञ् ।५।३।५४।

उत्पूर्वेभ्य एभ्यो भावाकर्त्रोर्घञ्स्यात् । उद्यावः । उत्पावः । उत्पावः । उद्रावः ॥५४॥

युपू०—। वेति निवृत्तम् पृथग्योगात्, यदि हि वानुवृत्तिरभिमता स्यात् तर्हि पूर्वसूत्र एवैषामपिधातूनां ग्रहणेकृते विकल्पेनाल एव विधाने पक्षे घञः स्वभावत एव सिद्धिः । अलोऽपवादो योगः ॥५४॥

ग्रहः ।५।३।५५।

उत्पूर्वात् ग्रहेर्भावाकर्त्रो र्घञ् स्यात् । उद्ग्राह ॥५५॥

ग्रहः०—। अलोऽपवादः ॥५५॥

न्यवाच्छापे ।५।३।५६।

आभ्यां परात् ग्रहेराक्रोशेगम्ये भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । निग्राहः । अवग्राहो वा ते जाल्म भूयात् । शाप इति किम् । निग्रहश्चौरस्य ॥५६॥

न्यवा०—। शापोऽशुभाशंसनम् । निग्राहः, अवग्राहो वेति—निग्राहो बाधः अवग्राहोऽभिभवः । निग्रहश्चौरस्येति—निग्राहो बन्धनम्, अवग्रहः= सामान्यज्ञानम् ॥५६॥

प्राल्लिप्सायाम् ।५।३।५७।

प्रपूर्वात् ग्रहेर्लिप्सायां गम्यायां भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । पात्रप्रग्राहेण चरति पिण्डपातार्थी भिक्षुः लिप्सायामिति किम् ? स्रुवः प्रग्रहः शिष्यस्य ॥५७॥

प्राप्तिलिप्सायाम्—। लब्धुमिच्छा—लिप्सा। प्राप्तप्रग्राहेणेति—पात्रं गृहीत्वेत्यर्थः। अत्र 'पिण्डपातार्थी'त्यनेन लिप्सा दर्शिता। स्रुवः प्रग्रहः शिष्यस्येति अत्रालेव भवति ॥५७॥

समो मुष्टौ ।५।३।५८।

संपूर्वात् ग्रहेर्मुष्टिविषये धात्वर्थे भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात्। संग्राहो मल्लस्य मुष्टाविति किम्। संग्रहः शिष्यस्य ॥५८॥

समो मुष्टौ—। मुष्टिरङ्गुलिसंनिवेशो न परिमाणम्, तत्र 'माने' ।५।३।८१। इत्येव सिद्धत्वात्। संग्राहो मल्लस्येति—मुष्टेर्दार्ढ्यमित्यर्थः। संग्रहः शिष्यस्येति—मुष्ट्यर्थाभावादस्याऽवृत्त्या 'युवर्ण०' ।५।३।२८। इत्यलेव भवति ॥५८॥

युदुद्रोः ।५।३।५९।

संपूर्वेभ्य एभ्यो भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात्। संयावः। संदावः। संद्रावः ॥५९॥

युदुद्रोः—। 'युक् मिश्रणे' 'दुद्रु गतौ' सम्पूर्वादेतो घञि वृद्धावावादेशे च—संयाव इत्यादि ॥५९॥

नियश्चानुपसर्गाद्वा ।५।३।६०।

अनुपसर्गान्नियो युदुद्रोश्च भावाकर्त्रोर्घञ् वा स्यात्। नयः। नायः। यवः। यावः। दवः। दावः। द्रावः। अनुपसर्गादिति किम्। प्रणयः ॥६०॥

नियश्चा०—। 'णींग् प्रापणे' अतोऽनेन घञि वृद्धावायादेशे च आवादेशे, पक्षे 'युवर्ण०' ।५।३।२८। इत्यलि गुणेऽयादेशेऽवादेशे च—नयः, नाय इत्यादि।

प्रणय इति–अवालेव, 'अदुरुपसर्गा०' ।२।३।७७। इति नकारस्य णकारः ॥६०॥

वोदः ।५।३।६१।

उत्पूर्वान्नियो भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् वा । उन्नायः । उन्नयः ।६१।

वोद:—। पूर्वसूत्रतो वाशब्दानुवृत्त्या विकल्पे सिद्धेऽत्र वाग्रहणं किमर्थमिति चेत् ? उच्यते—इदमेव वाग्रहणं ज्ञापयति–यद्–यत्र नवा शब्दोपादानं तत्र एव विकल्पानुवृत्तिर्न तु वाशब्दोपादाने, तथा च पूर्वसूत्रतो वाशब्दानुवृत्त्यसम्भवादत्र वाशब्दोपादानं सार्थकम् । अनेन घञि पक्षे इवर्णान्तलक्षणेऽलि च–उन्नायः, उन्नयः ॥६१॥

अवात् ।५।३।६२।

अवपूर्वान्नियो भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । अवनायः ॥६२॥

अवात्—"अनेन घञि—अवनाय इति ॥६२॥

परेर्द्यूते ।५।३।६३।

परिपूर्वान्नियो द्यूतविषयार्थाद्भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । परिणायेन शारान् हन्ति । द्यूत इति किम् । परिणयोऽस्याः ॥६३॥

परिणायेनेति–समन्तान्नयनेनेत्यर्थः । परिणयोऽस्या इति परिणयो विवाहः, 'युवर्ण०' ।५।३।२८। इति नित्यमल् ॥६३॥

भुवोऽवज्ञाने वा ।५।३।६४।

परिपूर्वात् भुवोऽवज्ञानार्थात् भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् वा । परिभावः ।

परिभवः । अवज्ञान इति किम् । समन्ता ् ूतिः परिभवः ॥६४॥

सुबो०—अवज्ञानमसत्कारपूर्वकोऽवक्षेपः । समन्तात् भूतिः परिभव इति—अत्रोवर्णान्तलक्षणोऽलेव ॥६४॥

यज्ञे ग्रहः ।५।३।६५।

परिपूर्वाद् ग्रहेर्यज्ञविषये भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । पूर्वपरिग्राहः । यज्ञ इति किम् । परिग्रहोऽर्थस्य ॥६५॥

पूर्वः प्रथमः कर्मारम्भात्पूर्वं परिग्रहणं स्फ्ये वेदे स्वीकरणं पूर्वपरिग्राहः, स्फ्यो नाम काष्टनिर्मितं खड्गाकृति यज्ञीयं पात्रम्, तद्धस्तेकृत्वा समन्ताल्लेखया यज्ञाङ्गभूतां वेदिं स्वीकरोति याज्ञिकस्तत्रेदमुदाहरणम् । परिग्रहोर्थस्येति-धनादेः परिग्रहणं स्वीकार इत्यर्थः, नात्र घञ् किन्तु 'ऋवर्ण०' ।५।३।२८। इत्यलेव भवतीति ॥६५॥

संस्तोः ।५।३।६६।

संपूर्वात्स्तौतेर्भावाकर्त्रोर्घञ् । यज्ञविषये । संस्तावः छन्दोगानाम् ॥६६॥

संस्तोः—संस्तुवन्त्यत्रेति-संस्तावः छन्दोगानामिति—सामवेदिनो ब्राह्मणाश्छन्दोगा उच्यन्ते, समेत्य स्तुवन्ति छन्दोगा यत्र देशे स देशः संस्ताव उच्यते, एवमधिकरणे कारके प्रत्ययः ॥६६॥

प्रात् स्नुद्रुस्तोः ।५।३।६७।

प्रात् परेभ्य एभ्यो भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । प्रस्नावः । प्रद्रावः

प्रस्तावः ॥६७॥

कथं स्रावः द्रावः ? बहुलाधिकारात् ॥६७॥

अयज्ञे स्त्रः ।५।३।६८

प्रपूर्वात्स्त्रोभावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् न चेद्यज्ञविषयः । प्रस्तारः । अयज्ञ इति किम् । बर्हिष्प्रस्तरः ॥६८॥

अयज्ञे स्त्रः–'स्तॄ, गृश् आच्छादने'–प्रस्तार इति–इष्ट-कासन्निवेशविशेषः । बर्हिष्प्रस्तर इति–बर्हिषः प्रस्तरो मुष्टिविशेषः, 'समासे०' ।२।३।१३। इति षत्वम् ॥६८॥

वेरशब्दे प्रथने ।५।३।६६।

वेः परात्स्त्रोऽशब्दविषये विस्तीर्णत्वेऽर्थे घञ् स्यात् । विस्तारः पटस्य । प्रथन इति किम् । तृणस्य विस्तरः । अ शब्द इति किम् । वाक्यविस्तरः ॥६६॥

वेरशब्दे०–"विस्तारः पटस्येति–पटस्य विस्तीर्णतेत्यर्थ । तृणस्य विस्तर इति–छादनमित्यर्थः । वाक्यविस्तर इति–अत्र प्रथनस्य शब्दविषयत्वाद-स्याप्रवृत्त्या ऽलेव भवतीत्यर्थः ॥६६॥

छन्दोनाम्नि ।५।३।७०।

विपूर्वात् स्त्रो गायत्र्यादिसंज्ञाविषये भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । विष्टारपङ्क्तिः ॥७०॥

छन्दोनाम्नि–" विष्टारङ्क्तिरिति–समुदायस्यैव छन्दोनाम, विस्तीर्यन्तेऽक्षराण्यस्मिन्नित्यधिकरणे घञ्, 'वेः स्त्रः' ।२।३।२३। इति संज्ञा सस्य षः

॥७०॥

क्षुश्रोः ।५।३।७१।

विपूर्वाभ्यामाभ्यां भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । विक्षावः । विश्रावः ॥७१॥

क्षुश्रोः–"टुक्षुक् शब्दे' 'श्रुंट् श्रवणे' विपूर्वादतो घञि–विक्षावः, विश्राव ॥७१॥

न्युदो ग्रः ।५।३।७२।

आभ्यां परात् ग्रो भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । निगारः । उद्गारः ॥७२॥

न्युदो–"गृत् निगरणे' 'गृश् शब्दे' इत्युभयोः 'ग्र' इत्यनेन ग्रहणम् ॥७२॥

किरो धान्ये ।५।३।७३।

न्युत्पूर्वात्किरतेर्धान्यविषयार्थात् भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । निकारः । उत्कारो धान्यस्य । धान्य इति किम् । फलनिकरः ॥७३॥

निकारः, उत्कारो वा धान्यस्येति—राशिरित्यर्थः । फलनिकर इति–फलानां राशिरित्यर्थः, अत्र धान्यार्थाभावादस्याप्रवृत्त्या ॠदन्तलक्षणेऽलि गुणे च तथारूपमित्यर्थः ॥७३॥

नेर्वुः ।५।३।७४।

निपूर्वात्, वृणोतेर्वृणातेर्वा धान्यविशेषेऽर्थे भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् ।

नीवारा व्रीहयः ॥७४॥

मैत्रे:–निव्रियन्ते इति–नीवारा नाम व्रीहय इति–'घञ्युपसर्ग०' ।३।२।८६। इति दीर्घत्वम् ॥७४॥

इणोऽभ्रेषे ।५।३।७५।

स्थितेरचलनमभ्रेषः, तद्विषयार्थात् निपूर्वादिणो भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात् । न्यायः । अभ्रेष इति किम् । न्ययं गतश्चौरः ॥७५॥

इणो-अभ्रेषशब्दं व्याचष्टे-स्थितेरचलनमभ्रेषः इति-स्थितिर्लोकमर्यादा तस्या अचलनं तदपरित्यागोऽभ्रेष इत्यर्थः, भ्रेषृ् चलने 'च' चकाराद् भये, अतो घञि भ्रेषणं भ्रेषः न भ्रेषः-अभ्रेषः । शास्त्रलोकप्रसिद्धयादिना नियतमयन-मिति इंण्क् गतौ' निपूर्वादितो घञि वृद्धौ आयादेशे इकारस्य च यादेशे न्यायः । न्ययं गतश्चौर इति–अत्रेवर्णान्तलक्षणेऽलि गुणेऽयादेशे च न्यय इति, न्ययो नाशस्तं प्राप्त इत्यर्थः । निकृष्टमयनं गतिरिति व्युत्पत्त्या न्ययशब्दः नाशे मृत्यावेवेति ॥७५॥

परेः क्रमे ।५।३।७६।

क्रमः परिपाटिः, तद्विषयार्थात्परिपूर्वादिणो भावाकर्त्रोर्घञ्स्यात् । तव पर्यायो भोक्तुम् । क्रम इति किम् । पर्ययो गुरोः ॥७६॥

परेः क्रमे–'क्रमू पादविक्षेपे' अतो घञि 'मोऽकमि०' ।४।३।५५। इति वृद्धि-निषेधे च–क्रमः । तव पर्यायो भोक्तुमिति–क्रमेण पदार्थानां क्रियासम्बन्धः पर्यायः, क्रियाऽत्र भोजनम्, भोक्तारः पदार्थभूताः, क्रमेण नियतपूर्वापरी-भावेन भोजनक्रियया सह सम्बन्धात् क्रमत्वं स्पष्टमिति भावः । पर्ययो गुरोरिति–अत्र क्रमविषयत्वाभावान्न भवति प्रत्यय इति भावः ॥७६॥

व्युपाच्छीङः ।५।३।७७।

ऽभ्यां परात्क्रमविषयार्थात् शीङो ...र्घिङ स्यात् । तव राजविशायः । मम राजोपशायः । क्रम इति किम् ? विशयः ॥७७॥

व्युत्पा०—"शीङ् स्वप्ने" इति धातोः ... घञि वृद्धावायां देशे च—तत्र राजविशायः, मम राजोपशायः इति, राजनियोज्यः कश्चित् राजसमीपे जागर्ति, अन्यश्च स्वपिति तत्रैव, तत्र च क्रमो नियतो भवति, तत्र क्रमप्राप्तं पर्यायसाध्यं शयनं यद्, तदुच्यते प्रकृतशब्देन । विशय इति विशयः—संशयः, अत्र पर्यायो न विवक्षित इ इत्यस्याप्रवृत्त्या इकारान्तलक्षणोऽल् भवतीति भावः० ॥७७॥

हस्तप्राप्ये चेरस्तेये ।५।३।७८।

हस्तेन प्राप्तुं शक्यं हस्तप्राप्यं, तद्विषयाच्चिगो भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात्, नचेच्चेरर्थश्चौर्येण । पुष्पप्रचायः । हस्तप्राप्य इति किम् । पुष्पप्रचायः । हस्तप्राप्य इति किम् ? पुष्पप्रचयं करोति वृक्षाग्रे । अस्तेय इति किम् । स्तेयेन पुष्पप्रचयः करोति ॥७८॥

हस्त—हस्तेनेत्यत्र उपायान्तरनिरपेक्षेणेति शेषः उपायान्तरसापेक्षेण हि तेन सर्वं वस्तु प्राप्तुं शक्यमेव, तेन कोऽर्थो बोध्यः ? उच्यते—हस्तेनोपायान्तरनिरपेक्षेण प्राप्तुं शक्यमिति । न तावद्धस्तप्राप्यशब्दस्यैतादृशार्थपरत्वम्, यदेव प्रांशुनोपायान्तरनिरपेक्षेण हस्तेन प्राप्तुं शक्यते तदेव सर्वेणोपायान्तरसापेक्षेणेति तत्र न स्याद् प्रत्ययोऽतो हस्तप्राप्यशब्देन प्रत्यासत्तिः प्राप्यस्य लक्ष्यते, तेन प्रत्यासत्तिविषये धात्वर्थे विधानम् । 'चिञ् चयने' अतो घञि षष्ठीसमासे च—पुष्पप्रचायः । पुष्पप्रचयं करोति वृक्षाग्रे—तरुशिखरस्थानां पुष्पाणां हस्तप्राप्यत्वानवगते सेषा तरुमारुह्यान्योपायेन हस्तप्राप्यत्वं न तूपायान्तरनैरपेक्ष्येणेति तत्र हस्तप्राप्यत्वं नास्तीति भावः । स्तेयेन पुष्पप्रचयं करोतीति—आत्रे—कारान्तलक्षणोऽल् विज्ञयः । हस्तप्राप्यशब्देन प्रमाणमप्युच्यते—यद्धस्ते संभवति न हस्तादतिरिच्यते इति, ततश्च 'माने' ।५।३।८१। इत्यनेनैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्-

अस्तेय एवेति, तेन पुष्पायां हस्तेन प्रचयं करोति चौर इत्यत्र 'माने' ।५।३।८१। इत्यनेनापि घञ् न भवति ॥७८॥

चितिदेहावासोपसमाधाने कश्चादेः ।५।३।७९।

एष्वर्थेषु चेर्भावाकर्त्रोर्घञ्स्यात् तद्योगे च चेरादेः कः । चीयत इति चितिः यज्ञेऽग्निविशेषस्तदाधारो वा । आकायमग्निं चिन्वीत । कायो देहः । ऋषिनिकायः । उपसमाधानमुपर्युपरि राशीकरणम् । गोमयनिकायः ॥७९॥

चिति०—इह ग्राह्यं चितिशब्दार्थमाह—चीयते इति चितिर्यज्ञेऽग्नि-विशेषः सिति कर्मणि प्रत्यय इति भावः । पक्षान्तरमाह–तदाधारो वेति–अग्निविशेषस्याधारभूतं कुण्डमिह वाच्यमित्यर्थः, तथा चाधिकरणे घञिति भावः आकायमग्निं चिन्वीतेति—यज्ञीयमग्निविशेषं चयनेन सम्पादये-दित्यर्थः, अधिकरणे प्रत्ययविधाने तु आधारभूतस्याकायस्य चिनोतेर्योगेनुक्तं कर्म बोध्यम्, अथवा चिनोतेर्द्विकर्मकत्वस्वीकारादुभे अपि कर्मणी एव, तथा चाचीयतेऽग्निरस्मिन्, अथवा आचीयन्ते इष्टका अस्मिन्निति=आकायोऽ-ग्निस्थापनस्थलविशेषः, तमग्निं च चयनेन सम्पादयेदित्यर्थः । देहे उदा-हरति–कायः, तदर्थमाह–देह इति । आवासे उद हरति ऋषिनिकाय इति ऋषीणामावास इत्यर्थः । उपसमाधानशब्दार्थमाह–उपसमाधानमुपर्युपरि राशिकरणमिति । उपसमाधाने उदाहरति-गोमयनिकाय इति–गोमयस्यो-पर्युपरि राशिकरणमित्यर्थः । 'चः के इत्येव सिद्धे आदिग्रहणमादेरेव यथा स्यात्, तेन चेर्यङ्लुपि-निकेचाय इत्येव भवति ॥७९॥

सङ्घेऽनूर्द्ध्वे ।५।३।८०।

नास्ति कुतश्चिदूर्द्ध्वमुपरि किञ्चिद्यस्मिन् सोऽनूर्द्ध्वः, तस्मिन् प्राणिसमुदाये ऽर्थे भावाकर्त्रोर्घञ् स्यात्, तद्योगे चादेः कः । तार्किकनिकायः । सङ्घ इति किम् । सारसमुच्चयः । अनूर्द्ध्वं इति

किम् । शूकरनिचयः ॥८०॥

संघेऽनूर्ध्वे—अनूर्ध्वशब्दस्य संघेन सह सामानाधिकरण्यं प्रकटयति—नास्ति कुतश्चिदित्यादि इति—समुदायान्तर्गतवस्तूनामूर्ध्वाधोभावो यत्र भवेत् तादृशः संघो वाच्य इति तात्पर्यम् । संघशब्दः प्राणिसमुदायपर इत्याह—प्राणिसमुदायेऽर्थ इति । तार्किकनिकाय इति तार्किकाणां समुदाय इत्यर्थः । पदकृत्यं पृच्छति—संघ इति किमिति—प्राणिसमुदायवाचकसंघशब्दमपहाय समुदायमात्रवाचकः कश्चित् शब्दो ग्राह्यः सूत्र इति प्रश्नः, अनूर्ध्वपदस्य बहुव्रीहित्वेन विगृहीतत्वादन्यः पदार्थः कश्चित् शब्दो ग्राह्य एवेति संघशब्दस्थानीयशब्दान्तराभावेऽवाचकत्वमेव सूत्रस्य स्यात् उत्तरयतिसार समुश्चय इति—सारादिपदं न प्राणिपरमपि तु प्राण्यप्राणिसाधारणधर्मविशेषपरमेवेति तत्समुदाये वाच्येऽस्याप्रवृत्त्या इवर्णान्तलक्षणोऽलेव भवतीति भावः । पुनः पृच्छति—अनूर्ध्व इति किमिति, उत्तरयति—सूकरनिचय इति—नात्रोर्ध्वाधोभावाभाव इत्यलेवेत्यर्थः, ननु कथमिहोर्ध्वाधोभाव इति चेत् ? उच्यते—सूकरा स्वत एवैकस्योपर्येक इति क्रमेणाल्पस्थान एव शतशस्तिष्ठन्तीति तेषां स्वभावः, एवं चोपसमाधानार्थादप्ययं भिन्न इति उपर्युपरिभावमात्रेणोपसमाधानार्थे पूर्वेणापि घञ् । यं उपासमाधानार्थादस्य भिन्नत्वमित्थं समर्थनीयम्—उपसमाधानमुपर्युपरिराशिकरणमिति केनापि यदि ते राशीभवनाय प्रेरिताः स्युरथवा बलात्कृता स्युस्तदैवात्रोपसमाधानार्थत्वम्, न च तथेत्यस्योपसमाधानार्थाद्भिन्नत्वम् ॥८०॥

माने ।५।३।८१।

माने गम्ये धातोर्भावाकर्त्रोर्घञ्स्यात् । एको निष्पावः । समित्संग्राहः । मान इति किम् । निश्चयः ॥८१॥

माने—। मानमियत्ता, साच द्वेधा—संख्या परिमाणं च । 'पूङ् पवने' 'पूञ् पवने'—एको निष्पावः, एकपदोपानमियत्ताज्ञापनार्थम् । ग्रहीश् उपादाने'—समित्संग्राहः—मुष्टिरित्यर्थः । निश्चय इति—मानार्थाभावादस्याप्रवृत्त्येवर्णान्तलक्षणोऽलेव भवति । अल एवापवादो योगः, कृत्यादिभिस्तु बाध्यते, घञपि 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्'

इति हि न्यायः, यथा—एका तिलोच्छ्रितिः, द्वे प्रसृती अत्र माने ॥८१॥

स्थादिभ्यः कः ।५।३।८२।

एभ्यो भावाकर्त्रोः कः स्यात् । आखूत्थो वर्त्तते । प्रस्थः । प्रपा ॥८२॥

स्थादिभ्यः०—। आखूनामुत्थानम्—आखूत्थो वर्तते इति 'उदः स्था०' ।१।३।४४। इति सकारलोपः, 'इडेत्पुसि०' ।४।३।९४। इत्याकारलोपश्चात्र विज्ञेयः । प्रतिष्ठन्त्यस्मिन्निति—प्रस्थः । प्रपिबन्त्यस्यामिति—प्रपा, 'पां पाने' इति धातुः । सर्वापवादो योगः ॥८२॥

ट्वितोऽथुः ।५।३।८३।

ट्वितो धातोर्भावाकर्त्रोरथुः स्यात् । वेपथुः ॥८३॥

ट्वितोऽथुः—। टु इत् यस्य तस्मादित्यर्थः । 'टुवेपृङ् चलने' अतोऽनेनाथौ—वेपथुः । असरूपत्वाद् घञलावपि—सामान्यसूत्रे घञि—वेपः, उवर्णान्त-लक्षणेऽलि वेपः ॥८३॥

ड्वितस्त्रिमक्तत्कृतम् ।५।३।८४।

ड्वितो धातोर्भावाकर्त्रोस्त्रिमक् स्यात्, तेन धात्वर्थेन कृत-मित्यर्थे । पक्त्रिमम् ॥८४॥

ड्वित०—। पाकेन कृतम्—पक्त्रिममिति—पाकेन निवृत्तमित्यर्थः । चजः कगम्' २।१।८६। इति चस्य कत्वम् ॥८४॥

यजिस्वपिरक्षियतिप्रच्छो नः ।५।३।८५।

एभ्यो भावाकर्त्रोर्नः स्यात् । यज्ञः । स्वप्नः । रक्षणः । यत्नः । प्रश्नः ॥८५॥

यजि०—। 'यजीं देवपूजासंगतिकरणदानेषु' अतो ने 'तवर्गस्य०' १।३।६०। इति नस्य ञो जञयोर्ज्ञ इति ज्ञे—यज्ञ इति । 'प्रछंत् ज्ञीप्सायाम्' ज्ञीप्सा-जिज्ञासा, अतो ने 'अनुनासिके०' ४।१।१०८। इति छस्य शे 'न शात्' ।१।३।६२। इति ञनिषेधे—प्रश्नः ॥८५॥

विच्छो नङ् ।५।३।८६।

विच्छेर्भावाकर्त्रोर्नङ् स्यात् । विश्नः ॥८६॥

विच्छो नङ्—। 'विछत् गतौ' अतो नङि 'अनुनासिके०' ।४।१।१०८॥ इति छस्य शे—विश्नः, प्राग्वत् ञप्रतिषेधः ॥८६॥

उपसर्गाद्दः किः ।५।३।८७।

उपसर्गपूर्वाद्दासंज्ञात् भावाकर्त्रोः किः स्यात् । आदिः, निधिः । ॥ ८७ ॥

उपसर्गा०—। 'धातोः०' ।३।१।१। इति प्रादेरुपसर्गसंज्ञा प्राग् विहिता। 'अदौ०' ।३।३।५। इत्यनेन 'दांदाने' 'देङ् पालने' 'डुदांग्क् दाने' दोंच् छेदने' ट्धें पाने' 'डुधांग्क् धारणे च' इति षण्णां दासंज्ञा विहिता। दारूपाद् दासंज्ञकात् सोपसर्गादनेन कौ 'इडेत् पुसि०' ।४।३।९४। इत्याकारलोपे च—निधिः ।८७।।

व्याप्यादाधारे ।५।३।८८।

व्याप्यात् पराद्दासंज्ञादाधारे किः स्यात् । जलधिः ॥८८॥

व्याप्या०=। व्याप्यमिति कर्मणः संज्ञा। आधार इत्यधिकरणस्य संज्ञा। जलं धीयतेऽस्मिन्निति=जलधिः ॥८८॥

अन्तर्द्धिः ।५।३।८९।

अन्तः पूर्वाद्धागो भावाकर्त्रोः कि स्यात्। अन्तर्द्धिः ॥८९॥

अन्तर्धिः=। पूर्वेणोपसर्गपूर्वत्वाभावादप्राप्तौ वचनम्। अन्तर्धानम्=अन्तर्धिः ॥८९॥

अभिव्याप्तौ भावेऽनञिन् ।५।३।९०।

अभिव्याप्तौ गम्यायां धातोर्भावेऽनञिनौ स्याताम्। संरवणम्। सांराविणम्। अभिव्याप्तौ इति किम्। संरावः ॥९०॥

अभिव्याप्तौ०=। क्रियया स्वसंबन्धिनः साकल्येनाभिसंबन्धोऽभिव्याप्तिः। 'रुङ् शब्दे' समन्ताद्राव इति वाक्येनेनाने गुणे च संरवणमिति, एवमनेन ञिनि तु 'नित्यं ञिनोऽण्' ।७।३।५८। इति स्वार्थे नित्यमणि आद्यस्वरस्य वृद्धौ 'अनपत्ये' ।७।४।५५ इत्यन्त्यस्वरादिलोपनिषेधे=सांराविणम्। संराव इति=अत्रा—भिव्याप्तिविवक्षाविरहादस्याप्रवृत्त्या 'रुधातोः 'रोरुपसर्गात्' ।५।३।२२। इत्यनेनालोऽपवादे घञि=संरावः ॥९०॥

स्त्रियां क्तिः ।५।३।९१।

धातोर्भावाकर्त्रोः स्त्रियां क्तिः स्यात्। कृतिः। स्त्रियामिति किम्। कारः ॥९१॥

स्त्रियां—। ननु 'स्त्रियामिति कस्य विशेषणमिति चेद्? उच्यते विशेषणं सन्निहितस्य भवति, सन्निहितं चात्र द्वयं धातुः, प्रत्यश्च, तत्र धातोरिह

विशेष्यत्वं न सम्भवति, तस्यासत्त्वरूपत्वेन तस्य स्त्रियामवर्तनात्, तथा च पारिशेष्यात् प्रत्यय एवावशिष्यते, शब्दे चार्थस्य विशेषणत्वमयुक्तमिति तदर्थं विशेषणम्, एवं च स्त्रीत्वविशिष्टे भावेऽकर्तरि च कारके वाच्ये क्तिः प्रत्यय इति फलितम् घञादेरपवादः। कार इति-अत्र स्त्रीत्वाविवक्षणादस्याप्रवृत्या घञ् ॥९१॥

श्र्यादिभ्यः ।५।३।९२।

एभ्यो धातुभ्यो भावाकर्त्रोः क्तिः स्यात्। श्रुतिः। प्रतिश्रुत्। संपत्तिः। संपत्।९२।

श्र्यादिभ्य०—। वक्ष्यमाणैः क्विबादिभिः सह समावेशार्थं वचनम्। 'श्रुट् श्रवणे' अनेन स्त्रियां क्तौ कित्त्वाद् गुणाभावे—श्रुतिरिति, एवं सम्पदादिगणपाठात् 'क्रुत्सम्पदादिभ्यः क्विप्' ।५।३।११४। इति क्विपि 'ह्रस्वस्य तः पित्कृति' ।४।४।११३। इति तागमे च प्रतिश्रुत् इति। 'षद्लृ विशरणगत्यवशादनेषु' अतः क्तौ-संपत्तिः, क्विपि च-संपत् 'स्त्रीखलना अलो बाधकाः, स्त्रियाः खलनौ' इति न्यायेन विशिष्य विहितौ खलनौ परत्वादेनं बाधेते ॥९२॥

समिणासुगः ।५।३।९३।

संपूर्वादिण आङ्पूर्वात्सुगश्च भावाकर्त्रोः स्त्रियां क्तिः स्यात्। समितिः। आसुतिः ॥९३।

समिणासुग०—। 'समज०' ५।३।९९। इत्यनेन सुग इणश्च क्यप् विधास्यते, स क्तिं बाधेतेति तद्बाधनायेदम्। 'इंण्क् गतौ' सम्पूर्वादितोऽनेन क्तौ–समितिः। 'षुंग्ट् अभिषवे' आङ्पूर्वादितोऽनेन क्तौ—आसुतिः ॥९३॥

सातिहेतियूतिजूतिज्ञप्तिकीर्त्तिः ।५।३।९४।

एते भावाकर्त्रोः क्त्यन्ता निपात्यन्ते। सातिः। हेतिः। यूतिः।

जूतिः । ज्ञप्तिः । कीर्त्तिः ॥६४॥

साति०—।सातिरिति—'षिञ् बन्धने' इत्यस्य इकारस्य, 'षिञ् अभिषवे' इत्यस्योकारस्य चात्वं निपात्यते, 'षोंच् अन्तकर्मणि' अस्य ओकारस्य 'आत् सन्ध्यक्षरस्य' ।४।२।१। इत्यात्वे जाते तस्य 'दोसो०' ।४।४।११।इति इत्वे प्राप्ते तद भावश्च निपात्यते,तथा च त्रयाणामपि सातिरितिभवतीति भावः।हेतिरिति–'हिट् गतिवृद्धयोः अस्य इकारस्य एकारः, 'हनंक् हिंसाग' त्योः इत्यस्यान एकारो वा निपात्यते, तथा च द्वयोरपि हेतिरिति भवतीतिभावः । यूतिः,जूतिरिति–'युक् मिश्रणे' 'जु' गतौ अनयोर्दीर्घत्वं निपात्यते इत्यर्थः । ज्ञप्तिरिति—'ज्ञाण्' मारणादिनियोजनेषु' मारणादयो 'मारणतोषण०' ।४।२।३०। इति सूत्रोक्ताः, तेषु नियोजने चार्थे जानातिश्चुरादिः, चुरादित्वात् णिचि 'अर्त्ति०' ।५।२।२१। इति प्वागमे 'मारण०' ।४।२।३०। इति ह्रस्वे 'णेरनिटि' ।४।३।८३ इति णिलोपे च ज्ञप्तिः। 'कॄतण् संशब्दने' संशब्दनं ख्यातिः, 'कॄतः कीर्तिः' ।४।४।१२२। इति कीर्तादेशे णिचि क्तौ णिलोपे च कीर्तिः । आभ्यां 'णिवेत्त्या०' ।५।३।१११। इति ण्यन्तलक्षणोऽनो न भवति निपातनात् ॥६४॥

गापापचो भावे ।५।३।६५।

एभ्यो भावेस्त्रियां क्तिः स्यात् ।सङ्गीतिः । प्रपीतिः । पक्तिः।६५।

गापा०—। 'गा' शब्देन 'गै शब्दे' 'गाङ् गतौ' इत्युभयोर्ग्रहणम्, गामादाग्रहणेष्वविशेषः' इति न्यायात्, 'गै' इत्यस्य 'आत् सन्ध्यक्षरस्य' ।४।२।१। इत्यात्वे 'गा' इति भवनाश्च । आभ्यामनेन क्तौ 'ईर्व्यञ्जने०' ।४।३।८७। इत्याकारस्य ईत्वे—संगीतिरिति । 'पा' इति गापचिसाहचर्यात् पिबतेर्ग्रहणम्, पाधातोः प्राग्वदीत्त्वे–प्रपीतिरिति । 'डुपचींष् पाके' इति पच्धातोश्चस्य 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति कत्वे पक्तिः । सामान्यविहितस्य क्ते बाधकस्य 'उपसर्गा०' ।५।३।११०। इति प्राप्तस्याङो बाधकोऽयं योगः, पचेस्तु'षितोऽङ् ।५।३।१०७। इत्यङ् प्राप्त इति तद्बाधकोऽप्ययं योगः।६५।

स्थो वा ।५।३।६६।

स्थोभावे स्त्रियां क्तिर्वा स्यात् । प्रस्थितिः । आस्था ॥९६॥

स्थो वा—। पूर्ववदङोऽपवादः 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इति स्थाधातोरनेन 'दोसो०' ।४।४।११। इतीत्वे प्रस्थितिरिति । वावचनाद् 'उपसर्गा०' ।५।३।-११०। इत्यङि—आस्था ॥९६॥

आस्यटिव्रज्यजः क्यप् ।५।३।९७।

एभ्यो स्त्रियां क्यप् स्यात् । आस्ता । अट्या । व्रज्या । इज्या ॥९७॥

आस्यटि०—। 'आसिक् उपवेशने' आस्या । 'अट गतौ—अट्या । 'व्रज गतौ' —व्रज्या । 'यजीं देवपूजासंगतिकरणदानेषु' अतः क्तौ 'यजादि०' ।४।१।७९ इति य्वृति-इज्या । पित्करणमुत्तरत्र तागमार्थम् ॥९७॥

भृगो नाम्नि ।५।३।९८।

भृगो भावे स्त्रियां संज्ञायां क्यप् स्यात् । भृत्या । नाम्नीति किम्। भृतिः ॥९८॥

भृगो०—। भरणं-भृत्या, 'भृंग् भरणे' 'टुडुभृंगक् पोषणे च' चकारात् धारणे, अतोऽनेन स्त्रियां भावे क्यप् तागमश्च । भृतिरिति—'स्त्रियां क्तिः' ।५।३।९१ इति क्तिः ॥९८॥

समजनिपन्निषद्शीङ्सुग्विदिचरमिनीणः ।५।३।९९।

एभ्यो भावाकर्त्रोः स्त्रियां नाम्नि क्यप् स्यात् । समज्या । निपत्या । निषद्या । शय्या । सुत्या । विद्या । चर्या । मन्या । इत्या । नाम्नीत्येव । संवीतिः ॥९९॥

समज०—। योगविभागाद्भाव एवेति निवृत्तम्। समजन्त्यस्यामिति-समज्या। निपतन्त्यस्यामिति-निपत्या। निषदनं निषीदन्त्यस्यामिति वा-निषद्या। शेरतेऽस्यामिति 'क्ङिति यि शय्' ४।३।१०५। इति शय्या। सवनं सुन्वन्त्यस्यामिति वा-सुत्या। वेदनं विदन्ति तस्यां तया वा हिताद्धितमिति विद्या। चरणं चरन्त्यनयेति वा-चर्या। मननं मन्यतेऽनयेति वा-मन्या। अयनमेत्यनयेतिवा-इत्या। सम्पूर्वादजेः क्तौ 'अघञ्०' ।४।४।२। इति वीभावे-संवीतिः ॥९९॥

कृगः शच वा ।५।३।१००।

कृगो भावाकर्त्रोः स्त्रियां शो वा स्यात्, क्यप् च। क्रिया। कृत्या। कृतिः ॥१००॥

कृग०— 'डुकृंग् करणे' अतोऽनेन शे 'रिः शक्याऽऽशीर्ये' ।४।३।११०। इति ऋतो 'रि' इत्यादेशे 'धातो:०' ।२।१।५०। इतीयादेशे—क्रिया, क्यपि तु तागमे-कृत्या। अस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे क्तौ—कृतिः। क्रियेति यदा भावकर्मणोः शस्तदा मध्ये क्यः भवति, न तु इयादेश इति वेद्यम् ॥१००॥

मृगयेच्छायाच्ञातृष्णाकृपाभाश्रद्धाऽन्तर्द्धा ।५।३।१०१।

एते स्त्रियां निपात्यन्ते ॥१०१॥

मृगयेच्छा०—। 'इच्छा' भावे निपात्यते, शेषास्तु भावाकर्त्रोः। 'मृगयते शः शव् च क्यापवादो निपात्यते-मृगया। इच्छतेः शः क्याभावश्च-इच्छा। याचितृष्योर्नङ्-याच्ञा, तृष्णा। कृपेरङ् रेफस्य च ऋकारः-कृपा। भातेरङ्-भा। श्रत्पूर्वादन्तपूर्वाच्च दधातेरङ्-श्रद्धा, अन्तर्द्धा ॥१०१॥

परेः सृचरेर्यः ।५।३।१०२।

वाऽटाट्यात् ।५।३।१०३।

अटेर्यङन्तात् स्त्रियां भावाकर्त्रोर्यो वा स्यात् । अटाट्या । अटाटा ॥१०३॥

वाटाट्यात्०—। अटाट्येति धातुपाठेऽदृष्टत्वादाह—अटेर्यङन्तादिति 'अट' गतौ' भृशं पुनः पुनर्वा अटनमिति'अट्यति०'।३।४।१०। इति यङि 'स्वरादे-द्वितीयः' ।४।१।४। इति द्वितीयस्यैकस्वरांशस्य 'टय' इत्यस्य द्वित्वे पूर्व-स्यानादिव्यञ्जनलोपे 'आगुणा०' ।४।१।४१। इत्यस्य आकारे च 'अटाट्य' इति यङन्तो धातुः, ततोऽनेन ये 'अतः' '४।३।८। इत्यकारलोपे 'योऽशिति' ।४।३।८०। इति यलोपे स्त्रियामापि च—अटाट्या । अस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे शंसिप्रत्ययात्' ।५।३।१०५। इत्यप्रत्यये प्राग्वदकारस्यकारयोर्लोपे स्त्रियामापि च—अटाटा १०३॥

जागुरश्च ।५।३।१०४।

जागुः स्त्रियां भावाककर्त्रोरः, यश्चस्यात् । जागरा, जागर्या॥१०४॥

जागुरश्च०—। 'जागृक् निद्राक्षये' अतोऽप्रत्यये, गुणे,, स्त्रियामापि च— जागरा, जागर्या ॥१०४॥

शंसिप्रत्ययात् ।५।३।१०५।

शंसेः प्रत्ययान्तात् च भावाकर्त्रोः स्त्रियामः स्यात् । प्रशंसा । गोपाया ॥१०५॥

शंसिप्रत्ययात्—। 'शंसू स्तुतौ च' चकाराद् हिंसायाम्, अतोऽनेन 'अ' प्रत्यये स्त्रियामापि च= प्रशंसा । 'गुपौ रक्षणे' अतः 'गुपौ धूप०' ।३।४।१। इति स्वार्थे आयप्रत्यये उपान्त्यगुणे च 'गोपाय' इति प्रत्ययान्ताद् धातोरनेन 'अ' प्रत्यये पूर्वाकारलोपे स्त्रियामापि च=गोपाया । 'शंसू'

धातोरूदित्त्वात् 'ऊदितो वा' ।४।४।४२। इति क्त्वायां वेट्त्वम्, वेट्त्वाच्च क्ते परे 'वेटोऽपतः' ।४।४।६२। इतीटो निषेधात् 'क्तेटो०' ५।३।१०६। इत्यप्रत्ययो न प्राप्नोति, तत्र क्तेट इत्युक्तत्वात्, तथा च 'अ' प्रत्ययविधानार्थमत्र शंसेरुपादानम् ।।१०५।।

क्तेटोगुरोर्व्यञ्जनात् ।५।३।१०६।

क्तस्येट् यस्मात् ततो गुरुमतो व्यञ्जनान्ताद्धातो भावाकर्त्रोः स्त्रियामः स्यात् । ईहा । क्तेट इति किम् । स्रस्तिः । गुरोरिति किम् । स्फूर्त्तिः । व्यञ्जनादिति किम् । संशीतिः ।।१०६।।

क्तेटो०—। 'ईहि चेष्टायाम्' अतोऽनेन 'अ' प्रत्यये स्त्रियामापि—ईहा । स्रस्तिरिति—स्रंसूङ् अवस्रंसने' अस्योदित्त्वात् क्त्वि वेट्त्वेन 'वेटोऽपतः' ।४।४।६२। इति क्ते इटो निषेधेन क्तेऽनिट्त्वादस्या—प्रवृत्त्या स्त्रियां क्तौ 'नो व्यञ्जनस्या०' ।४।२।४५। इति नलोपे—स्रस्तिः । '**स्फुर्छा विस्मृतौ**' अस्यादित्त्वात् 'आदितः' ।४।४।७१। इतीटो निषेधाद—निट्त्वमिति स्त्रियां क्तौ 'राल्लुक्' ।४।१।११०। इति छ्लोपे 'भ्वादे०' ।२।१।६३। इति दीर्घत्वे 'र्हादहस्वरः' ।१।३।३१। इति द्वित्वे च—स्फूर्त्तिः । संशीतिरिति—'शीङ्क् स्वप्ने' अत्र व्यञ्जनान्तत्वाभावादस्या प्रवृत्त्या स्त्रियां क्तौ—संशीतिः ।।१०६।।

षितोऽङ् ।५।३।१०७।

षितो धातोर्भावाकर्त्रोः स्त्रियामङ् स्यात् । पचा ।।१०७।।

षितोऽङ्—। 'डुपचींष् पाके' अस्य षित्त्वादनेन स्त्रियामङि आपि च—पचा । 'जॄष्च् जरसि' 'ऋवर्णदृशोऽङि' ।४।३।७। इति गुणे—जरा । ।। १०७ ।।

भिदादयः ।५।३।१०८।

एते भावाकर्त्रोः स्त्रियामङन्ता यथालक्ष्यं निपात्यन्ते । भिदा । छिदा ॥१०८॥

भिदादयः—। 'भिदृंपी विदारणे' अतोऽनेनाङि ङित्वाद्गुणाभावे स्त्रियामापि च—भिदेति—विदारणमित्यर्थः, अर्थान्तरे तु भित्तिरिति भवति, कुण्यमित्युच्यते । 'छिदृंपी द्वैधीकरणे'—छिदा—द्वैधीकरणमित्यर्थः, अर्थान्तरे तु छित्तिरिति, चौर्यादिकरणाद्राजापराध उच्यते । दृष्टत्सवं निपातनाल्लभ्यम्, उक्तं ह्येवद्—अकृतस्य क्रिया चैव, प्राप्तेर्बाधनमेव च । अधिकार्थविवक्षा च, त्रयमेतन्निपातनात् ॥१०८॥

भीषिभूषिचिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चिस्पृहितोलिदोलिभ्यः ।५।३।१०९।

एभ्यो ण्यन्तेभ्यः स्त्रियां भावाकर्त्रोरङ् स्यात् । भीषा । भूषा । चिन्ता । पूजा । कथा । कुम्बा । चर्चा । स्पृहा । तोला । दोला । ॥ १०९ ॥

भीषि०—। ण्यन्तत्वादने प्राप्ते वचनम् । 'ञिभीक् भये' णौ 'बिभेतेर्भीष् च' ।३।३।९२। इत्यात्वे भीषादेशेऽनेन स्त्रियामङि आपि च—भीषा । 'भूष अलंकारे' अतो णौ स्त्रियामङि आपि च—भूषा । 'चितुण् स्मृत्याम्'—चिन्ता । 'पूजण् पूजायाम्'—पूजा । 'कथण् वाक्यप्रबन्धे'—कथा । 'कुबुण् आच्छादने'—कुम्बा । 'चर्चण् अध्ययने'—चर्चा । स्पृहण् ईप्सायाम्'—स्पृहा । तुलण् उन्माने'—तोला । 'दुलण् उत्क्षेपे'—दोला । स्पृहेरदन्तत्वात् णौ न गुणः, एवं कथेरूपान्त्य—वृद्ध्यभावः । सर्वत्र 'णेरनिटि' ।४।३।८३। इति णिलोपः ॥१०९॥

उपसर्गादातः ।५।३।११०।

उपसर्गपूर्वाद्दादन्तात् स्त्रियां भावाकर्त्रोरङ् स्यात् : उपदा । उपसर्गादिति किम् । दत्तिः ॥११०॥

उपसर्गा—"डुदांगक् दाने" उपपूर्वस्यास्य स्त्रियामङि 'इडेत्पुसि' ।४।३।९४। इत्याकारलोपे आपि च—उपदा । दत्तिरिति—अत्र 'दत्' ।४।४।१०। इति ददातेर्ददादेशः ॥११०॥

णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरनः ।५।३।१११।

ण्यान्ताद्वेत्त्यादिभ्यश्च स्त्रियां भावाकर्त्रोरनः स्यात् । कारणा । वेदना । आसना । श्रन्थना । घट्टना । वन्दना ॥१११॥

णिवेत्त्यास०—'डुकृंग् करणे' अतो णिगि वृद्धौ 'कारि' इत्यस्मतोऽनेन स्त्रियामने 'णेरनिटि' ।४।३।८३। इति णिलोपे 'आत्' ।२।४।१८। इत्यापि-कारणा । 'विदक् ज्ञाने' अतोऽने उपान्त्यगुणे च-वेदना । 'आसिक् उपवेशने' अतोऽने—आसना । 'श्रथुङ् शैथिल्ये' शैथिल्यमशक्तता, 'श्रन्थश् मोहनप्रतिहर्षयो' अनयोः—श्रन्थना । 'घट्टि चलने' अस्य–घट्टना । 'वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः' अस्य—वन्दना । वेत्तीति तिन्निर्देशो ज्ञानार्थपरिग्रहार्थः ॥१११॥

इषोऽनिच्छायाम् ।५।३।११२।

अनिच्छार्थादिषेः स्त्रियां भावाकर्त्रोरनः स्यात् । अन्वेषणा । आनिऽछायामिति किम् । इष्टिः ॥११२॥

इषोऽनिच्छादार्थाद-नुपूर्वादिनेन स्त्रियामने उपान्त्यगुणे आपि च—अन्वेषणा । इष्टिरिति—'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति षयोगे तकारस्य टकारः ॥११२॥

पर्यधेर्वा ।५।३।११३।

आभ्यां परादनिच्छार्थादिषेर्भावाकर्त्रोः स्त्रियामनो वा स्यात् । पर्येषणा । परीष्टिः अध्येषणा, अधीष्टिः ॥११३॥

रषृवर्णा० ।२।३।६३। सूत्राण्णकारः ॥११३॥

क्रुत्संपदादिभ्यः क्विप् ।५।३।११४।

क्रुधादिभ्योऽनुपसर्गेभ्यः पदादिभ्यश्च समादिपूर्वेभ्यः स्त्रियां भावाकर्त्रोः क्विप् स्यात् । क्रुत् । युत् । संपत् । विपत् ॥११४॥

क्रुधसंपदा–"क्रुधंच् कोपे" क्रुत्–'विरामे वा' ।१।३।५१। इति घस्य तकारः । 'युधिंच् संप्रहारे'—युत् । 'पदिच् गतौ' अतस्सोपसर्गात् क्विपि- संपत्, विपत् ॥११४॥

भ्यादिभ्यो वा ।५।३।११५।

एभ्यः स्त्रियां भावाकर्त्रोः क्विप् वा स्यात् । भीः । भीतिः । ह्रीः ह्रीतिः ॥११५॥

भ्यादिभ्यो वा—"त्रिभींक् भये'–भीः, भीतिः । 'ह्रींक् लज्जायाम'—ह्रीः ह्रीतिः ॥११५॥

व्यतिहारे ऽनीहादिभ्यो ञः ।५।३।११६।

व्यतीहारविषयेभ्य ईहादिवर्जेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियां ञः स्यात्, बाहुलका॒द्वे । व्यावक्रोशी । अनीहादिभ्य इति किम्-व्यतीहा । व्यतीक्षा ॥११६॥

व्यतिहारे–"व्यतिहरणं—व्यतिहारः, परस्परस्य कृतप्रतिकृतिः अन्येना-

चरितस्य कार्यस्यानुकरणमिति यावत् । 'क्रुशं आह्वानरोदनयोः' परस्पर-माक्रोशनमित्यनेन ञ 'नित्यं ञिनोऽण्' ।५।३।५८। इति स्वार्थेऽणि 'अणञे०' ।२।४।२०। इति ङ्यां च–व्यावक्रोशी- अत्र 'य्वः' ।७।४।५। इत्यैकारो न भवति 'न ञस्वाङ्गादेः' ।७।४।६। इति निषेधात् । परस्परमी-हेति—व्यतीहा, ईक्षि दर्शने' परस्परमीक्षणं—व्यतीक्षा, उभयत्र 'क्तेटो०' ।५।३।१०६। इति स्त्रियामप्रत्ययः ॥११६॥

नञोऽनिः शापे ।५।३।११७।

नञः पराद्धातोः शापे गम्ये भावाकर्त्रोः स्त्रियामनिः स्यात् । अज-ननिस्ते भूयात् । शाप इति किम् । अकृतिः पटस्य ॥११७॥

नञोऽनिः०—शापोऽनिष्टार्थाशंसनम्, आक्रोश इति यावत् । 'जनैचि प्रादु-र्भावे' प्रादुर्भाव उत्पत्तिः, नञ्पूर्वादतोऽनेनानौ– अजननिस्ते भूयादिति-अयथाकारिणस्ते उत्पत्तिरेव मास्तु, उत्पन्नस्य वासत्त्वं भवतु येनानुत्पन्न इव प्रतीयेथाः । अकृतिः पटस्येति—अत्र 'नञ्' ।३।१।५१। इति समासः, नात्र शापोऽपि तु तत्त्वकथनमिति नास्य प्रवृत्तिः ॥११७॥

ग्लाहाज्यः ।५।३।११८।

एभ्यः स्त्रियां भावाकर्त्रोरनिः स्यात् । ग्लानिः । हानिः । ज्यानिः ॥११८॥

ग्ला०—'ग्लैं हर्षक्षये' हर्षक्षयो धात्वपचयः, 'आत् सन्ध्यक्षरस्य' ।४।२।१। इत्यात्वेऽनेनानौ-ग्लानिरिति-बलहीनते – त्यर्थः । 'ओहांक् त्यागे'—हानिरिति अपचयः । 'ज्यांश् हानौ'–ज्यानिरिति–अपचयः ॥११८॥

प्रश्नाख्याने वेञ् ५।३।११९।

प्रश्ने आख्याने च गम्ये स्त्रियां भावाकर्त्रोर्धातोरिञ् वा स्यात् ।

कां कारिं, कारिकां, क्रियां, कृत्यां, कृतिं, वा अकार्षीः । सर्वां कारिं, कारिकां क्रियां, कृत्यां, कृतिं, वा अकार्षम् ॥११९॥

प्रश्ना०—।डुकृंग् करणे' अतोऽनेन वा इञि वृद्धौ च–कारिमिति । वावचनात् 'पर्याया०' ।५।३।१२०। इति स्त्रियां णके वृद्धौ आपि 'अस्या०' २।४।१११। इत्यस्येकारे–कारिकामिति 'कृग:०' ।५।३।११०। इति शःक्यप् च भवति, तत्र भावे शे 'क्यः शिति' ।४।३।७०। इति क्ये 'रिःशक्या०' ४।३।११०। इति ऋतो 'रि' इत्यादेशे आपि च–क्रियामिति, क्यपि तु तागमे—कृत्यमिति । क्तौ—कृतिमिति । यथा प्रश्ने तथाख्यानेऽपीत्याह—सर्वां कारिमित्यादि ॥११९॥

पर्यायार्हणोत्पत्तौ च णकः ।५।३।१२०।

एष्वर्थेषु प्रश्नाख्यानयोश्च गम्ययोः स्त्रियां भावाकर्त्रोर्धातोर्णकः स्यात् । भवतः आसिका । भवतः शायिका । अर्हसि त्वमिक्षुभक्षिकाम् । ऋणे इक्षुभक्षिकां मे धारयसि । इक्षुभक्षिका उदपादि । कां कारिकामकार्षीः । सर्वां कारिकामकार्षम् ॥१२०॥

पर्यायार्हणो०—क्त्याद्यपवादः । पर्यायः–क्रमः परिपाटिरिति यावत् । अर्हणमर्हः–योग्यता । उत्पत्तिर्जन्म । 'आसिक् उपवेशने' अतोऽनेन स्त्रियां णके आपि 'अस्या०' ।२।४।१११। इत्यकारस्येत्वे च–भवत आसिका, 'कर्तरि' ।२।२।८६। इति कृतः कर्तरि षष्ठी, एतावत्कालं मयाऽन्येन वाऽऽसनमधिष्ठितमिदानीं भवतः क्रमः प्राप्त इत्यर्थः । 'शीङ्क् स्वप्ने' अतो णके वृद्धावापि इत्वे च—भवतः शायिका । 'भक्षण् अदणे' इति चुरादिः, अतो णिचि णके णिलोपे आपि इत्वे च–भक्षिका, इक्षूणां भक्षिकेति प्राग्वत् समासे–अर्हसित्वमिक्षुभक्षिकामिति । ऋणे इक्षुभक्षिकां मे धारयसीति–इक्षुभक्षणमृणत्वेन धारयसीत्यर्थः । एतौ पूर्वमुक्तौ—अर्हणेत्यस्योदाहरणौ । इदानीमुत्पत्तीत्यस्योदाहरणं वक्ष्यते—इक्षुभक्षिका उदपादीति—उत्पन्नेत्यर्थः । प्रश्ने आख्याने च प्राग्वद् ज्ञेयम् प्रश्न ख्यानयोगेऽपि पर्यायादिषु परत्वात् णक एव भवति, नेञ् ॥१२१॥

नाम्नि पुंसि च ।५।३।१२१।

धातोः परो भावाकर्त्रोः स्त्रियां संज्ञायां णकः स्यात् यथालक्ष्यं पुंसि च । प्रच्छर्दिका । शालभञ्जिका । अरोचकः ॥१२१॥

नाम्नि०—। प्रच्छर्दनं प्रच्छर्द्यतेऽनयेति वा—प्रच्छर्दिका--रोगसंज्ञैषा । शालो वृक्षविशेषः, शाला भज्यन्ते यस्यां सा--शालभञ्जिका--एवं नामा क्रीडेत्यर्थः । पुंसि चेत्यस्योदाहरणमाह--अरोचक इति—अरोचनं न रोचते ऽस्मिन्निति वा--अरोचकः ॥१२१॥

भावे ।५।३।१२२।

धात्वर्थनिर्देशे धातोर्णकः स्यात् । शायिका ॥१२२॥

भावे०—: 'शीङ्क् स्वप्ने' इत्यस्य वृद्धावायादेशे आपि 'अस्या०'।२।४।१११ इत्यकारस्येत्वे च शायिका ॥१२२॥

क्लीबे क्तः ।५।३।१२३।

नपुंसके भावे धातोः क्तः स्यात् । हसितं तव । क्लीबे इति किम् । हासः ॥१२३॥

क्लीबे०—। घञाद्यपवादः । स्त्रियां भावाकर्त्रोरिति च निवृत्तम् । ननु 'तत् साप्या०' ।३।३।२१। इति सूत्रेणैव लिङ्गत्रयसाधारण्येन भावकर्मणोः क्तस्य विधानाद्भावे च नपुंसकत्वस्य स्वतः सिद्धत्वेन सामान्यसूत्रेणैव सिद्धे सूत्रमिदं व्यर्थमिति चेत् ? अत्रोच्यते–'भूते' इत्यधिकृत्य 'क्तक्तवतू' ।५।१।१७४। इत्यनेन क्तप्रत्ययविधानात् तस्यैवार्थे 'तत् साप्या०' ।३।३।२१। इत्यने भावकर्मणी कथिते, अनेन तु कालसामान्ये नपुंसके भावे क्तो विधीयते । यद्यपि 'क्लीबे' इत्यस्याभावेऽपि धात्वर्थरूपे भावे कस्यापि लिङ्गस्यासत्त्वेन सामान्ये नपुंसकमिति नियमान्नपुंसकत्वं प्राप्तम्, घञाद्यन्तानां

भावार्थकत्वेऽपि सामान्यविहितत्वेऽपि च पुंस्त्वमनुशासनवशात्, तथापि सामान्यतो भावमात्रे विधाने घञादीनां बाधकत्वमस्य न स्यादिति तदर्थं नपुंसकत्वविशिष्टे भावे विधानमावश्यकम्। किञ्च 'तत् सा०या०'।३।३।२१ इति सूत्रेणाकर्मकेभ्य एव क्तस्य भावे विधानमनेन च सकर्मकेभ्योऽपीति 'गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः' इत्यादिप्रयोगाः सकर्मकेभ्योऽपि विहिताः। तथा चावश्यकमेवास्य पृथग्विधानमिति। 'हस हसने' अतोऽनेन क्ते 'स्वाद्य०।४।४।३२। इतीट्–हसितं तवेति—अत्र 'कर्तरि' ।२।२।८६। इति षष्ठी। हास इति–अत्र क्लीबत्वाभावादस्याप्रवृत्त्या: भावाकर्त्रोः ।५।३।१८। इति घञि–हासः ॥१२३॥

अनट् ।५।३।१२४।

क्लीबे भावेऽर्थे धातोरनट् स्यात्। गमनम् ॥१२४॥

अनट्०–। योग विभाग उत्तरत्रानड्मात्रस्यानुवृत्त्यर्थः। टकार उत्तरत्र ङ्यर्थः ॥१२४॥

यत्कर्मस्पर्शात्कर्त्रङ्गसुखं ततः ।५।३।१२५।

येन कर्मणासंस्पृष्टस्य कर्तुरङ्गस्य सुखं स्यात्ततः पराद्धातोः क्लीबे भावे ऽनट् स्यात्। पयःपानं सुखं। कर्मेति किम्। तूलिकाया उत्थानं सुखम्। स्पर्शादिति किम्। अग्निकुण्डस्योपासनं सुखम्। कर्त्रेति किम्। शिष्येण गुरोः स्नापनं सुखम्। अङ्गेति किम्। पुत्रस्य परिष्वञ्जनं सुखम्। सुखमिति किम्। कण्टकानां मर्दनम्। नित्यसमासार्थमिदम् ॥१२५॥

यत्कर्मस्पर्शा०—। पयः पानं सुखमिति—पयसः पाने शरीरोपचयेन पानकालेऽमि तस्य जिह्वया स्पर्शात् शरीरे हर्षो जायत एवेति शरीरसुखोत्पत्तिर्नियता। तूलिकाया उत्थानं सुखमिति--उत्पूर्वात् स्थाधातोः पूर्वेणान-

टि 'उदः स्था०' ।१।३।४४। इति सलोपे-उत्थानमिति, अस्तीह कर्तुः शरीरसुखम्, नतु कर्मणा संस्पृष्टस्य किंतर्हि ? आदानेन तूलिकाद्येन। तूलिकोत्थितो हि जनः प्रातः स्वशरीरसुखमनुभवति, स्वाप-समये च तदनुभवाभावादिति तूलिकायां शयनमिति न प्रत्युदाहृतम्। शिष्येण गुरोः स्नापनं-सुखमिति 'ष्णांक् शौचे' अतो णिचि 'अर्तिह्री०' ।४।२।२१।इति प्वागमः,अत्र स्नापयतेर्न गुरुः कर्ता, किं तर्हि ? कर्म। पुत्रस्य परिष्वञ्जनं सुखमिति= ''ष्वञ्जिन् सङ्गे'' परिपूर्वः, 'स्वञ्जश्च' ।२।३।४५। इति सस्य षत्वम्। अत्र शरीरस्य सुखं तदा विज्ञायेत, यदि पुत्रे स्पृष्टे तद् दृश्येत, अस्पृष्टे न दृश्येत, न च तथा भवतीति न शरीरस्य सुखम् ततः च पुत्रे स्पृष्टे रोमहर्षादिदर्शनादस्पृष्टे चादर्शनात् तत् शरीर सुखमेवेति वाच्यम्, तथा सति पत्रमात्रस्पर्शनात् सुखं दृश्येत, नहि परपुत्रस्पर्शे तद् दृश्यते, तथाहि-स्वजन्यत्वविशिष्टपुत्रस्पर्शज्ञानेन सुखमिति न शरीरस्य तत्, नहि शरीरसुखोत्पादकं वस्तु विज्ञातमेव सुखमुत्पादयति ना-विज्ञातम्,अजानन्नपि हिस्वत्वादिना पय आदिवस्तुनि मत्पानात् सुखमनुभवति शरीरं चास्योपचीयते, न तथा पुत्रस्पर्शेन, रोमहर्षादि तु ज्ञान-जन्यमेव, न तत्र स्पर्शो हेतुः, अस्पृष्टेऽपि कस्मिञ्चिद्वस्तुनि दृष्टमात्रे स्मृतमात्रे वा तद्धर्षदर्शनात्, तथा च तत्र मानस्येव प्रीतिरिति। अनेन सूत्रेण प्रत्ययाभावात् 'ङस्युक्त०' ।३।१।४८। इति सूत्रेण समासस्य सर्वत्र प्रत्युदाहरणेऽभाव इति वेद्यम्। पूर्वेण सिद्धे किमर्थं सूत्रमित्याह—नित्यसमासार्थमिति। अयमाशयः—पूर्वेण प्रत्यये कर्मणो ङस्युक्तत्वाभावात् समासो न स्याद् अनेन प्रत्यये तु कर्मणो ङस्युक्तत्वात् 'ङस्युक्तं०' ।३।१।४९। इति स्यादिति ।।१२५।।

रम्यादिभ्यः कर्त्तरि ।५।३।१२६।

एभ्यः कर्त्तरि अनट् स्यात्। रमणी। कमनी ।।१२६।।

रम्यादिभ्यः०—। 'रमिं क्रीडायाम्' अन्तर्भावितण्यर्थो सकर्मकः, रमते इ—त्यनटि टित्वात् स्त्रियां ङीप्रत्यये—रमणी, रमयति [illegible]मित्यर्थः। बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ।।१२६।।

कारणम् ।५।३।१२७।

कृञः कर्त्तर्यनट् वृद्धिश्च स्यात् । कारणम् ॥१२७॥

कारणम्—। करोतीति—कारणमिति ॥१२७॥

भुजिपत्यादिभ्यः कर्मापादाने ।५।३।१२८।

भुज्यादेः कर्मणि पत्यादेश्चापादानेऽनट् स्यात् । भोजनम् । निरदनम् । प्रपतनः । अपादानम् ॥१२८॥

भुजि०—। भुज्यते इति भोजनम् । निरदन्ति तदिति—निरदनमिति । प्रपतत्यस्मादिति—प्रपतनः । अपाददात्यस्मादिति—अपादानम् ॥१२८॥

करणाधारे ।५।३।१२९।

अनयोरर्थयोर्धातोरनट् स्यात् । एषणी । सक्तुधानी ॥१२९॥

करणाऽऽधारे—। 'भावाकर्त्रोः ।५।३।१८। इत्यादिना सामान्यतो भावा-कर्त्रोर्घञादयो विहिताः, अयं तु तद्विशेषे करणे आधारे चेति विशेष-विहितत्वात् 'सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्' इति घञा-दीनामपवादोऽयम् । 'इषत् इच्छायाम्' इष्यतेऽनयेति—एषणी । धीय-तेऽस्यामिति—धानी, सक्तूनां धानी—सक्तुधानी ॥१२९॥

पुन्नाम्नि घः ।५।३।१३०।

पुंसः संज्ञायां गम्यायां धातोः करणाधारयोर्घः स्यात् । दन्त-च्छदः । आकरः । पुमिति किम् । विचयनी । नाम्नीति किम् । प्रहरणो दण्डः ॥१३०॥

पुन्नाम्नि घः—। छाद्यतेऽनेने-ति छदः, दन्तानां छदः-दन्तच्छदः ओष्ठइत्यर्थः। एत्य कुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकर इति–खनिरित्यर्थः विचीयतेऽनयेति–विचय-नीतिस्त्रीनामेदमिति नास्य प्रवृत्तिः। प्रहरणो दण्ड इति–प्रह्रीयतेऽनेनेति योगार्थोऽत्र न संज्ञेति नास्य प्रवृत्तिः। घकारः 'एकोपसर्गस्य०' ।४।२।३४। इत्यत्र विशेषणार्थः ॥१३०॥

गोचरसंचरवहव्रजव्यजखलापणनिगमबकभगकषाकष-निकषम् ।५।३।१३१।

एते करणाधारयोः पुन्नाम्नि घान्ता निपात्यन्ते । गोचरः । संचरः । वहः । व्रजः । व्यजः । खलः । आपणः । निगमः । बकः । बाहुलकात्कर्तरि भगः । बाहुलकाद्गम् । कषः । आकषः । निकषः ॥१३१॥

गोचर०–। गावश्चरन्ति अस्मिन्निति अस्मिन्निति-गोचरः। व्युत्पत्तिमात्र-मिदम्, विषयस्य तु संज्ञा—'अनेकान्तात्मकवस्तुगोचरःसर्वसंविदाम्'। संचरन्तेऽनेनेति–संचर इति कलेवरमित्यर्थः वहन्ति ते--नेति-वहः—वृषस्कन्धदेशः। व्रजन्त्यस्मिन्निति-व्रजः गोसम्बन्धी समूहः। व्यजत्यनेनेति-व्यज इति-निपातनाद्वीभावाभावः, व्यजः--तालवृन्तमिति प्रतीयते। खलन्त्यस्मिन्निति--खलः--दुर्जन इत्यर्थः। एत्य पणायन्त्यस्मिन्निति--आपणो-हट्ट इत्यर्थः, 'अशवि०' ।३।४।४। इति विकल्पेन-यविधानादाया भावपक्षे रूपम्। निगच्छन्ति तत्रेति—निगम इति-नगरीत्यर्थः, निगमः पन्थाः, निगच्छत्यनेनेत्यभिधानचिन्तामणिः, निगच्छन्ति तत्र तेन वा निगमः पुटभेदनं शास्त्रं चेति पारायणम्। वक्तीति–बकः—न्यङ्क्वादि-त्वात् कत्वं वबयोरैक्यं च, ननु करणाधिकरणयोरस्मिन् सूत्रे निपातनं तथापि कथं कर्तरि वक्तीति वाक्यमिति चेत्? अत्राह—बाहुलकात् कर्त-रीति। भज्यतेऽनेनास्मिन् वा--भगः, 'भजीं सेवायाम्' इति धातुः, 'क्तेऽनि०' ।४।१।१११॥ इति जस्य गः, भज्यते आश्रीयतेऽनेन कृत्वा लोकै-रालोक इति भगः सूर्यः, भज्यतेऽनेनास्मिन् वा भगः स्त्रीचिह्नम्, पुंसि क्लीबे चायम्, ननु घान्तस्य पुंस्त्वानुशासनात् कथं क्लीबत्वमित्याह-

बाहुलकाद्-भगमिति । 'कष हिंसायाम्' कषत्यस्मिन्निति--कष:—शाण: । आगत्य कषत्यस्मिन्निति—आकष: । निकषत्यस्मिन्निति -निकष:-शाण: ॥१३१॥

व्यञ्जनाद् घञ् ।५।३।१३२।

व्यञ्जनान्ताद्धातोः पुन्नाम्नि करणाधारयोर्घञ् स्यात् । वेदः ॥१३२॥

व्यञ्जना०—घस्यापवाद: । विदन्त्यनेन विन्दति विन्दते वा–वेद:, अत्र विग्रहवाक्ये क्रमेण 'विदक् ज्ञाने' 'विद्लृंती लाभे' 'विदिंप् विचारणे' इति धातु: ॥१३२॥

अवात् तृस्तृभ्याम् ।५।३।१३३।

आभ्यामवपूर्वाभ्यां करणाधारयोः पुन्नाम्नि घञ् स्यात् । अवतारः । अवस्तारः ॥१३३॥

अवात्०–। अवतरन्त्यनेनास्मिन् वेति–अवतार:, 'तृ प्लवन-तरणयो:, इति प्लवनं मज्जनम्, तरणमुल्लङ्घनम्, नद्यादीनामवतरणमार्गोऽवतार: । 'स्तृ ग्श् आच्छादने' अवस्तृणन्त्यनेनास्मिन्निति वा–अवस्तारो जवनिका तृ स्तृभ्यामिति द्विवचनं करणाधार इति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥१३३॥

न्यायावायाध्यायोद्यावसंहारावहाराधारदारजारम् ।५।३।१३४।

एते पुन्नाम्नि करणाधारयोर्घञन्ता निपात्यन्ते । न्यायः । अवायः । अध्यायः । उद्यावः । संहारः । अवहारः । आधारः । दाराः । जारः ॥१३४॥

न्याया०—। स्वरान्तार्थ आरम्भः। निपूर्वस्येणो नीयतेऽनेनेति—न्यायः। एत्य वयन्ति वायन्ति वा तत्रेत्यावायः। अधीयतेऽनेनास्मिन् वा—अध्यायः। उद्यु वन्ति तेन तस्मिन् वा-उद्यावः। संहरन्ति तेन--संहारः। अवहरन्ति तेन तस्मिन् वा--अवहारः। आध्रियते तत्रेत्याधारः। दीर्यन्ते एभिरिति-दाराः। जीर्यतेऽनेनेति—जारः ॥१३४॥

उदङ्कोऽतोये ।५।३।१३५।

उत्पूर्वादञ्चेः पुन्नाम्नि करणाधारयोर्घञ् स्यात्, नचेत्तोयविषयो धात्वर्थः। तैलोदङ्कः। अतोय इति किम्। उदकोदञ्चनः ॥१३५॥

उदङ्को०-न चेत् तोयविषयो धात्वर्थ इति-जलं चेत् तेन भाजनेन नोदच्यते =न व्यापार्यते इत्यर्थः। 'अञ्चू गतौ च' चात् पूजायाम् तैलमुदच्यते उद्ध्रियतेऽनेनास्मिन् वेति,तैलोदङ्कः, चर्ममयं भाण्डमित्यर्थः। उदच्यतेऽनेन उदङ्कः, तैलस्योदङ्कः-तैलोदङ्कः 'कृति' ।३।१।७७। इति षष्ठीसमासः, घञि 'क्तेऽनिट':० ।४।१।१११। इति चस्य कत्वम् 'म्नां०' ।१।३।३९। इति नस्य ङत्वं चात्रावसेयम्। उदकमुद च्यतेऽनेन पात्रेणेति वाक्यम्, अत्र 'करणाधारे' ।५।३।१२९। इत्यनडेव भवतीति भावः। 'व्यञ्जना०' ।५।३।१३२। इति सिद्धे तोये प्रतिषेधार्थं वचनम्। नह्युत्पूर्वस्याञ्चतेर्घञि घे वा रूपे विशेषोऽस्तीति घञि प्रतिषिद्धे घे सति विशेषाभावेन प्रतिषेधस्य वैयर्थ्यं स्यादिति तत्सार्थक्याय घोऽपि न भवति ॥१३५॥

आनायो जालम् ।५।३।१३६।

आङ्पूर्वान्नियः कारणाधारे पुन्नाम्नि जालाऽर्थे घञ् स्यात्। आनायो मत्स्यानाम् ॥१३६॥

आनायो जालम्—आनयन्ति तेनेति—आनायो मत्स्यानामिति ॥१३६॥

खनो डघरेकेकवकघञ्च ।५।३।१२७।

खनेः पुन्नाम्नि करणाधारयोरेते घञ्च स्युः । आखः । आखरः । आखनिकः । आखनः । आखामः ।।३७।।

खनो०—'खनूग् अवदारणे' अतः आसायते आखन्यते वाऽनेनास्मिन् वेति- आख इत्यादयः । एते खनित्रवचना इति कौमुदीकारः ।।३७।।

इकिस्तिव्स्वरूपार्थे ।५।३।१३८।

धातोः स्वरूपेऽर्थे च वाच्ये एते स्युः । भञ्जिः । कृधिः । वेत्तिः । अर्थे—यजेरङ्गानि । भुजिः क्रियते । पचतिः परिवर्त्तते ।।१३८।।

किश्तिव०—भञ्जिरिति—अत्र प्रत्ययः, भञ्ज्धातुरित्यर्थः, कृधिरिति- कृधधातुरित्यर्थः, अत्र किप्रत्ययः । 'विदक् ज्ञाने' इति 'विद्धातोः श्तिवि चपान्त्यगुणे च वेत्तीति, विद्धातुरित्यर्थः यजेरङ्गानीति-यजधातोरिप्रत्यये कित्वाभावात् यृदभावे च यजेरिति—देवपूजादेरित्यर्थः । भुजिरिति-अत्र किप्रत्ययः, पालनमभ्यवहारो वेत्यर्थः । 'डुपचींष् पाके' इति श्तिवि शित्त्वात् शवि विकरणे च पचतिरिति—पाक इत्यर्थः, अत्र बाहुलकाद् भावेऽपि शव् क्यभावश्च भवति । क्वचिदेभ्यो विनापि स्वरूपत एव धातुनिर्देशो यथा पूर्वसूत्रे खन इति, तत्र बाहुलकात् तदभावः समाधेयः, अनुकरणत्वेन भेदविवक्षायाऽप्रवृत्तिर्वाऽस्तु ।।१३८।।

दुःस्वीषतः कृच्छ्राकृच्छ्रार्थात्खल् ।५।३।१३९।

कृच्छ्रवृत्तेर्दुरोऽर्थादकृच्छ्रवृत्तिभ्यां च स्वीषद्भ्यां पराद्धातोः खल् स्यात् । दुःशयम् । दुष्करः । सुशयम् । सुकरः ईषच्छयम् । ईषत्करः । कृच्छ्राकृच्छ्रार्थ इति किम् । ईषल्लभ्यं धनम् ।।१३९।।

दुःस्वीषतः—कृच्छ्—दुःखम् । अकृच्छ्-सुखम् । न चात्र 'दुर्' शब्दस्य

सुखार्थत्वं संभवति, नवा सुशब्दस्य दुःखार्थत्वम्, अर्थौ च द्वावुक्तौ शब्दास्त्रयः, तत्र कस्य शब्दस्य किं विषयत्वमिति यद्यपि न्यायेन निर्णेतुमशक्यम्, तथापि स्वयोग्यताबलादेव कस्य किमर्थविषयकत्वमिति निश्चेयमित्याह्–कृच्छ्र—वृत्तेर्दुरोऽर्थादकृच्छवृत्तिभ्यां च स्वीपद्याभिति—अर्थादित्युभयान्वयि, अर्थात्—तदर्थाभिधानयोग्यताया इत्यर्थः, तथा च यतो दुरः कृच्छ्रार्थाभिधानयोग्यताऽतस्तदर्थविषयत्वं तस्य, सुशब्दस्य सुखार्थाभिधानयोग्यतेति तदर्थपरत्वं तस्य. ईषतश्च यद्यपि नोभयमध्ये कस्याप्यर्थस्याभिधाने योग्यता दृष्टपूर्वा,तथापि दुःखमल्पमपि बहु विज्ञायते, सुखं महदपि स्वल्पं विज्ञायत इति लौकिकानुभवबलेन तस्य सुखविषयत्वं कल्पयितुं शक्यत इति तस्याप्यकृच्छार्थपरत्वमेव निर्णेयमिति भावः। 'तत् साप्या०' ।३।३।२१। इत्यनेन खलर्थस्य, भावकर्मणोर्विधिः । दुःशयमि त्यादि,—दुःखेन शय्यते, दुःखेन क्रियते इत्यादि वाक्यं विज्ञेयम् । दुःशयम्, सुशयम्, ईषत्शयमित्यत्र भावे खल्, धातोरकर्मकत्वात्, अन्यत्र कर्मणि धातोः सकर्मकत्वात् । ईषल्लभ्यं धनमिति-अल्पं लभ्यमित्यर्थ, अत्र 'शकितकि'० ।५।१।२८। इत्यनेन पवर्गान्तलक्षणो यः कृत्यादीनामपवादः । खकार उत्तरत्र मागमार्थः, लकारः 'खलर्थाश्च' इत्यत्र विशेषणार्थः । इह स्त्रीप्रत्ययात् प्रभृति असरूपविधेरभावात् स्पर्धे 'अलः स्त्रीखलनाः, स्त्रियास्तु खलनौ' परत्वात् भवतः । तत्र 'चयः, जयः, लवः, इत्यादावलोऽवकाशः, 'कृतिः, हृति' इत्यादौ स्त्रीप्रत्ययस्य, 'चितिः, स्तुतिः, इत्यादौ तूभयं प्राप्नोति, अलोऽविशेषेणाभिधानात्तत्र परत्वात् स्त्रीप्रत्ययो भवति । तथा 'दुर्भेदः, सुभेदः इत्यादौ खलोऽवकाशः, अलस्तु पूर्व एव, दुश्चयम्, सुचयम्, दुर्लवम्' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वात् खल् भवति । तथा इध्मव्रश्चनः, पलाशच्छेदनः इत्यादावनस्यावकाशः, अलस्तु पूर्वक एव, 'पलाशशातनो विलवनः' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वादनो भवति । एवं 'हृतिः, कृतिः' इत्यादौ स्त्रीप्रत्ययस्यावकाशः 'दुर्भेदः, सुभेदः' इत्यादौ खलः, 'दुर्भेदा, सुभेदा' इत्यादावुभयप्राप्तौ परत्वात् खल् भवति । तथा 'इध्मव्रश्चनः पलाशच्छेदनः' इत्यादावनस्यावकाश, कृतिरित्यादौ स्त्रीप्रत्यस्य, 'शक्तुधानी, तिलपिडनी' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वादनडेव भवति ।

च्व्यर्थे कर्त्राप्याद् भूकृगः ।५।३।१४०।

कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेभ्यो दुःस्वीषद्भ्यः पराभ्यां च्व्यर्थवृत्तिकर्तृकर्मवाचिभ्यां यथासङ्ख्यं भूकृग्भ्यां परः खल् स्यात् । दुराढ्यंभवम् । स्वाढ्यंभवम् । ईषदाढ्यंभवं भवता । दुराढ्यंकरः । स्वाढ्यंकरः । ईषदाढ्यंकरश्चैत्रस्त्वया । च्व्यर्थं इति किम् । दुराढ्येन भूयते ॥१४०॥

च्व्यर्थे०=च्व्यर्थवृत्तिकर्तृकर्मवाचिभ्यामित्यत्र पराभ्यामिति शेषः, तेन 'च्व्यर्थवृत्तिकर्तृकर्मवाचिभ्यां पराभ्यां यथासंख्यं भूकृग्भ्या मिति अर्थो लभ्यते । दुःखेनानाढ्येनाढ्येन भूयत इति=दुराढ्यंभवं भवता । सुखेनानाढ्येनाढ्येन भूयते स्वाढ्यंभवम्, ईषदाढ्यंभवं भवता । दुःखेनानाढ्य आढ्यः क्रियते—दुराढ्यंकरश्चैत्रस्त्वया । सुखेनानाढ्यः आढ्यः क्रियते=स्वाढ्यंकरः, ईषदाढ्यंकरश्चैत्रस्त्वया । सर्वत्र 'खित्यनव्यया०' ।३।२।१११। इति मागमः ॥१४०॥

शासूयुधिदृशिधृषिमृषातोऽनः ।५।३।१४१।

कृच्छ्राकृच्छ्रार्थदुःस्वीषत्पूर्वेभ्य एभ्य आदन्ताच्च धातोरनः स्यात् । दुःशासनः । सुशासनः । ईषच्छासनः । एवं दुर्योधनः । सुयोधनः । ईषद्योधनः । दुर्दर्शनः । दुर्धर्षणः । दुर्मर्षणः । दुरुत्थानम् ॥१४१॥

शासू०=। खलोऽपवादोऽयं योगः । 'तत् साप्या०' ।३।३।२१। इति भावकर्मणोरयं विधिः । दुःखेन शिष्यते इति=दुःशासनः । सुखेन शिष्यते=सुशासनः, ईषच्छासनः ॥१४१॥

❀ इति पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः । ❀

शास्त्रो ना शब्द काजे, सकल जगत नी साथ झझूमे ।
भक्तो जेना सदाये, गुरुवर कही, पाद अंगूठ चूमे ॥
व्याख्याता विश्व ना ओ, जिनवचन कही सद्य संसार तारो ।
सूरि श्री रामचन्द्र ! प्रवरगुणनिधे ! वन्दना ने स्वीकारो ॥

अथ पञ्चमाध्याये चतुर्थः पादः

सत्सामीप्ये सद्वद्वा ।५।४।१।

समीपमेव सामीप्यं, वर्त्तमानस्य सामीप्ये भूते भविष्यति चार्थे वर्त्तमानाद्धातोर्वर्त्तमाना इव प्रत्यया वा स्युः । कदा चैत्र । आगतोसि । अयमागच्छामि । आगच्छन्तमेव मां विद्धि । पक्षे । अयमागमम् । एषोऽस्म्यागतः । कदा चैत्र गमिष्यसि । एष गच्छामि । गच्छन्तमेव मां विद्धि । पक्षे । एष गमिष्यामि । गन्तास्मि । गमिष्यन्तमेव मां विद्धि ॥१॥

सत्सामीप्ये०—। सामीप्यमिति—अत्र 'भेषजादिभ्यष्ट्यण्' ।७।२।१६४। इति स्वार्थे ट्यण् । 'वर्तमाना इव प्रत्यया वा' स्युरिति—कोऽर्थः ? उच्यते—'सति' ।५।२।१९। इति सूत्रादारभ्यापादपरिसमाप्तेर्विहिताः' स्युरित्यर्थः । अयमागममिति—'गम्लृ गतौ' अतो वर्तमान—समीपे भूतेऽद्यतन्या अम्प्रत्ययः, 'लृदिद्० ।३।४।६४। इत्यङ् च । एषोऽस्म्यागत इत्यत्र गत्यर्थत्वाद् भूते कर्तरि क्तः, धातोरनिट्त्वाच्च नेट्, प्रत्ययस्य कित्वाच्च मलोपः । कदा चैत्र ! गमिष्यसीति—भविष्यन्त्याः स्यसिप्रत्ययः, 'गमोऽनात्मने' ।४।४।५१। इति चेट् ॥१॥

भूतवच्चाशंस्ये वा ।५।४।२।

अनागतस्यार्थस्य प्राप्तुमिच्छा आशंसा तद्विषय आशंस्यः, तदर्थाद्धातोर्भूतवत्सद्वच्च प्रत्यया वा स्युः । उपाध्यायश्चेदागमत् ।

एते तर्कमध्यगीष्महि । उपाध्यायश्चेदागच्छति । एते तर्कमधीमहे । पक्षे । उपाध्यायश्चेदागमिष्यत्यागन्ता वा । एते तर्कमध्येष्यामहे । अध्येतास्महे वा । आशंस्य इति किम् । उपाध्याय आगमिष्यति । तर्कमध्येष्यते मैत्रः ॥२॥

भूतवच्चा०—। आशंस्यस्य भविष्यत्त्वादयमतिदेशः । गम्धातोरद्यतन्याः प्रथमत्रिकैकवचनेऽङि—आगमत् । 'इङ्क् अध्ययने' नित्यमधिपूर्वः, अतोऽद्यतन्यास्तृतीयत्रिकबहुवचने महिप्रत्यये सिचि 'वाऽद्यतनी०' ।४।४।२८। इति गीङादेशे ङित्त्वाद्गुणाभावे च—अध्यगीष्महि ॥२॥

क्षिप्राशंसार्थयोर्भविष्यन्तीसप्तम्यौ ।५।४।३।

क्षिप्रार्थाशंसार्थयोरुपपदयोराशंस्यार्थाद्धातोर्यथासङ्ख्यं भविष्यन्तीसप्तम्यौ स्याताम् । उपाध्यायश्चेदागच्छति । आगमत् । आगमिष्यति । आगन्ता । क्षिप्रमाशु एते सिद्धान्तमध्येष्यामहे । उपाध्यायश्चेदागच्छति । आगमत् । आगमिष्यति । आगन्ता वा आशंसे संभावये युक्तो ऽधीयीय ॥३॥

क्षिप्रा०—। यथासंख्यमिति—क्षिप्रार्थे भविष्यन्ती, आशंसावाचिनि चोपपदे सप्तमीत्यर्थः । 'भूतवच्चा०' ।५।४।२। इत्यस्मिन् प्राप्तेऽस्यारम्भः । क्षिप्रार्थे उपपदे पूर्वसूत्रवारणाय क्षिप्रार्थे नेति योगे वक्तव्ये भविष्यन्तीवचनं श्वस्तनीविषयेऽपि भविष्यन्ती यथा स्यादित्येवमर्थम् । तेन उपाध्यायश्चेच्छ्वः शीघ्रमागमिष्यति, एते श्वः क्षिप्रमध्येष्यामहे' इत्यत्र भविष्यन्ती सिद्धा । उपाध्यायश्चेदागच्छति, आगमत् इति—पूर्वेण वर्तमाना अद्यतनी च । आगमिष्यति, आगन्तेति—पूर्वस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे भविष्यन्ती श्वस्तनी च । क्षिप्रमाशु एते सिद्धान्तमध्येष्यामहे इति—अत्र क्षिप्रार्थे उपपदेऽनेन भविष्यन्ती । आशंसे संभावये युक्तोऽधीयीयेति-अत्राशंसायोगेऽनेन सप्तम्यामधीयीयेति । क्षिप्रवाचिनि आशंसावाचिनि चोपपदे सप्तम्येव भवति शब्दतः परत्वात्—आशंसे क्षिप्रमधीयीय ॥३॥

सम्भावने सिद्धवत् ।५।४।४।

हेतोः शक्तिश्रद्धानं सम्भावनं, तस्मिन्विषयेऽसिद्धेऽपि वस्तुनि सिद्धवत् प्रत्ययाः । समये चेत्प्रयत्नोऽभूदुदभूवन्विभूतयः ।।४।।

सम्भावने०=। सम्भावनं व्याचष्टे=हेतोः शक्ति श्रद्धानमिति=कारणे कार्योत्पादशक्तेर्विश्वास इति भावः । समये चेत् प्रयत्नोऽभूद् उदभूवन् विभूतय इति=यद्यपि प्रयत्नस्याप्यनिष्पन्नत्वमेवेति कारणसत्ताप्यनिश्चिता, तथापि कारणस्यापि कारणे सति कारणस्यापि सम्पन्नत्वं सम्भाव्यते, प्रयत्नकारणभूताया इच्छायाः सत्त्वेन प्रयत्नस्यापि सम्पन्नत्वेन सम्भावना । तथा च विभूत्युद्भवे कारणभूतस्य प्रयत्नस्य विभूत्युद्भावने विश्वास इह प्रयोक्तुर्विवक्षित इति ।।४।।

नानद्यतनः प्रबन्धासत्त्योः ।५।४।५।

धात्वर्थस्य प्रबन्धे आसत्तौ च गम्यायां धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो न स्यात् । यावज्जीवं भृशमन्नमदात्, दास्यति वा । येयं पौर्णमास्यतिक्रान्ता एतस्यां जिनमहः प्रावर्त्तिष्ट । येयं पौर्णमास्यागामिन्येतस्यां जिनमहः प्रवर्त्तिष्यते ।।५।।

नाऽनद्यतनः=। प्रबन्धः सातत्यम् । आसत्तिः सामीप्यम्, तच्च कालतः, सजातीयेन कालेनाव्यवहितकालतेति भावत् । भूतानद्यतने भविष्यदनद्यतने श्वस्तनी विहिता तयोः प्रतिषेधोऽनेन सूत्रेण । यावज्जीवं भृशमन्नमदात्, दास्यति वेति=दाधातोरद्यतन्याः सिचि 'पिबेति'० ।४।३।६६। इति तस्य लोपे 'अदात्' इति, अत्रान्नदानस्य जीवनान्तर्गतदर्शादिकालसमकालाव्यवहितत्वं गम्यम्, न तु सर्वकार्यपरित्यागपूर्वकमन्नदानमात्रपरत्वमसम्भवात्, एवमन्यत्रापि योज्यम्, एतौ प्रबन्धे उदाहरणौ ज्ञेयौ, पूर्वं भूतानद्यतने परं भविष्यदनद्यतने । आसत्तावुदाहरति=येयमित्यादि, 'वृतूङ् वर्तने' प्रपूर्वादतोऽद्यतनीते सिचि इटि गुणेऽटि पत्वे च—प्रावर्त्तिष्ट ।।५।।

एष्यत्यवधौ देशस्यार्वाग्भागे ।५।४।६।

देशस्य योऽवधिस्तद्वाचिन्युपपदे देशस्यैवार्वाग्भागे य एष्यन्नर्थस्तद्वृत्तेर्धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो न स्यात् । योऽयमध्वा गन्तव्य आ शत्रुञ्जयात् तस्य यदवरं वलभ्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे । एष्यतीति किम् । यो ऽयमध्वा अतिक्रान्त आ शत्रुञ्जयात्तस्य यदवरं वलभ्यास्तत्र युक्त्वाद् द्विरध्यैमहि । ऽवधाविति किम् । योयमध्वा निरवधिको गन्तव्यस्तस्य यदवरं वलभ्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे । अर्वाग्भाग इति किम् योयमध्वा गन्तव्य आ शत्रुञ्जयात्तस्य यत्परं वलभ्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे । ॥ ६ ॥

एष्यत्यवधौ०=। अप्रबन्धार्थमनासत्त्यर्थं च वचनम् । यद्यप्यनद्यतन इति प्रकृतं तथापीहष्यतीतिवचनात् श्वस्तन्या एव निषेधः । योऽयमध्वा गन्तव्य इत्यादि=शत्रुञ्जयावधिकमार्गस्य यदवरं वलभ्याः सकाशात् तत्रेत्याद्यर्थः, 'भुजंप् पालनाभ्यवहारयोः' भुनजोऽत्राणे' ।३।३।३७। इत्यात्मनेपदे भविष्यन्त्याः ष्यामहेप्रत्यये जस्य 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति गत्वे 'अघोषे०' ।१।३।५०। इति गस्य कत्वे 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति सस्य षत्वे च='भोक्ष्यामहे इति, द्विरिति सुच्प्रत्ययान्तम्, द्वौ वाराविरत्यर्थः । गन्तव्य इत्यनेन भविष्यत्कालतां दर्शयति, तस्य यदवरमित्यनेनाध्वनो विभागम्, द्विरित्यनेन क्रियाप्रबन्धाभावम् ॥६॥

कालस्यानहोरात्राणाम् ।५।४।७।

कालस्य योऽवधिस्तद्वाचिन्युपपदे कालस्यैवार्वाग्भागे य एष्यन्नर्थस्तद्वृत्तेर्धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो न स्यात् । न चेत्सोऽर्वाग्भागोऽहोरात्राणाम् । योऽयमागामी संवत्सरः तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र जिनपूजां करिष्यामः । अनहोरात्राणामिति

किम् । योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ताद् द्विरध्येतास्महे ।।७।।

कालस्या०—। आग्रहायण्या इति—अग्रं हायनस्येति 'द्वित्रिचतु०' ।३।१।५६। इति समासः, 'पूर्वपद०' ।२।३।६४। इति णत्वम् अग्रहायणमेव 'प्रज्ञादित्वादणि ङ्यां—आग्रहायणी, मार्गशीर्षादारभ्य संवत्सरप्रवृत्तेः, मृगशीर्षपूर्णिमेत्यर्थः । योगविभाग उत्तरार्थः ।।७।।

परे वा ।५।४।८।

कालस्य योऽवधिस्तद्वाचिन्युपपदे कालस्यैव परेभागे ऽनहोरात्रसम्बन्धिनि य एष्यन्नर्थस्तद्वृत्तेर्धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो वा न स्यात् । आगामिनो वत्सरस्याग्रहायण्याः परस्ताद् द्विः सूत्रमध्येष्यामहे । अध्येतास्महे वा ।।८।।

परेवा०—। 'देशस्यार्वाग्भागे' इति परद्वयवर्जं पूर्वसूत्रद्वयमनुवर्तते, तथा च योऽर्थ उपपन्नस्तमाह—कालस्य योऽवधिरित्यादिना । प्रबन्धासत्तिविवक्षायामपि परत्वादयमेव विकल्पः—आगामिनः संवत्सरस्याग्रहायण्याः परस्तादविच्छिन्नं सूत्रमध्येष्यामहे, अध्येतास्महेवा ।।८।।

सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तौ क्रियातिपत्तिः ।५।४।९।

सप्तम्या अर्थो निमित्तं हेतुफलकथनादिसामग्री, कुतश्चिद्वैगुण्यात्क्रियायाऽनभिनिवृत्तौ क्रियातिपत्तौ सत्यामेष्यदर्थाद्धातोः, सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तिः स्यात् । दक्षिणेन चेदयास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत् ।।९।।

सप्तम्यर्थे०—। 'सप्तम्यर्थे' इति व्याख्याति–सप्तम्या अर्थो निमित्तं हेतुफलकथनादिसामग्रीति—सप्तमीपदेन न स्यादिर्ग्राह्या, अपि तु 'यात्,

मालायां, कुत्०' ।३।३।७। इति परिभाषिता त्यादिविभक्तिर्ग्राह्या, अर्थपदेन न धनादिग्राह्यमपितु निमित्तम्, 'वर्त्स्यति०' ।५।४।२५। इति हेतुफलकथने सप्तमी विधीयते, आदिपदेन 'कामोक्ता०' ५।४।२६। इत्यादिसूत्रोक्तसप्तमीनिमित्तस्य संग्रहः। दक्षिणेन चेद् अयास्यत् न शकटं पर्याभविष्यदिति- अत्र दक्षिणगमनं हेतुरपर्यभवनं फलम्, तयोः कुतश्चित् प्रमाणाद् भविष्यन्तीमनभिनिवृत्तिमवगम्यैवं प्रयुज्यते ॥६॥

भूते ।५।४।१०।

भूतार्थाद्धातोः क्रियातिपत्तौ सत्यां सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तिः स्यात्। दृष्टो मया तव पुत्रोऽन्नार्थी चङ्क्रम्यमाणः, अपरश्चातिथ्यर्थी, यदि स तेन दृष्टोऽभविष्यदुताभोक्ष्यत। अभ्यमोक्ष्यत ॥१०॥

'सप्तम्युता०' ।५।४।२१। इत्यारभ्य सप्तम्यर्थेऽनेन विधानम्। दृष्टो मया तव पुत्रोऽन्नार्थीत्यादि— पुत्रोऽन्नार्थी, अपरश्च कश्चनातिथ्यर्थी, पृथक् चङ्क्रम्यमाणौ, तयोर्यदि परस्परं मेलनं स्यात्, स्यादवश्यं भवतः पुत्रो भुक्तवान्, स चातिथिलाभेन कृतकृत्यः स्यात्, किन्तु मार्गभेदेन तयोर्गमनात् क्रिया न सम्पन्नेति कथनाभिप्रायः, तथा च हेतुहेतुमद्भावविवक्षया न तत्र सप्तमी, किन्त्वनेन क्रियातिपत्तिनिमित्ता क्रियातिपत्तिरेव। दृष्टोऽभविष्यदित्यत्राश्रद्धाया गम्यमानत्वात् 'जातु०' ।५।४।१७। इति सप्तमीनिमित्तम्। उताभोक्ष्यतेत्यत्र च 'सप्तम्युता०' ।४।५।२१। इति सप्तमीमित्तम् ॥१०॥

वोतात्प्राक् ।५।४।११।

१ 'सप्तम्युताप्योर्बाढे' इत्यत्र यदुतशब्दसंकीर्त्तनं ततः प्राक् सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तौ भूतार्थाद् धातोर्वा क्रियातिपत्तिः स्यात्। कथं नाम संयतः सन्नऽनागाढे तत्र भवानाधायकृतमसेविष्यत, धिग्गर्हामहे। पक्षे। कथं सेवेत ? कथं सेवते ? धिग्गर्हामहे। उतात्प्रागिति

- किम् । कालो यदभोक्ष्यत भवान् ॥११॥

बोधात्प्राक् । कथं नाम संयत इत्यादि–संयतः सन्–माधुकरीं वृत्तिं भजमानो मुनिजनः सन्, अनागाढे–प्रबलकारणाभावेऽपि, तत्रभवान्–पूज्यः, आधाय कृतमिति 'अव्ययं प्रवृद्धादिभिः' ।४।३।४८। इति समासः, भवन्तं मनसिकृत्य भवत्कृते कृतमाहारमिति यावत्, 'सेवृङ् सेवने' इत्यस्य 'असेविष्यत' इति, 'संयतःसन्'इति कथनेन तस्य तादृशकार्यकरणस्य बुद्धिपूर्वकत्वं ध्वनयति, अत एव गर्हा, अबुद्धिकृते हि कर्मणि क्षमा कर्तुं शक्यते, न बुद्धिकृते । 'कथमि०' ।५।४।१३। इति सप्तमीनिमित्तमत्र । कालो यदभोक्ष्यत भवानिति–'सप्तमी यदि' ।५।४।३४। इति सप्तमीनिमित्तस्योतात्परत्वेनास्याप्रवृत्त्या 'भूते' ।५।४।१०। इति क्रियातिपत्तिः ॥११॥

क्षेपेऽपिजात्वोर्वर्त्तमाना ।५।४।१२।

क्षेपेगम्येऽपिजात्वोरुपपदयोर्धातोर्वर्त्तमाना स्यात् । अपितत्र भवान् जन्तून् हिनस्ति, जातु तत्रभवान् भूतानि हिनस्ति, धिग्गर्हामहे ॥१२॥

क्षेपे०—। भूत इति निवृत्तम् । क्षेपो गर्हा । कालसामान्ये विधानात् कालविशेषे विहिता अपि प्रत्ययाः परत्वादनेन बाध्यन्ते । अपि तत्र भवानित्यादि–इह सप्तमीनिमित्ताभावात् क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्नोदाह्रियते ॥१२॥

कथमि सप्तमी च वा।५।४।१३।

कथं शब्दे उपपदे क्षेपे गम्ये धातोः सप्तमी वर्त्तमाना च वा स्यात् । कथं नाम तत्रभवान् मांसं भक्षयेत्, भक्षयति वा, गर्हामहे अन्याय्यमेतत् । पक्षे । अबभक्षत् । अभक्षयत् । भक्षयांचकार । भक्षयिता । भक्षयिष्यति । अत्र सप्तमी निमित्तम-

स्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिः । कथं नाम तत्र-भवान्मांसमभक्षयिष्यत् । पक्षे यथाप्राप्तम् । भविष्यति तु क्रियातिपतने नित्यमेव स्या । कथंनाम तत्रभवान्मांसमभक्ष-यिष्यत् ॥१३॥

कथमि०—। अद्यन्तयाम्-अबभक्षत्, ह्यस्तन्याम्–अभक्षयत्, परोक्षायाम्–भक्षयाञ्चकार, श्वस्तन्याम्—भक्षयिता, भविष्यन्त्याम्-भक्षयिष्यति। क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिरिति—'वोतात् प्राक्' ।५।४।११। इति वा क्रियातिपत्तिरित्यर्थः । नित्यमेव सेति—'सप्तम्यर्थे०' ।५।४।६। इति नित्य-मेव क्रियातिपत्तिरित्यर्थः ॥१३॥

किंवृत्ते सप्तमीभविष्यन्त्यौ ।५।४।१४।

किंवृत्ते उपपदे क्षेपे गम्ये सप्तमीभविष्यन्त्यौ स्याताम् । किं तत्रभवाननृतं ब्रूयाद् वक्ष्यति वा । को नाम कतरो नाम यस्मै तत्रभवाननृतं ब्रूयात्, वक्ष्यति वा ॥१४॥

किंवृत्ते०—। सर्वविभक्त्यपवादः अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रिया-तिपतने वा क्रियातिपत्तिः–किं तत्र भवाननृतमवक्ष्यत् पक्षे ब्रूयाद् वक्ष्यति च । भविष्यति तु नित्यम्-तत्र भवाननृत मवक्ष्यत ॥१४॥

अश्रद्धामर्षेऽन्यत्रापि ।५।४।१५।

अकिंवृत्ते किंवृत्ते चोपपदे अश्रद्धामर्षयोर्गम्ययोः सप्तमीभविष्य-न्त्यौ स्याताम् । न श्रद्दधे न सम्भावयामि तत्र भवान्नामादत्तं गृह्णीयात् । गृहीष्यति वा, न श्रद्दधे किं तत्रभवानदत्तमाद-दीत । आदास्यते वा । न मर्षयामि, न क्षमे तत्रभवान्नामादत्तं गृह्णीयात्, ग्रहीष्यति वा ॥१५॥

अश्रद्धा०-क्षेप इति निवृत्तम । अश्रद्धा=असंभावना । अमर्षोऽक्षमा । अन्यत्रेति पदं व्याचष्टे-अकिंवृत्ते इति । सर्वविभक्त्यपवाद:। वचनभेदाद् यथासंख्यं नास्ति । न श्रद्दधे न सम्भावयामि इति-अत्र 'सति' ।५।१।१८। इति वर्तमाना, श्रत्पूर्वस्य दधातेः श्रद्दधे,सम्पूर्वस्य ण्यन्तस्य भवते:सम्भावयामि, द्वौ अऽपि समानार्थौ,नञा योगादसम्भावना गम्यते। तत्रभवानित्यादि-अत्रानेन सप्तमीभविष्यन्त्यौ, धातुश्च 'ग्रहीश् उपादाने' इति, अकिंवृत्ते प्रयोगः अथ किंवृत्ते प्रयोग माह-न-श्रद्दधे किं तत्र भवान् अदत्तेत्यादि अत्र दाधातुः। अमर्षे उदाहरणा-माह-न मर्षयामीत्यादिना ॥१५॥

किंकिलास्त्यर्थयोर्भविष्यन्ती ।५।४।१६।

किंकिलेऽस्त्यर्थे चोपपदेऽश्रद्धामर्षयोर्गम्ययोर्भविष्यन्ती स्यात् । न श्रद्दधे, न मर्षयामि किं किल नाम तत्रभवान्परदारानुपकरिष्यते, न श्रद्दधे,मर्षयामि अस्ति नाम भवति नाम तत्रभवान्परदारानुपरिष्यते ॥१६॥

किंकिला०-। सप्तम्यपवादः । किंकिल इति-किंकिलेति शब्दसमुदाये उपपदे इत्यर्थः, एतेन किंकिलशब्दयोः प्रत्येकमुपपदत्वं निरस्यति, कस्मात् पुनस्तयोश्च प्रत्येकमुपपदत्वं न भवति ? केवलकिंशब्दस्याश्रद्धामर्षयोर्वृत्त्यसम्भवात् समुदायस्य च सम्भवात् । वचनभेदादश्रद्धामर्ष इति यथा संख्यं नास्ति । न श्रद्दधे इत्यादि-उपकरिष्यत इति 'गन्धना०' ।३।३।७६। इतिसूत्रेण साहसे आत्मनेपदम्, अत्र सप्तमीनिमित्तं नास्तीति क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्न भवति ॥१६॥

जातुयद्यदायदौ सप्तमी ।५।४।१७।

एषूपपदेष्वश्रद्धामर्षयोः सप्तमी स्यात् । न श्रद्दधे, न क्षमे जातु तत्रभवान् सुरां पिबेत् ! एवं यत्, यदा, यदि सुरां पिबेत् ॥१७॥

जातुयदृ०—। भविष्यन्त्यपवादः। अत्र सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिः—न श्रद्दधे न क्षमे जातु तत्र भवान् सुरामपास्यत्, पक्षे—पिबेत्। भविष्यति तु नित्यम्—जातु तत्र भवान् सुरामपास्यत् ॥१७॥

क्षेपे च यच्चयत्रे ।५।४।१८।

यच्चयत्रयोरुपपदयोः क्षेपेऽश्रद्धामर्षयोश्च गम्ययोः सप्तमी स्यात्। धिग्गर्हामहे यच्च यत्र वा तत्र भवानस्मानाक्रोशेत्। न श्रद्दधे न क्षमे यच्च यत्र वा तत्र भवान्परिवादं कथयेत् ॥१८॥

अश्रद्धामर्षयोर्भ—विष्यन्त्याः, क्षेपे तु सर्वविभक्तीनामपवादः। अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिर्भवति-धिग् गर्हामहे न श्रद्दधे न क्षमे—यच्च यत्र वा तत्रभवानस्मानाक्रोक्ष्यत्, पक्षे-आक्रोशेत्। भविष्यति तु नित्यम्-धिग् गर्हामहे, न श्रद्दधे न क्षमे—यच्च यत्र वा तत्रभवान् परिवादमकथयिष्यत् ॥१८॥

चित्रे ।५।४।१९।

आश्चर्ये गम्ये यच्चयत्रयोरुपपदयोः सप्तमी स्यात्। चित्रमाश्चर्यं यच्च यत्र वा तत्रभवानकल्प्यं सेवेत ॥१९॥

चित्रे—सर्वविभक्त्यपवादः। अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिर्भवति—चित्रं यच्च यत्र वा तत्र भवानकल्प्यमसेविष्यत्, पक्षे सेवेत। भविष्यति तु नित्यम्—चित्रं यच्च यत्र वा तत्रभवानकल्प्यमसेविष्यत ॥१९॥

शेषे भविष्यन्त्ययदौ ।५।४।२०।

यच्चयत्राभ्यामन्यस्मिन्नुपपदे चित्रे गम्ये भविष्यन्ती स्यात्, नतु

यदिशब्दे । चित्रमाश्चर्यमन्धोनाम गिरिमारोक्ष्यति । शेष इति किम् । यच्चयत्रयोः पूर्वेण सप्तम्येव । अयदाविति किम् । चित्रं यदि स भुञ्जीत ॥२०॥

शेषे०—'सर्वविभक्त्यपवादः । चित्रमाश्चर्येत्यादि—अत्र सप्तमीनिमित्तं नास्तीति न क्रियातिपत्तिः । चित्रं यदि स भुञ्जीतेति—अत्राश्रद्धाप्यस्तीति 'जातु०' ।५।४।१७। इत्यनेन सप्तमी ॥२०॥

सप्तम्युताप्योर्बाढे ।५।४।२१।

बाढार्थयोरुताप्योरुपपदयोः सप्तमी स्यात् । उतापि वा कुर्यात् । बाढे इति किम् ? उत दण्डः पतिष्यति, अपिधास्यति द्वारम् ॥२१॥

सप्तम्यु०—सर्वविभक्त्यपवादः । उत अपि वा कुर्यादिति–'डुकृंग् करणे' अतोऽनेन सप्तम्यां 'कृग्तनादेरुः' ।३।४।८३। इत्युप्रत्यये 'नामिनो०' ।४।३।१। इति ऋतो गुणे 'कृगो यि च' ।४।२।८८। इत्युलोपे 'अतः शित्युत्' ।४।२।८९। इत्यत उकारे 'कुरुच्छुरः' ।२।१।६६। इति दीर्घनिषेधे च कुर्यात् । उत दण्डः पतिष्यतीति—अत्र प्रश्नो गम्यते । अपिधास्यति द्वारमिति-अत्राच्छादनं गम्यते । वोतात् प्रागिति निवृत्तम् । इतः प्रभृति सप्तमीनिमित्ते सति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिः उताकरिष्यत्, अप्यकरिष्यत् ॥२१॥

सम्भावनेऽलमर्थे तदर्थानुक्तौ ।५।४।२२।

अलमोर्थे शक्तौ यत्सम्भावनं तस्मिन्गम्येऽलमर्थार्थस्याऽप्रयोगे सप्तमी स्यात् । अपि मासमुपवसेत् । इति अलमर्थे किम् । निदेशस्थायी चैत्रः प्रायेण दास्यति । तदर्थानुक्ताविति किम् । शक्तश्चैत्रो धर्मं करिष्यति ॥२२॥

सम्भावने०—सम्भावनम्—श्रद्धानम् । सर्वविभक्त्यपवादः । अपि मांसमुपवसेदिति — शक्यमनेन मासोपवासः [illegible]र्थः । निदेशे—आज्ञायां तिष्ठतीति 'ग्रहादिभ्यो णिन्' ।५।१।५३। इति,निर्देशस्थायीत्यादि-नात्र

तस्य गमने सामर्थ्यम्, नवा श्रद्धानं यतः प्रायेण यास्यतीत्युक्तेः निदेशस्थायिनाऽसमर्थेनापि गन्तव्यमेव, तत्रापि प्रायेणेत्युक्त्याऽसामर्थ्यमपि व्यज्यते, यद्यपि श्रद्धाभावोऽप्यत्र तथापि न स वाच्य इति न द्व्यङ्गविकलता। अत्र सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिर्भवति—अपि पर्वतं शिरसाऽभेत्स्यत्। तथा 'काकिन्या हेतोरपि मातुः स्तनं छिन्द्यात्' इत्यत्र 'क्षेपेऽपि०।५।४।१२। इति वर्तमानां बाधित्वा, चित्रमाश्चर्यमपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यादित्यत्र तु 'शेषे०' ।५।४।२०। इति भविष्यन्तीं च बाधित्वा परत्वादनेन सप्तम्येव भवति ।।२२।।

अयदि श्रद्धाधातौ नवा ।५।४।२३।

संभावनार्थे धातावुपपदेऽलमर्थविषये संभावने गम्ये सप्तमी वा स्यात् नतु यत् शब्दे। श्रद्दधे संभावयामि भुञ्जीत भवान्। पक्षे, भोक्ष्यते अभुङ्क्त, अभुक्त वा। अयदीति किम् सम्भावयामि, भुञ्जीत भवान्। श्रद्धाधाताविति किम्। अपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यात् ।।२३।।

अयदि०—। पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः। भोक्ष्यत इत्यत्र भविष्यन्ती। अभुङ्क्त इत्यत्र ह्यस्तनी। अभुक्त इत्यत्राद्यतनी संभावयामि यदित्यादि—अत्र पूर्वेण नित्यं सप्तमी। अपि शिरसेत्यादिअत्रापि-पूर्वेण नित्यं सप्तमी। अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिः—संभावयामि नाभोक्ष्यत भवान् ।।२३।।

सतीच्छार्थात् ।५।४।२४।

सदर्थादिच्छार्थात्सप्तमी वा स्यात्। इच्छेत्। इच्छति ।।२४।।

सतीच्छार्थात्—। 'इषत् इच्छायाम्' अतः सप्तम्यां वर्तमानायां परतः शविकरणे 'गमिष०' ।४।२।१०६। इति षस्य छे, तस्य 'स्वरेभ्यः' ।१।३।३०। इति द्वित्वे, 'अघोषे०' ।१।३।५०। इति पूर्वस्य चे-इच्छेत्,

इच्छति । 'क्षेपेऽपि०' ।५।४।१२। इत्यादावपि परत्वादयं विकल्पः—अपि संयतः सन्नकल्प्यं सेवितुमिच्छेत्, अपि संयतः सन्नकल्प्यं सेवितुमिच्छति, धिग् गर्हामहे । भूतभविष्यतोरभावात् सत्यपि सप्तमीनिमित्ते सत्यपि च क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्न भवति ॥२४॥

वर्त्स्यति हेतुफले ।५।४।२५।

हेतुभूते फलभूते च वर्त्स्यत्यर्थे वर्त्तमानात्सप्तमी वा स्यात् । यदिगुरुनुपासीत शास्त्रान्तं गच्छेत् । यदि गुरूनुपासिष्यते शास्त्रान्तं सङ्गमिष्यते । वर्त्स्यतीति किम् । दक्षिणेन चेद्याति न शकटं पर्याभवति ॥२५॥

वर्त्स्यति०—। हेतुः—कारणम् फलं—कार्यम् । यदि गुरूनुपासीत शास्त्रान्तं गच्छेदिति-उपपूर्वात् 'आसिक् उपवेशने' इत्यतोऽनेन सप्तम्यामुपासीतेति, 'गम्लृ गतौ' अतोऽनेन सप्तम्यां 'गमिष०' ।४।२।१०६। इति मस्य छे, द्वित्वे, पूर्वस्य चे च—गच्छेदिति । अस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे भविष्यति भविष्यन्तीत्याह—यदि गुरूनुपासिष्यते शास्त्रान्तं गमिष्यतीति—गमोऽनुस्वारेत्त्वेऽपि 'गमोऽनात्मने' ।४।४।५१। इतीट्—गमिष्यति । अत्र गुरूपासनं हेतुः, शास्त्रान्तगमनं फलम् । अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भविष्यति क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिः—दक्षिणेन चेदयास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत् ॥२५॥

कामोक्तावकच्चिति ।५।४।२६।

इच्छाप्रवेदनगम्ये सप्तमी स्यात्, न तु कच्चित्प्रयोगे । कामो मे भुञ्जीत भवान् । अकच्चिदीति किम् । कच्चिज्जीवति मे माता ॥२६॥

कामोक्ता०—। सर्वविभक्त्यपवादोऽयम् । कामो मे भुञ्जीत भवानिति—भवानिति—'भुजंप् पालनाभ्यवहारयोः' 'भुनजोऽत्राणे०' ।३।३।३७। इत्या-

त्मनेपदेऽनेन सप्तम्यां—भुञ्जीत । कच्चित् जीवति मे मातेति—मातुर्जीवनमभिलषितमिति कच्चिच्छब्देन प्रवेदयति। असप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिः—कामो मे भोक्ष्यत भवान् ॥२६॥

इच्छार्थे सप्तमीपञ्चम्यौ ।५।४।२७।

इच्छार्थे धातावुपपदे कामोक्तौ गम्यायां सप्तमीपञ्चम्यौ स्याताम् । इच्छामि भुञ्जीत, भुङ्क्तां वा भवान् ॥२७॥

इच्छार्थे० =।सर्वविभक्त्यपवादोऽयं योगः । अत्र सत्यपि सप्तमीनिमित्ते इच्छार्थे उपपदे कामोक्तौ क्रियातिपतनस्यासामर्थ्येनासंभवात् क्रियातिपत्तिर्न भवति ॥२७॥

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाऽधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थने ।५।४।२८।

विध्यादिविशिष्टेषु कर्तृकर्मभावेषु प्रत्ययार्थेषु सप्तमीपञ्चम्यौ स्याताम् । विधिः क्रियायां प्रेरणा । कटं कुर्यात् । करोतु भवान्, प्रेरणायामेव यस्यां प्रत्याख्याने प्रत्यवायस्तन्निमन्त्रणम् । द्विसन्ध्यमावश्यकं कुर्यात् । करोतु । यत्र प्रेरणायामेव प्रत्याख्याने कामचारस्तदामन्त्रणम् । इहासीत । आस्ताम् । प्रेरणैव सत्कापूर्विका अधिष्टम् । व्रतं रक्षेत् । रक्षतु । संप्रश्नः संप्रधारणा । किं नु खलु भो व्याकरणमधीयीय । अध्ययै । उत सिद्धान्तमधीयीय । अध्ययै । प्रार्थनं याञ्चा । प्रार्थना मे तर्कमधीयीय । अध्ययै ॥२८॥

सर्वविभक्त्यपवादो योगः । 'तत्साप्त्या०' ।३।३।२१। इत्यादिना ये प्रत्यया विहितास्तेषां ये भावकर्मकर्तारोऽर्थास्तेषामयं विध्यादिरर्थो विशेषणमित्याह विध्याविशिष्टेषु कर्तृकर्मभावेषु प्रत्ययार्थेष्विति ॥२८॥

प्रैषाऽनुज्ञावसरे कृत्यपञ्चम्यौ ।५।४।२९।

प्रैषादिविशिष्टे कर्त्रादावर्थे कृत्याः पञ्चमी च स्युः । न्यक्कारपूर्विका प्रेरणा प्रैषः । भवता खलुः कटः कार्यः । भवान् कटं करोतु । भवान् हि प्रेषितः, अनुज्ञातः, भवतोऽवसरः कटकरणे ॥२९॥

अनुज्ञा कामचारानुमतिः, अतिसर्ग इति यावत् । अवसरः प्राप्तकालता, निमित्तभूतकालोपनतिः । भवता खलु कटः कार्य इति–'भवता' इत्यत्र 'कृत्यस्य वा' ।२।२।८८। इति षष्ठीविकल्पनात् कर्तरि तृतीया 'खलु' इत्यवधारणादिद्योतकमव्ययम्, कृत्येन कर्मण उक्तत्वात् कट इत्यत्र प्रथमा, 'ऋवर्ण०' ।५।१।१७। इति ध्यणि वृद्धौ–कार्यः । एकत्रैव प्रयोगेऽर्थत्रयस्य संगतिं दर्शयति—भवान् हीत्यादिना । यद्यपि कृत्याः सामान्येन भावकर्मणोर्विहितास्तथापि सर्वप्रत्ययापवादभूतया पञ्चम्या बाध्येरन्निति पुनर्विधीयते ॥२९॥

सप्तमी चोद्ध्र्वमौहूर्त्तिके ।५।४।३०।

प्रैषादिषु गम्येषु ऊद्ध्र्वमौहूर्त्तिकेऽर्थे वर्त्तमानात्सप्तमी कृत्यपञ्चम्यौ च स्युः । ऊर्द्धं मुहूर्त्तात् कटं कुर्यात् भवान् । भवता कटः कार्यः । कटं करोतु भवान् । भवान् हि प्रेषितोऽनुज्ञातः, भवतोऽवसरः कटकरणे ॥३०॥

सप्तमी०—। ऊर्ध्वं मुहूर्त्तादु-परि मुहूर्तस्य भवोऽर्थ ऊर्ध्वं मौहूर्तिकः ॥३०॥

स्मे पञ्चमी ।५।४।३१।

स्मे उपपदे प्रैषादिषु गम्येषु ऊर्द्ध मौहूर्त्तिकार्थाद्धातोः पञ्चमी स्यात् । ऊद्ध्र्वं मुहूर्त्तात् भवान् कटं करोतु स्म। भवान् हि प्रेषि-

तोऽनुज्ञातः, भवतोऽवसरः कटकरणे ॥३१॥

स्मे पञ्चमी—। कृत्यानां सप्तम्याश्चापवादः। स्मशब्दः स्पष्टार्थकः ॥३१॥

अधीष्टौ ।५।४।३२।

स्मे उपपदे ऽध्येषणायां गम्यायां पञ्चमी स्यात् । अङ्ग स्म विद्वन्नणुव्रतानि रक्ष ॥३२॥

अधीष्टौ०—। ऊर्ध्वं मौहूर्तिक इति निवृत्तम्, पृथग्योगात् । सप्तम्यपवादः । अहिंसासत्यास्तेब्रह्मचर्यापरिग्रहनामानि जैनश्रावकाणां देशतःपालनीयानि पञ्च व्रतानि अणुव्रतान्युच्यन्ते ॥३२॥

कालवेलासमये तुम्वाऽवसरे ।५।४।३३।

एषूपपदेष्ववसरे गम्ये धातोस्तुम्वा स्यात्। कालोभोक्तुम्। वेलाभोक्तुम् । समयो भोक्तुम् । पक्षे । कालो भोक्तव्यस्य । अवसर इति किम् । कालः पचति भूतानि ॥३३॥

कालवेला०—। कालो भोक्तव्यस्येति-अत्र 'प्रैषा०' ।५।४।२९। इति तव्यः। कालः पचति भूतानीति-कथमिह न भवतीति चेद् । उच्यते-कालोऽत्र द्रव्यं न त्ववसर इति, यद्यप्यवसररूपोऽपि कालो द्रव्यमेव द्रव्यभिन्नस्यासत्त्वात्, तथापि स कालत्वेनैव सामान्येन निर्दिष्टो नावसरत्वेन-प्राप्तकालत्वेन इति न भवतीत्यवसरग्रहणस्य सार्थकम् ॥३३॥

सप्तमी यदि ।५।४।३४।

यच्छब्दप्रयोगे कालादिषूपपदेषु सप्तमी स्यात् । कालो यदधीयीत भवान् । वेला यद्भुञ्जीत समयो यच्छयीत ॥३४॥

सप्तमी यदि० —। तुमोऽपवादः ॥३४॥

शक्तार्हे कृत्याश्च ।५।४।३५।

शक्तेऽर्हे च कर्त्तरि गम्ये कृत्याः सप्तमी च स्युः। भवता खलु भारो वाह्यः। उह्येत। भवान् भारं वहेत्। भवान् हि शक्तः। भवता खलु कन्या वोढव्या। उह्येत। भवान् खलु कन्यां वहेत्। भवानेतदर्हति ॥३५॥

शक्तार्हे०—सप्तम्या बाधो मा भूदिति कृत्य ग्रहणम्। बहुवचनमिहोत्तरत्र च यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम्। भवता खलु भारो वाह्यः, उह्येतेति–'भवता' इत्यत्र कृत्यस्य कर्तरि 'कृत्यस्य वा' इति षष्ठीविकल्पनात् 'हेतु०' ।२।२।४४ इति तृतीया, खलुरवधारणादौ, 'वहीं प्रापणे' अतो घ्यणि 'ञ्णिति'।३।३।५० इत्युपान्त्यवृद्धौ-वाह्यः, कर्मणि सप्तम्यां यके च 'यजादि०' ।४।१।७६। इति स्वृति—उह्येत, एतदपेक्षया भवतेत्यत्र स्वतः कर्तरि तृतीया, प्रत्ययौ 'तत्साप्या०'।३।३।२१।इति कर्मणि। तैःकर्मणः उक्तत्वात् 'ततःप्रथमा विज्ञेया, उक्तार्थानामप्रयोग' इति हि न्यायः। इदं शक्तार्थे कर्मण्यु दाहृतम्। अधुना शक्तार्थे कर्तर्युदाहरति—भवान् भारं वहेदिति–अत्र कर्तरि सप्तमी, तथा च कर्तुरुक्तत्वात् 'भवान्' इत्यत्र प्रथमा, कर्मणोऽनुक्तत्वाच्च भारमित्यत्र द्वितीया। उक्तप्रयोगे शक्तार्थं संगमयति-भवान् हि शक्तः इति। क्रमप्राप्तेऽर्हेर्थे उदाहरति-भवता खलु इत्यादिना ॥३५॥

णिन्चाऽवश्यकाधमर्ण्ये ।५।४।३६।

अनयोर्गम्ययोः कर्त्तरि वाच्ये णिन् कृत्याश्च स्युः। अवश्यंकारी। अवश्यंहारी। अवश्यंगेयो गीतस्य। शतंदायी। गेयो गाथानाम् ॥३६॥

अवश्यंभाव आवश्यकम्। ऋणेऽधमोऽधमर्णः, तस्य भाव

आधमर्ण्यम् । णिना बाधा मा भूदिति कृत्यविधानम् । कृत्वात् कर्तरि णिनो विधानात्, तत्साहचर्यात् तादृशा एव कृत्या विधेया:, ते च 'भव्यगेय०' ।५।१।७। इत्यादिना निपातिता एव नान्या: । अवश्यंकारीति-मयूरव्यंसकादित्वात् समास: ॥३६॥

अर्हे तृच् ।५।४।३७।

अर्हे कर्त्तरि वाच्ये तृच् स्यात् । भवान् कन्याया वोढा ॥३७॥

अर्हे तृच्—। 'णकतृचौ' ।५।४।४८। इति सामान्येन सिद्धे तृज्विधानं 'शक्तार्हे कृत्याश्च ।५।४।३५। इति सप्तम्या बाधा मा भूदित्येवमर्थम् । ॥ ३७ ॥

आशिष्याशी:-पञ्चम्यौ ।५।४।३८।

आशीर्विशिष्टार्थादाशी: पञ्चम्यौ स्याताम् । जीयात् । जयतात् । आशिषीति किम् । चिरञ्जीवति मैत्र: ॥३८॥

आशिष्या०—। आशासनमप्राप्तस्य प्रार्थनमाशी:पदवाच्यम् । जीयादिति=अत्र 'दीर्घश्च्वि०' ।४।३।१०८। इति दीर्घत्वम् । चिरंजीवति मैत्र इति—नात्र प्रार्थनमपि तु वस्तु स्थितिकथनमिति नास्य प्रवृत्ति: । ॥ ३८ ॥

माङ्यद्यतनी ।५।४।३९।

माङि उपपदेऽद्यतनी स्यात् । माकार्षीत् ॥३९॥

माङ्यद्यतनी—। सर्वविभक्त्यपवाद: । 'डुकृंग् करणे' अतोनेनाद्यतनीदि-प्रत्यये सिचि 'दिस्योरीट्' ।४।४।७९। इतीटि 'सिचि परस्मै समानस्या-

ङिति' ।४।३।४४। इति वृद्धौ 'अड् धातो०' ।४।४।२६। इत्यत्र 'अमाङा' इति वचनादडभावे—मा कार्षीत् ।।३६।।

सस्मे ह्यस्तनी च ।५।४।४०।

स्मयुक्ते माङ्युपपदे ह्यस्तन्यद्यतनी च स्यात् । मा स्म करोत् । मा स्म कार्षीत् ।।४०।।

सस्मे०—। मा शब्देन निषेध उच्यते, स्मशब्देन च स एव द्योत्यते ।।४०।।

धातोः सम्बन्धे प्रत्ययाः ।५।४।४१।

धात्वर्थानां संबन्धे विशेषणविशेष्यभावे सत्ययथाकालमपि प्रत्ययाः साधवः स्युः । विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो भविता । भावि कृत्यमासीत् । गोमानासीत् ।।४१।।

धातो०—। यद्यपि धातुशब्दो भ्वादिष्वेव वर्तते, तथाप्यभिधेयेभिधानोपचारं कृत्वा धात्वर्थो धातुशब्देन निर्दिष्ट इत्याह धात्वर्थानां सम्बन्धे इति । कः पुनः सम्बन्ध इत्याह—विशेष्यविशेषण भावे सतीति । अयथाकालमपि प्रत्ययाः साधवो भवन्तीति—यो यस्यात्मीय-कालो यथाकालम्, 'यथाऽथा' ।३।१।४१। इति वीप्सायां समासः, न यथाकालमयथाकालम् । एतदुक्तं भवति—स्वैः स्वैर्विधायक-वाक्यैर्यत्र, यस्मिन् यस्मिन् काले ये ये विहितास्ततोऽन्यत्र कालेऽपि प्रयुक्ताः प्रत्ययाः साधवो भवन्तीति । उदाहरति—विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो भवितेति—'दृशं क्षणे' विश्वं दृष्टवानिति विश्वदृश्वा, 'दृशः क्वनिप्' ।५।१।६६। इति क्वनिप्, तत्र वन् अवशिष्यते, 'ङस्युक्तं कृता' ।३।१।४६। इति समासः, 'अनद्यतने श्वस्तनी' ।५।३।५। इति श्वस्तनीता—प्रत्यये च—भविता, अत्र विश्वदृश्वा' इति भूतकाल—प्रत्ययो 'भवितेति भविष्यत्कालेन' प्रत्ययेनाभिसंबध्यमानः साधुर्भवति, तथा चेह विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो भवितेति' भूतकालो भविष्यत्कालेनापि संबध्यमानो भविष्यत्कालः सम्पद्यते । तथा च कोऽर्थः ?

उच्यते—सोऽस्य पुत्रो भविता यो विश्वं द्रष्टेति, न च भविष्यत्कालो भूतकालेन संबध्यमानो भूतकालतां प्रतिपद्यते, न ह्यत्रायमर्थः प्रतीयते—सोऽस्य पुत्रो भूतो यो विश्वं दृष्टवानिति, विशेषणं हि गुणत्वात् विशेष्यकालमनुरुध्यते, विशेष्यस्य तु मुख्यत्वान्नानुरुध्यते। भावि कृत्यमासीदिति-भविष्यतीति=भावि, 'भुवो वा'। उणा० ६२२। इति णित् इन्, 'वर्त्स्यति गम्यादिः' ।५।३।१। इति च भविष्यत्त्वम्, 'असक् भुवि' अतो ह्यस्तनी-दिवि—आसीदिति। सर्वत्र त्याद्यन्तवाच्योऽर्थो विशेष्यः, स्याद्यन्तवाच्यस्तु विशेषणम्। अत्रापि विशेषणं विशेष्यकालतां प्रतिपद्यते। यतोऽत्रायमर्थः प्रतीयते—तत् कृत्यमासीत् यद् भूतमिति। बहुवचनात् अधात्वधिकार-विहिता अपि प्रत्ययास्तद्धिता धातुसम्बन्धे सति कालभेदे साधवो भवन्त्यत आह—गोमानासीत्—इति गावो विद्यन्तेऽस्येति वर्तमानकालिकसत्त्वविवक्षायां 'तदस्या०' ।७।२।१। इत्यनेन वर्तमानकालमस्तीत्युपादाय विहितो मतुः 'आसीत्' इति भूतकालान्वयिनि कर्तरि न स्यादतोऽनेन तस्य साधुत्वमाख्यायते ॥४१॥

भृशाऽऽभीक्ष्ण्ये हि-स्वौ यथाविधि त-ध्वमौ च तद्युष्मदि ।५।४।४२।

भृशाभीक्ष्ण्ये सर्वकालेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोः सर्वविभक्तिवचनविषये हिस्वौ स्याताम्। यथाविधि धातोःसंबन्धे यत एव धातोर्यस्मिन्नेव कारके हिस्वौ तस्यैव धातोस्तत्कारकविशिष्टस्यैव सम्बन्धे अनुप्रयोगे सति, तथा पच्चम्या एव तध्वमौ, तयोः सम्बन्धिनि बहुत्वविशिष्टे युष्मद्यर्थे हिस्वौ च स्यातां यथाविधि धातोः सम्बन्धे। लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनातीत्यादि। अधीष्वाधीष्वेत्येवायमधीते इत्यादि। लुनीत लुनीतेत्येवं यूयं लुनीथ। लुनीहि लुनीहीत्येवं यूयं लुनीथ। अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमधीध्वे। अधीष्वाधीष्वेत्येवं यूयमधीध्वे। यथाविधीति किम्। लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति, छिनत्ति, लूयते वेति धातोः संबन्धेमा भूत् ॥४२॥

भृशाऽऽभीक्ष्ण्ये०—। गुणक्रियाणामधिश्रयणादीनां क्रियान्तरैरव्यवहितानां साकल्येन सम्पत्तिः फलातिरेको वा भृशत्वम् । प्रधानक्रियाया विक्लेदादेः क्रियान्तरैरव्यवहितायाः पौनःपुन्यमाभीक्ष्ण्यम् । 'धातोः सम्बन्धे' इति पूर्वतोऽनुवृत्तम्, तद्धि 'यथाविधि' इत्यनेन सम्बध्यते, तथा च वाक्यद्वयं संपाद्य सूत्रं व्याख्याति—भृशाऽऽभीक्ष्ण्ये सर्वकालेऽर्थे वर्तमानादित्यादिना सर्वे भूतभविष्यद्वर्तमानकाला सन्त्यस्येति बहुव्रीहौ-सर्वकाले, अत्र नैकस्मिन्नर्थे सर्वकालत्वं संभवति, किन्तु 'अर्थे' इत्यत्र जातावेकवचनम्, तथा च सर्वकालेष्वर्थेषु इत्यर्थो बोध्यः । अत्र परस्मैपदिभ्यो हिः, आत्मनेपदिभ्यश्च स्वः, तत्र हिः कर्तर्येव, स्वस्तु भावकर्म-कर्तृषु आत्मनेपदस्य सर्वत्र विधानात्, एवं च मध्यमपुरुषै-कवचनीयप्रत्ययद्वयमिदमिति मध्यमपुरुषैकवचन एव प्रयुज्येतेत्याशङ्कावारणायाह—सर्वविभक्तिवचनविषय इति—यदि मध्यमपुरुषैकवचन एवानयोर्विधानमभिमतं स्यात्, तर्हि तध्वमोर्विषयेऽप्यनयोर्विधानमनुचितं स्यात् । तौ च पञ्चमीसम्बन्धिनौ ज्ञेयौ अन्यथा तयोः विभक्तित्वाभावेन तदन्तस्य पदत्वं न स्यात् । किमविशेषेण हिस्वयोर्विधानम् ? नेत्याह—यथाविधिधातोः सम्बन्धे इति । धातोः सम्बन्धस्य विध्यनतिक्रमं दर्शयति—यत एव धातोरित्यादिना, अयमाशयः—हिस्वौ सकल-विभक्तिवचनविषये भवत इति पूर्वमुक्तम्, तथा च वचनविभक्तिभेदावगमो न स्यात्, न च तथा सति साधीयसी अर्थप्रतीतिर्भवतीति स एव धातुर्यथोचितविभक्तिवचनेन सहानुप्रयुज्यत इति पुरुषवचनयोरभिव्यक्तिर्भवति । द्वितीयवाक्यार्थमाह—तथा पञ्चम्या एवेत्यादिना यथाविधि धातोः सम्बन्धे इत्यन्तेन, यथाविधीत्यस्य देहलीदीपन्यायेनोभयवाक्येऽपि सम्बन्धात् तदन्वयि 'धातोः सम्बन्धे' इत्यप्युभयान्वयीति भावः । तद्युष्मदीत्यस्यार्थमाह—तयोरित्यादिना युष्मदर्थे इत्यन्तेन, तध्वमौ हि बहुत्वविशिष्टे युष्मदभिधेये भवतः, इत्येतद्विहितावपि तौ तत्रैवाभिधेये भविष्यतः । उदाहरति—लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनातीत्यादीति—अतिशयेन वा लवनमिति 'लुनीहि लुनीहि' इत्यस्यार्थः, एककर्तृकं वर्तमानकालिकं लवनमिति 'लुनाति' इत्यस्यार्थः, इतिशब्दस्तु अभेदान्वये तात्पर्यं ग्राहयति, एवं चातिशयेन पौनःपुन्येन वा लवनाभिन्नं वर्तमानकालिकमेककर्तृकं लवनमिति वाक्यार्थः । इति-शब्दाभावे च प्रयोगेण सहानुप्रयोगस्यान्वयो न स्यात्, आख्यातयोरसत्त्वरूपार्थवाचकयोः स्वतः सम्बन्धस्य दुरुपपादत्वात् । ननु इतिशब्देन व्यवधानात् 'लुनाति' इत्यस्यानुप्रयोगत्वं कथम् ? अनु पश्चादव्यवधानेन प्रयोगो ह्यनुप्रयोग इति चेत् ? इति-शब्दस्य

पूर्ववाक्यार्थानुवादकत्वमात्रेण व्यवधायकत्वाभावान्न दोषः, व्यवधानं हि परेण भवति, इतिशब्दश्च पूर्वोक्तार्थमेवानुवदतीति तस्य न व्यवधायकत्वमिति भावः। अत्रादिपदेन—लुनीहि लुनीहीत्येवेमौ लुनीतः लुनीहीत्येवेमे लुनन्ति इत्याद्युदाहरणानि ज्ञेयानि। एवमुत्तरत्राप्यादिपदेनोदाहरणानि ज्ञेयानि। लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति, छिनत्ति, लूयते वेति धातोः सम्बन्धे मा भूदिति–'यथाविधि' इत्यस्य 'यत एव धातोः' इत्याद्यर्थं दर्शयताचार्येण सूचितम्–धातुभेदे कारकभेदे नेदं सूत्रं प्रवर्तत इति, प्रकृतप्रयोगे च 'छिनत्ति' इत्यस्यानुप्रयोगे धातुभेदः, 'लूयते' इत्यस्यानुप्रयोगे च कारकभेदः, धातुसाम्येऽपि 'लुनाति' इत्यस्य कर्तरि प्रयोगात् लूयते' इत्यस्य कर्मणि प्रयोगात्, तत्रास्य प्रवृत्तिवारणाय यथाविधिग्रहणमावश्यकमिति भावः। लुनीहि लुनीहीत्यादौ च भृशाभीक्ष्ण्ये द्विर्वचनम्। ननु च भृशाभीक्ष्ण्ययोर्यङपि विधीयते न तु तत्र द्विर्वचनम्, इह तु द्विर्वचनमित्यत्र को हेतुः ? उच्यते—यङ् स्वार्थिकत्वात् प्रकृत्यर्थोपाधीः भृशाभीक्ष्ण्ये समर्थोऽवद्योतयितुमिति यदभिव्यक्तये द्विर्वचनं नापेक्षते, हिस्वादयस्तु कर्तृकर्मभावार्थत्वेनास्वार्थिकत्वादसमर्थाः प्रकृत्यर्थोपाधी भृशाभीक्ष्ण्येऽवद्योतयितुमिति तदवद्योतनाय द्विर्वचनमपेक्षन्ते इति ॥४२॥

प्रचये नवा सामान्यार्थस्य ।५।४।४३।

धात्वर्थानां समुच्चये गम्ये सामान्यार्थस्य धातोः सम्बन्धे सति धातोः परौ हिस्वौ तध्वमौ च तद्युष्मदि वा स्याताम्। व्रीहीन् वप लुनीहि पुनीहि इत्येवं यतते यत्यते वा। पक्षे। व्रीहीन् वपति लुनाति पुनाति इत्येवं यतते यत्यते वा सूत्रमधीष्व निर्युक्तिमधीष्व भाष्यमधीष्वेत्येवमधीते पठ्यते वा। पक्षे। सूत्रमधीते निर्युक्तिमधीते भाष्यमधीते इत्येवमधीते पठ्यते वा। व्रीहीन् वपत लुनीत पुनीतेत्येवं यतध्वे, । व्रीहीन् वप लुनीहि पुनीहीत्येवं चेष्टध्वे। पक्षे। व्रीहीन् वपथ लुनीथ पुनीथेत्येवं यतध्वे। सूत्रमधीष्व निर्युक्तिमधीष्व भाष्यमधीष्वेत्येवमधीध्वे। सूत्रमधीष्व, निर्युक्तिमधीष्व, भाष्यमधीष्वेत्येवमधीध्वे। पक्षे।

भाष्यमधीध्वे इत्येवमधीध्वे । सामान्यार्थस्येति किम् ? व्रीहीन् वप लुनीहि पुनीहि इत्येवं वपति लुनाति पुनातीति माभूत् ॥४३॥

प्रचये०—भृशाऽऽभीक्ष्ण्ये यथाविधीति च नानुवर्तते । प्रचये—समुच्चय इत्यर्थं इत्याह—धात्वर्थानां समुच्चये इति—स्वतः साधनभेदेन वा भिद्यमानस्य एकत्रानेकस्य धात्वर्थस्याध्यावापे इत्यर्थः । सामान्यार्थस्येति-स्वतः साधनभेदेन वा भिद्यमानयोर्धात्वोर्धातूनां वा मध्ये योऽर्थः सामान्यतया भासते सर्वेषु स एवार्थो विशिष्य यस्य धातोस्तादृशस्य धातोरनुप्रयोगे सतीति भावः । हिस्वाविति—परस्मैपदितो हि, आत्मनेपदितः स्वो भवतीत्यर्थं, एवमन्यत्रापि । व्रीहीन् वप लुनीहि पुनीहि इत्यत्र धात्वर्थानां स्वरूपत एव भेद , वपनलवनपवनानां धात्वर्थानां मध्ये यत्न-रूपोऽर्थ सामान्यतया भासत इति तदर्थक एव धातुः—यति रनु-प्रयुज्यते, तत्र कर्तृत्वविवक्षायां 'यतते' इति भावविवक्षायां 'यत्यते' इति चेति सर्वत्र प्रयोगे ऊहनीयम्, अत्रानुप्रयोगार्थेन सामान्येन सह समुच्चीय-विशेषाणामभेदान्वयः, तथा, च वपनाद्यभिन्नो वर्तमानकालिको यत्न इति रूपेण वाक्यार्थ ऊहनीयः, एवं यथासम्भवमन्यत्रापि विज्ञेयमिति । व्रीहीन् वपेत्यादि—अत्रानुप्रयोगे स्वरूपत एव विशेषात् सामान्यार्थत्वाभावः ॥४३॥

निषेधेऽलंखल्वोः क्त्वा ।५।४।४४।

निषेधार्थयोरलंखल्वोरुपपदयोर्धातोः क्त्वा वा स्यात् । अलं-कृत्वा । खलुकृत्वा । अलं रुदितेन ॥४४॥

निषेधे०—'क्त्वा वा' स्यादिति—'क्त्वातुं० ।५।१।१३। इति सूत्रेण क्त्वाप्रत्ययस्य भावे विधानम्, भावे च—अनः-क्तोऽन्ये च प्रत्यया विधीयन्ते, तेषा—मप्यवकाशाय पूर्वसूत्रात् नवाग्रहणमनुवर्त्यं विकल्पेन क्त्वा–प्रत्ययो विधीयते, अन्यथाऽत्र वाऽसरूपविधेर्निवर्तनेन नित्यमेव तेषां बाधः स्यात् । क्त्वान्तयोग एव खलुशब्दो निषेधवाचक इति पक्षे खलुशब्दो नोदाह्रियते ।

अलं रुदितेनेति—'क्लीबे क्तः०' ।५।३।१२३। इति क्तो भावे, 'कृताद्यैः'० ।२।२।४७। इति तृतीया, रोदनेन किमित्यर्थः ॥४४॥

परावरे ।५।४।४५।

परे अवरे च गम्ये क्त्वा वा स्यात् । अतिक्रम्य नदीं गिरिः । अप्राप्य नदीं गिरिः । नद्यतिक्रमणे गिरिः, नद्यप्राप्त्या गिरिः ॥४५॥

पराऽवरे—अतिक्रम्य नदीं गिरिरित्यस्यार्थमाह—नद्यतिक्रमणे गिरिः । अप्राप्य नदीं गिरिरित्यस्यार्थमाह—नद्यप्राप्त्या गिरिः । नदीपर्वतयोः परापरत्वमात्रं प्रतीयते, अस्ति प्राप्यत इति वा न द्वितीया क्रियेति तुल्यकर्तृकक्रियान्तराभावात् 'प्राक्काले' ।५।४।४७। इति न सिध्यतीति वचनम् ॥४५॥

निमील्यादिमेङस्तुल्यकर्तृके ।५।४।४६।

तुल्यो धात्वर्थान्तरेण कर्त्ता यस्य तद्वृत्तिभ्यो निमील्यादिभ्यो मेङश्च धातोः सम्बधे क्त्वा स्यात् । अक्षिणी निमील्य हसति । मुखं व्यादाय स्वपिति । अपमित्य याचते । पक्षे अपमातुं याचते । तुल्यकर्तृक इति किम् । चैत्रस्याक्षिनिमीलने मैत्रो-हसति ॥४६॥

निमील्यादि०—"मील निमेषणे' निमेषणं संकोचः, अतोऽनेन क्त्व 'ऊर्याद्य०' ।३।१।२। इति नेर्गतिसंज्ञायां 'गति०' ।३।१।४२। इति तत्पुरुषे क्त्वो यबादेशे च निमील्येति, यदैव हसति तदैव नयनयुगलं संमीलयती नास्तीह वाक्ये पूर्वकालतेति परेण न प्राप्नोतीति वचनम् । एवं मुखं व्यादाय स्वपितीत्यत्रापि बोध्यम् । अपमित्य याचते इति—पूर्वमसौ याचते पश्चादपमयत इति प्राक्कालता नास्तीति मेङो ग्रहणम् ॥४६॥

प्राक्काले ।५।४।४७।

परकालेन धात्वर्थेन तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोः सम्बन्धे क्त्वा वा स्यात् । आसित्वा भुङ्क्ते । आस्यते भोक्तुम् । प्राक्काल इति किम् । भुज्यते पीयते वा ।।४७।।

प्राक्काले—"प्राक्काले" इत्युत्तरत्र यथासंभवमाभिधानतोऽनुवर्तनीयम् । भुज्यते, पीयते वेति—अत्र न उभयक्रिया क्रियत इति नास्ति प्राक्कालत्वम्, । अनेन भुज्यते, अनेनैव पीयते इत्यर्थस द्भावात् तुल्यकर्तृकत्वमस्तीति न द्व्यङ्गविकलता अथ 'यदनेन भुज्यते ततोऽयं पचति' 'यदनेनाधीयते ततोऽयं शेते' इत्यत्र कथं क्त्वा न भवति ? उच्यते-यत्र यच्छब्देन सह तत् शब्दः प्रयुज्यते तत्र ततःशब्देनैव प्राक्कालताऽभिधीयत इत्युक्तार्थत्वात् क्त्वा न भवति ।।४७।।

खणम् चाभीक्ष्ण्ये ।५।४।४८।

अभीक्ष्ण्ये परकालेन तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोः सम्बन्धे खणम्, क्त्वा च स्यात् । भोजं भोजं याति । भुक्त्वा भुक्त्वा याति ।।४८।।

खणम् चा०—"वाधिकारेणैव पक्षे क्त्वाप्रत्ययस्य सिद्धौ चकारेण तस्य विधाने वर्त्तमानादिप्रत्ययान्तर-निवृत्त्यर्थम् । खित्वं खणमः चौरंकारमाक्रोशति, स्वादुंकारं भुङ्क्ते' इत्युत्तरार्थम् ।।४८।।

पूर्वाग्रे प्रथमे ।५।४।४९।

एषूपपदेषु परकालेन तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोः सम्बन्धे खणम् वा स्यात् । पूर्वं भोजं याति । पूर्वं भुक्त्वा याति । एवमग्रे भोजम् । अग्रे भुक्त्वा । प्रथमं भोजम् । प्रथमं भुक्त्वा । पूर्वं भुज्यते ततो याति ।।४९।।

पूर्वाऽग्रेप्रथमे—। अनाभीक्ष्ण्यार्थं वचनम् । पूर्वप्रथमसाहचर्यात् अग्रशब्दः कालवाची गाह्यः। पूर्वं भोजं यातीत्यादि—पूर्वादयश्चात्र व्यापारान्तरापेक्षे प्राक्काल्ये गमनापेक्षे तु क्त्वाख्णमाविति नोक्तार्थता, ततश्चायमर्थोऽन्यभोक्तृभुजिक्रियाभ्यः स्वक्रियान्तरेभ्यो वा पूर्वं भोजनं कृत्वा यातीत्यर्थः ॥४९॥

अन्यथैवंकथमित्थमः कृगोऽनर्थकात् ।५।४।५०।

एभ्यः परात्तुल्यकर्तृकार्थात् कृगोऽनर्थकाद्धातोः सम्बन्धे ख्णम्वा स्यात् । अन्यथाकारम्, एवङ्कारम्, कथङ्कारं, इत्थङ्कारं भुङ्क्ते । पक्षे । अन्यथाकृत्वा । अनर्थकादिति किम् । अन्यथाकृत्वा शिरोभुङ्क्ते ॥ ५० ॥

अन्यथैव०—। अत्र पक्षे क्त्वैव भवति, न वर्तमानादिः । एवमुत्तरत्रापि । अन्यथा भुङ्क्ते इत्यस्य योऽर्थः स एव 'अन्यथा-कारं भुङ्क्ते इत्यस्येति करोतेरन्यथादिभ्यः पृथगर्थाभावः आनर्थक्यम् ॥५०॥

यथातथादीर्ष्योत्तरे ।५।४।५१।

आभ्यां तुल्यकर्तृकार्थादनर्थकात् कृगो धातोः सम्बन्धे ख्णम्वा स्यात् ईर्ष्यश्चेदुत्तरयति । कथं त्वं भोक्ष्यस इति पृष्टोऽसूयया तं प्रत्याह, यथाकारमहं भोक्ष्ये किं तवानेन ? ईर्ष्योत्तर इति किम् । यथाकृत्वाऽहं भोक्ष्ये तथा द्रक्ष्यसि ॥५१॥

यथाकारमहंभोक्ष्ये—।यथाहं भोक्ष्ये तथाहं भोक्ष्ये किं ते मया इत्यर्थः ॥५१॥

शापे व्याप्यात् ।५।४।५२।

कर्मणः परात्तुल्यकर्तृकार्थात् कृगो धातोः सम्बन्धे ख्णम्वा स्यात् आक्रोशे गम्ये । चोरङ्कारमाक्रोशति । शाप इति किम् । चोरं कृत्वा हेतुभिः कथयति ॥५२॥

शापे०—। अनर्थकादिति निवृत्तम् । चोरङ्कारमाक्रोशतीति—करोतिरिहोच्चारणे, चोरशब्दमुच्चार्याक्रोशति, चोरोऽसीत्याक्रोशतीत्यर्थः । चोरं कृत्वा हेतुभिः कथयतीति—अत्र हि न तस्याक्रोशेऽभिप्रायः, किन्तु तस्य चोरत्वप्रकटने, तदर्थमेव—चोरत्वकारणप्रतिपादनमिति । चोरोऽसीत्याक्रोशवाक्ये चोरशब्दस्य यदुच्चारणं तदाक्रोशस्यैव सम्पादनार्थम्, न त्वसौ चोरः क्रियतेऽशक्यत्वात्, न च चोरोऽसीति शतकृत्वोऽपि ब्रुवता पुरुषस्य शक्यते चोरत्वमुत्पादयितुमिति ॥५२॥

स्वाद्वर्थाददीर्घात् ।५।४।५३।

स्वाद्वर्थाददीर्घान्ताद्व्याप्यात्परात्तुल्यकर्तृकार्थात् कृगो धातोः सम्बन्धे ख्णम्वा स्यात् । स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । मिष्टङ्कारं भुङ्क्ते । पक्षे । स्वादुं कृत्वा । अदीर्घादिति किम् । स्वाद्वीं कृत्वा यवागूं भुङ्क्ते ॥५३॥

स्वादुंकारं यवागूं भुङ्क्ते, अस्वादुं स्वादुं कृत्वा—स्वादुंकारं भुङ्क्ते इत्यत्र तु ङी-च्व्यो र्विकल्पित्वात् दीर्घो न भवति ॥५३॥

विद्दृग्भ्यः कार्त्स्न्ये णम् ।५।४।५४।

कार्त्स्न्यवतो व्याप्यात्परेभ्यस्तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्तमानेभ्यो विदिभ्यो दृशेश्च धातोः सम्बन्धे णम्वा स्यात् । अतिथिवेदं भोजयति । कन्यादर्शं वरयति । कार्त्स्न्य इति किम् । अतिथिं विदित्वा भोजयति ॥५४॥

विद्दृग्भ्यः०—। 'विदिंच् सत्तायाम्' 'विदक् ज्ञाने' 'विद्लृंती लाभे'

'त्रिदिप् विचारणे' इति चत्वारो विदयः, तत्र सत्तार्थ-कोऽकर्मकः, व्याप्यात् परत्वं च सकर्मकस्यैव संभाव्यत इति तं वर्जयित्वा बहुवचनादन्ये त्रयोऽपि विदयो विद्ग्रहणेन गृह्यन्ते, अन्यथा 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इत्युपतिष्ठेत । अतिथिवेदं भोजयतीति यं यमतिथिं जानाति लभते विचारयति वा तं तं सर्वं भोजयतीत्यर्थः, विदित्रयग्रहणादर्थत्रयं ज्ञेयम् । कन्यादर्शं वरयतीति—यां याम् अन्यां पश्यति तां तां सर्वां वरयतीत्यर्थः । अतिथिं विदित्वा भोजयतीति—अत्र हि भोजनेऽतिथित्वज्ञानं हेतुः, न त्वतिथ्यन्वेषणे तात्पर्यम्, तथा च न कात्स्न्र्यमिति भावः । ॥ ५४॥

यावतो विन्दजीवः ।५।४।५५।

कात्स्न्र्यवतो व्याप्याद्यावतः पराभ्यां तुल्यकर्तृकाभ्यां विन्दतिजीविभ्यां धातोः सम्बन्धे णम्वा स्यात् । यावद्वेदं भुङ्क्ते । यावज्जीवमधीते ॥५५॥

यावतो०—। विन्देति शनिर्देशाल्लाभार्थस्य ग्रहणम् । यावद्वेदं भुङ्क्ते इति यावल्लभते तावद्भुङ्क्ते इत्यर्थः । यावज्जीवमधीत इति—यावज्जीवति तावदधीत इत्यर्थः । जीवेः पूर्वकालासंभवादपूर्वकाल एव विधिः ॥ ५५ ॥

चर्मोदरात्पूरेः ।५।४।५६।

आभ्यां व्याप्याभ्यां परात्तुल्यकर्तृकार्थात्पूरयतेर्धातोः सम्बन्धे णम्वा स्यात् । चर्मपूरमास्ते । उदरपूरं शेते ॥५६॥

चर्मो०—। चर्मपूरमास्ते इति—चर्म पूरयित्वाऽऽस्त इत्यर्थः । उदरपूरं शेत इति—उदरं पूरयित्वा शेत इत्यर्थः ॥५६॥

वृष्टिमाने ऊलुक् चास्य वा ।५।४।५७।

व्याप्यात्परात्पूरयतेर्धातोः सम्बन्धे णम्वास्यात्, पूरयतेरूतेर्लुक्च वा समुदायेन चे-द् वृष्टीयत्ता गम्यते। गोष्पदप्रम्। गोष्पदपूरं वृष्टोमेघ ॥५७॥

समुदायेन चेद् वृष्टीयत्ता गम्यत इति। समुदायेन–प्रकृतिप्रत्ययोपपदसमुदायेन। अनेन णमि ऊकारस्य लोपे ङस्युक्तसमासे च—गोष्पदप्रम्, लोपस्य वैकल्पिकत्वात् तदभावे—गोष्पदपुरं वृष्टो मेघः इति—यावता गोष्पदादि पूर्यते तावद् वृष्ट इत्यर्थः। गोष्पदप्रमिति प्रातेर्धातोः 'आतो डो०' ।५।१।७६। इति डेन, गोऽपदपुरमित्यणा च क्रियाविशेषणत्वे सिध्यति, तत्र णम्विधानमव्ययत्वेन तरामाद्यर्थमनुस्वारश्रवणार्थं च, तेन गोष्पदप्रंतराम्, 'गोष्पदप्रंतमाम्, गोष्पदप्रंरूपं गोष्पदप्रंकल्पं देश्य देशीयम्, गोष्पदपुरं—तरां तमां रूपं कल्पं देश्यं देशीयं' इत्यादि सिद्धं भवति, अन्यथा हि गोष्पदप्रतरं गोष्पदपुरतरमित्याद्येव स्यात् ॥५७॥

चेलार्थात् क्नोपेः ।५।४।५८।

चेलार्थात् व्याप्यात्परात्क्नोपयतेस्तुल्यकर्तृकार्थाद्वृष्टिमाने गम्ये धातोः सम्बन्धे णम्वा स्यात्। चेलक्नोपं वृष्टो मेघः ॥५८॥

अयमप्यप्राक्काले विधिः। चेलक्नोपं वृष्टो मेघ इति यावता चेलं क्नूयते-आर्द्रीभवति तावद्वृष्ट इत्यर्थः ॥५८॥

गात्रपुरुषात्स्नः ।५।४।५९।

आभ्यां व्याप्याभ्यां परात्तुल्यकर्तृकार्थात्स्नातेर्वृष्टिमाने गम्ये धातोः सम्बन्धे णम्वा स्यात्। गात्रस्नायं वृष्टः। पुरुषस्नायं वृष्टः ॥५९॥

गात्र०—"गात्रस्नायं वृष्ट इत्यादि—यावता गात्रं पुरुषश्च स्नाप्यते तावद्वृष्ट इत्यर्थः ॥५६॥

शुष्कचूर्णरूक्षात्पिषस्तस्यैव ।५।४।६०।

एभ्यो व्याप्येभ्यः परात्पिषेर्णम्वा स्यात् तस्यैव धातोः सम्बन्धे। शुष्कपेषं पिनष्टि। एवं चूर्णपेषम्, रूक्षपेषम् ॥६०॥

'शुष्कपेषं पिनष्टीति शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः। प्रयोगानुप्रयोगक्रिययोरैक्यात् तुल्यकर्तृकत्वं प्राक्कालत्वं च नास्तीत्यत्र प्रकरणे पक्षे क्त्वा न भवति। घञादयस्तु भवन्त्येव—शुष्कस्य पेषं पिनष्टि ॥६०॥

कृग्ग्रहोऽकृतजीवात् ।५।४।६१।

आभ्यां व्याप्याभ्यां पराद्यथासङ्ख्यं कृगो ग्रहेश्च तस्यैव सम्बन्धे णम्वा स्यात्। अकृतकारं करोति। जीवग्राहं गृह्णाति ॥६१॥

कृग्ग्रहो०—"अकृतकारं करोतीति—अकृतं करोतीत्यर्थः। जीवग्राहं गृह्णातीति—जीवन्तं गृह्णातीत्यर्थः ॥६१॥

निमूलात्कषः ।५।४।६२।

निमूलाद्व्याप्यात्परात्कषेस्तस्यैव सम्बन्धे णम्वा स्यात्। निमूलकाषं कषति ॥६२॥

निमूलात्०—"निमूलमित्यत्रात्येऽव्ययीभावः, निर्गतानि मूलान्यस्येति बहुव्रीहिर्वा। निमूलकाषं कषतीति—निमूलं कषतीत्यर्थः। पूर्वकालाभावात् पक्षे न क्त्वा, किन्तु घञ् वेत्याह—निमूलस्य काषं कषतीति ॥६२॥

हनश्च समूलात् ।५।४।६३।

समूलाद्व्याप्यात्पराद्धन्तेः कषेश्च तस्यैव सम्बन्धे णम्वा स्यात्। समूलघातं हन्ति। समूलकाषं कषति ॥६३॥

हनश्च—"समूलमिति साकल्येऽव्ययीभावो बहुव्रीहिर्वा। समूलघातं हन्तीति-समूलं हन्तीत्यर्थः। समूलकाषं कषतीति-समूलं कषतीति—समूलं कषतीत्यर्थ ॥६३॥

करणेभ्यः ।५।४।६४।

करणार्थात्पराद्धन्तेस्तस्यैव सम्बन्धे णम्वा स्यात्। पाणिघातं कुड्यमाहन्ति ॥६४॥

करणेभ्यः—पाणिघातं कुड्यमाहन्तीति—पाणिना हन्तीत्यर्थः, ङ्युक्त—त्वेन नित्यसमासः, 'ञ्णिति घात्' ।४।३।१००। इति घातादेशः ॥६४॥

स्वस्नेहनार्थात्पुषपिषः ।५।४।६५।

स्वशब्दार्थात् स्नेहनार्थाच्च करणार्थात्पराद्यथासङ्ख्यं पुषः पिषश्च तस्यैव सम्बन्धे णम्वा स्यात्। स्वपोषं पुष्णाति। एवमात्मपोषम्। उदपेषं पिनष्टि। एवं क्षीरपेषम् ॥६५॥

स्वस्नेहना०—'आत्मा आत्मीयं ज्ञातिर्धनं च स्वम्, स्निह्यते—सिच्यते येनोदकादिना तत् स्नेहनम्। स्वपोषं पुष्णातीत्यादि—अत्र इत्यपि ज्ञेयं-स्वपोषं पुष्यति पोषति वा, पुषग्रहणेन त्रयाणामपि पुषां ग्रहणम्, स्वेन पुष्णातीत्याद्यर्थः। स्नेहनार्थे पिष उदाहरणमाह—उदपेषं पिनष्टीत्यादि-उदकादिना पिनष्टीत्यर्थः ॥६५॥

हस्तार्थाद् ग्रहवर्त्तिवृतः ।५।४।६६।

हस्तार्थात्करणवाचिनः परेभ्य एभ्यस्तस्यैव सम्बन्धे णम्बा स्यात्। हस्तग्राहं गृह्णाति। एवं करग्राहम्। हस्तवर्त्तं वर्त्तयति। पाणिवर्त्तं वर्त्तते ॥६६॥

हस्तार्थाद्०—। हस्तग्राहं गृह्णातीति–हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः। वर्तिवृत इति-वर्ततेर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च ग्रहणम् ॥६६॥

बन्धेर्नाम्नि ।५।४।६७।

बन्धिः प्रकृतिर्नाम विशेषणं च, बन्धेर्बन्धनस्य यन्नाम संज्ञा तद्विषयात्करणार्थात्परात् बन्धेस्तस्यैव सम्बन्धे णम्वा स्यात्। क्रौञ्चबन्धम्बद्धः ॥६७॥

बन्धे०—। नाम्नोऽपि बन्धनविषयस्यैव प्रत्ययार्थत्वमिष्टमिति तदुपायमाह—बन्धिरित्यादिना एकमेव पदं तन्त्रेणोभयत्रान्वेति, एकत्र च धातुनिर्देशे इः प्रत्ययः, परत्र च तदर्थनिर्देश इति योऽर्थः सम्पन्नस्तमाह—बन्धेर्बन्धनस्येत्यादिना। क्रौञ्चबन्धम्बद्ध इति—क्रौञ्च इतिशब्दो बन्धनामधेयः क्रौञ्चाकारो बन्धः क्रौञ्चशब्देनोच्यते, तेन बन्धेन बद्ध इत्यर्थः ॥६७॥

आधारात् ।५।४।६८।

आधारार्थात्परात् बन्धेस्तस्यैव सम्बन्धे णम्वा स्यात्। चारकबन्धम्बद्धः ॥६८॥

आधाराद्—। चारकबन्धम्बद्ध इति—चारके बद्धइत्यर्थः ॥६८॥

कर्तुर्जीवपुरुषान्नश्वहः ।५।४।६९।

आभ्यां कर्तृभ्यां परद्यथासङ्ख्यं नशेर्वहेश्च तस्यैव संबन्धे

णम्वा स्यात् । जीवनाशं नश्यति । पुरुषवाहं वहति । कर्तुरिति किम् । जीवेन नश्यति ॥६६॥

कर्तु०— । जीवनाशं नश्यतीति–जीवतीत्यर्च् जीवो नश्यतीति—जीवन् नश्यतीत्यर्थः । पुरुषवाहं वहतीति पुरुषः प्रैष्यो भूत्वा वहतीत्यर्थः पृणाति प्रैषण—मित्यत्र पुरुषः क्रियाशब्दः प्रैष्यपर्यायः । जीवेन नश्यतीति–इदमर्थकथनम्, प्रयोगस्तु अस्मिन्नर्थे जीवनाशं नश्यतीत्यादि न भवति, जीवेननाशं घञन्तं नश्यतीति भवति ॥६६॥

ऊर्द्ध्वात्पूः-शुषः ।५।४।७०।

कर्तुरूर्द्ध्वात्परात्पूरः शुषश्च तस्यैव संबन्धे णम्वा स्यात् । ऊर्द्ध्वपूरं पूर्यते । ऊर्द्ध्वशोषं शुष्यति ॥७०॥

ऊर्ध्वात्०—। ऊर्ध्वपुरं पूर्यत इति—ऊर्ध्वः पूर्यत इत्यर्थः ऊर्ध्वशोषं शुष्यतीति–ऊर्ध्वः शुष्यतीत्यर्थः ॥७०॥

व्याप्याच्चेवात् ।५।४।७१।

व्याप्यात्कर्तुश्चोपमानात्पराद् धातोस्तस्यैव सम्बन्धेणम्वा स्यात् । सुवर्णनिधायं निहितः । काकनाशं नष्टः ॥७१॥

व्याप्या०—। सुवर्णनिधायं निहित इति–सुवर्णमिव निहित इत्यर्थः । काकनाशं नष्ट इति–काक इव नष्ट इत्यर्थः ॥७१॥

उपात्किरो लवने ।५।४।७२।

उपपूर्वात्किरतेर्लवनार्थस्य धातोः सम्बन्धे णम्वा स्यात् । उपस्कारं मद्रका लुनन्ति । लवन इति किम् ? उपकीर्य याति ॥७२॥

लवण इति वचनात् तस्यैवेति निवृत्तम् । इत ऊर्ध्वं तस्यैवान्यस्येतिवा कामचारः । उपस्कारं मद्रका लुनन्तीति–विक्षिपन्तो

लुनन्तीत्यर्थः, पूर्वं विक्षिपन्तः, पश्चात् लुनन्तीत्यर्थः । 'किरो लवने' ।४।४।६३। इति लवनविषये सडादिः । उपकीर्य यातीति—विक्षिप्य गच्छतीत्यर्थः, अत्र लवनार्थाभावान्न 'णम्' किन्तु क्त्वैव, एवं लवनार्थाभावाच्च सडपि न भवतीति भावः ।।७२।।

दंशेस्तृतीयया ।५।४।७३।

तृतीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकार्थादुपपूर्वाद्दंशेर्धातोः सम्बन्धे णम्वा स्यात् । मूलकेनोपदंशं, मूलकेनोपदंश्य भुङ्क्ते ।।७३।।

दंशे०—। मूलकेनोपदंशमित्यादि—मूलका-द्युपदंशेः कर्मापि प्रधानस्य भुजेः करणमिति ततीयैव भवति, प्रधानक्रियोपयुक्ते हि कारके गुणक्रिया न स्वानुरूपां विभक्तिमुत्पादयितुमलमप्रधानत्वादेव, यथेष्यते ग्रामो गन्तुम् पक्त्वा भुज्यते ओदन इति । अत्र 'तृतीयोक्तं वा' ।३।१।५०। इति वा तत्पुरुषः ।।७३।।

हिंसार्थादेकाप्यात् ।५।४।७४।

हिंसार्थाद्धातोर्धात्वन्तरेणैव प्यात्तुल्यकर्तृकार्थात्तृतीयान्तेन योगे णम् वा स्यात् । दण्डेनोपघातं, दण्डोपघातम् । दण्डेनोपहत्य च गाः सादयति । एकाप्यादिति किम् । दण्डेनोपहत्य चौरं गोपालको गाः खेटयति ।।७४।।

दण्डेनोपघातम् इत्यादि—'तृतीयोक्तं वा ।३।१।५०। सूत्रात् विकल्पेन समासः, दण्डेनोपहननमिति वाक्यम् । 'सादयति' अत्र षद् धातुः णिग् ।।७४।।

उपपीडरुधकर्षस्तत्सप्तम्या ।५।४।७५।

तथा तृतीयया युक्ता सप्तमी तत्सप्तमी, तदन्तेन योगे उपपूर्वेभ्य एभ्यस्तुल्यकर्तृकार्थेभ्यो धातोः संबन्धे णम्वा स्यात् । पार्श्वाभ्यामुपपीडं पार्श्वोपपीडं शेते । पार्श्वयोरुपपीडं पार्श्वोपपीडं शेते ।

व्रजेनोपरोधं व्रजोपरोधम् । व्रजे उपरोधं व्रजोपरोधंगाः स्थापयति ।पाणि-नोपकर्षं पाण्युपकर्षम् । पाणावुपकर्षं पाण्युपकर्षं गृह्णाति ।७५।

उपपीड०—। 'कर्ष' इति शब्निर्देशाद् भौवादिकस्य 'कर्षन्ति शाखां ग्रामम्' इति द्विकर्मकस्याकर्षणार्थस्य ग्रहणम्, न तु तौदादिकस्य पञ्चभिर्हलैः कृषतीति विलेखनार्थस्य, तेन भूमावुपकृष्य तिलान् वपति, हलेनोपकृष्य वपतीत्यत्र न भवति ।।७५।।

प्रमाणसमासत्त्योः ।५।४।७६।

आयाममानं प्रमाणं, समासत्तिः संरम्भपूर्वकः सन्निकर्षः, तयोर्गम्ययोस्तृतीयान्तेन सप्तम्यन्तेन च योगे तुल्यकर्तृकार्थाद्धातोः संबन्धो णमुला स्यात् । द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षं द्व्यङ्गुलोत्कर्षम् । द्व्यङ्गुले उत्कर्षं द्व्यगुंलोत्कर्षं गण्डिकाश्छिनत्ति । केशैर्ग्राहं केशग्राहं । केशेषु ग्राहं केशग्राहं युध्यन्ते । पक्षे । द्व्यङ्गुलेनोत्कृष्य गण्डिकाश्छिनत्ति ।।७६।।

द्वयोरङ्गुल्योःसमाहारः-द्व्यङ्गुलम्।संख्याा७।०।१२४। सूत्रात् डसमासान्तः केशैर्ग्राहमित्यादियुद्धसंरम्भादत्यतं संनिकृष्य अत्यासन्नी-भूय युध्यन्ते इत्यर्थः ।।७६।।

पञ्चम्या त्वरायाम् ।५।४।७७।

त्वरायां गम्यायां पञ्चम्यन्तेन योगे तुल्यकर्तृकार्थाद्धातोः सम्बन्धे णमुला स्यात् । शय्याया उत्थायं शय्योत्थायं धावति । पक्षे । शय्याया उत्थाय धावति । त्वरायामिति किम् । आसनादुत्थाय याति ।।७७।।

पञ्चम्या०—।शय्यया उत्थायमित्यादि-शय्याया उत्थितेनावश्यकदेवस्मर-

णादिकं विश्राय किमपि कार्यमारभ्यत इति क्रमः, तत् परित्यज्य-धावति आवश्यकादिकृत्यमपि नापेक्षते इत्यर्थः ॥७७॥

द्वितीयया ।५।४।७८।

द्वितीयान्तेन योगे त्वरायां गम्यायां तुल्यकर्तृकार्थाद्धातोः सम्बन्धे णम्वा स्यात्। लोष्टान्ग्राहं लोष्टग्राहम्। लोष्टान् गृहीत्वा युध्यन्ते ।७८।

द्वितीयया—। 'ग्रहीश्-ग्रह उपादाने' अतो णमि उपान्त्यवृद्धौ वा समासे च—लोष्टान् ग्राहं लोष्टग्राहमिति। लोष्टान् ग्राहमित्यत्र लोष्टानां कृदन्तस्य कर्मत्वेन 'कर्मणि कृतः' ।२।२।८३। इति प्राप्ताऽपि षष्ठी 'तृन्नुदन्ता०' ।२।२।९०। इति निषिध्यत इति 'कर्मणि' ।२।२।४०। इति द्वितीयैव। योग-विभागः उत्तरार्थः ॥७८॥

स्वाङ्गेनाऽध्रुवेण ।५।४।७९।

यस्मिन्नङ्गे च्छिन्ने भिन्ने वा प्राणी न म्रियते तदध्रुवं, तेन स्वाङ्गेन द्वितीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकार्थाद्धातोः सम्बन्धे णम्वा स्यात्। भ्रुवौ विक्षेपं भ्रूविक्षेपम्। भ्रुवौ विक्षिप्य वा जल्पति। स्वाङ्गेनेति किम्। कक्षुमुन्मूल्य जल्पति। अध्रुवेणेति किम्। शिर उत्क्षिप्य वक्ति॥७९॥

स्वाङ्गेना०—। अविकारोऽद्रवं मूर्तं प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते। च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निभं च प्रतिमादिषु। इति लक्षणं स्वाङ्गम्। भ्रुवौ विक्षेपमिति—औप्रत्यये 'भ्रूश्नोः' ।२।१।५३। इत्युवादेशे—'भ्रुवौ' इति ॥७९॥

परिक्लेश्येन ।५।४।८०।

परिक्लेश्येन स्वाङ्गेन द्वितीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकार्थाद् धातोः

सम्बन्धे णमुल्वा स्यात् । उरांसि प्रतिपेषं उरः प्रतिपेषम् । उरांसि प्रतिपेष्य वा युध्यन्ते ।।८०।।

परिक्लेश्येन०—। परिसमन्तात् क्लिश्यमानं-पीडयमानं-परिक्लेश्यम् । ध्रुवार्थोऽयमारम्भः। उरांसि प्रतिपेषमित्यादि-उरांसि परितः पीडयन्तो युध्यन्त इत्यर्थः ।।८०।।

विशपतपदस्कन्दो वीप्साभीक्ष्ण्ये ।५।४।८१।

द्वितीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकार्थाद्विशादेर्वीप्साभीक्ष्ण्ययोर्गम्ययोर्धातोः संबन्धे णमुल्वा स्यात् । गेहं गेहमनुप्रवेशं गेहानुप्रवेशमास्ते गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशं गेहानुप्रवेशमास्ते । गेहंगेहमनुप्रपातं गेहानुप्रपातमास्ते । गेहमनुप्रपातमनुप्रपातं गेहानुप्रपातमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपादं गेहानुप्रपादमास्ते । गेहमनुप्रपादमनुप्रपादं गेहानुप्रपादमास्ते । गेहं गेहमवस्कन्दं गेहावस्कन्दमास्ते । पक्षे । गेहं गेहमनुप्रविश्यास्ते । गेहमनुप्रविश्यानुप्रविश्यास्ते इत्यादि ।।८१।।

विशपत०—। विश्यादिक्रियाभिः साकल्येनोपपदार्थानां व्याप्तुमिच्छा-वीप्सा । प्रकृत्यर्थस्य पौनःपुन्येनासेवनम्-आभीक्ष्ण्यम् । यदाहुः-सुप्सु वीप्सा, तिङ्सु अव्ययकृत्सु चाभीक्ष्ण्यमिति । गेहं गेहमनुप्रवेशमित्यादिषु वीप्सायामुपपदस्य, आभीक्ष्ण्ये तु धातोर्द्विर्वचनम् । 'गेहानुप्रवेश—मास्ते' इत्यादौ तु वीप्साभीक्ष्ण्ये शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् समासेनैवोक्ते, इति द्विर्वचनं न भवति । 'ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये' ।५।४।४८। इत्यनेनाभीक्ष्ण्ये णम् सिद्ध एव विकल्पेनोपदसमासार्थं वचनम्, तेन हि समासाभावः स्यात् ।।८१।।

कालेन तृष्यस्वः क्रियान्तरे ।५।४।८२।

क्रियाव्यवधायककार्थाभ्यां तृष्यसूभ्यां द्वितीयान्तेन कालार्थेन योगे सम्बन्धो णम्वा स्यात् । द्व्यहं तर्षं द्व्यहतर्षं गावः पिबन्ति । द्व्यहमत्यासं द्व हात्यासं गावः पिबन्ति । क्रियान्तर इति किम् । अहरत्य-स्येषून् गतः ।।८२।।

कालेन०—। क्रियामन्तरयतीति-क्रियान्तरः-क्रियाव्यवधायक इत्यर्थं इत्याह क्रियाव्यवधायककार्थाभ्यामिति। द्व्यहं तर्षं द्व्यहतर्षं गावः पिबन्तीतिद्वयोरह्नोः समाहारः द्व ऽह्नी समाहृते वा 'द्विगो०' ।७।३।६६। इत्यटि 'नोऽपदस्य०' ।७।४।६१। इत्यन्त्यस्वरादिलोपे 'कालाध्वनोः०' ।२।२।४२। इति द्विती-यायां–द्व्यहमिति, 'ञितृषच्–तृष् पिपासायाम्' अतोऽनेन णमि उपान्त्यगुणे च–तर्षमिति, समासे च–द्व्यहतर्षमिति, 'पा पाने' इत्यस्य पिबादेशे-पिबन्तीति, अत्र कालवाचकं व्यवधायकमिति भवति प्रत्ययः। असूच्–अस् क्षेपणे' इति धातुः । द्व्यहमत्यासमित्यादि–इह पूर्वत्र चोदाहरणे तर्षेणा-त्यासेन च गवां पानक्रिया व्यवधीयते, अह्न पीत्वा द्व्यहमतिक्रम्य पिब-न्तीत्यर्थः। अहरत्यस्येषून् गत इति—अत्राहन्शब्दात् 'काला०' ।२।२।४२। इति द्वितीया, सकलस्याह्न इष्वत्यासेन व्याप्तत्वात्, इषुशब्दात् तु कर्मण्येव, अस्यतिर्नात्रातिवाहनार्थं—कोऽपि तु क्षेपणार्थकः, एवं चाहर्व्या-प्येषून् क्षिप्त्वा गत इत्यर्थः, अ– त्रात्यासेन अह इषवश्च व्याप्यन्ते, गति-क्रिया न व्यवधीयत इति नात्र णम्विधिः ।।८२।।

नाम्ना ग्रहादिशः ।५।४।८३।

नामशब्देन द्वितीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकार्थात् ग्रहेरादिशेश्च धातोः सम्बन्धो णम्वा स्यात्। नामानि ग्राहं नामग्राहमाह्व-यति । नामान्यादेशं नामादेशं दत्ते । पक्षे । नाम गृहीत्वा दत्ते ।।८३।।

नाम्ना०= । नामान्यादेशं नामादेशं दत्ते इत्यस्य पक्षे नामादिश्य दत्ते इति भवति ।।८३।।

कृगोऽव्ययेनाऽनिष्टोक्तौ क्त्वाणमौ ।५।४।८४।

अव्ययेन योगे तुल्यकर्तृकार्थात्कृञोऽनिष्टोक्तौ गम्यायां धातोः सम्बन्धे क्त्वाणमौ स्याताम् । ब्राह्मणपुत्रस्ते जातः किं तर्हि वृषल नीचैः कृत्वा, नीचैः कृत्य, नीचैः कारं कथयसि, उच्चैर्नाम प्रियमाख्येयम् । अनिष्टोक्ताविति किम् । उच्चैः कृत्वाऽऽचष्टे ब्राह्मण पुत्रस्ते जात इति । अव्ययेनेति किम् । ब्राह्मण पुत्रस्ते-जातः किं तर्हि वृषल मन्दं कृत्वा कथयसि ॥८४॥

कृञो०—। अनिष्टोक्ताविति—अनिष्टोक्तिः प्रियस्योच्चैरप्रियस्य नीच्चैः कथनमिष्टम्, तद्विपरीतमनिष्टम्, तथा चाप्रियस्योच्चैरुक्तिः प्रियस्य नीचैरनिष्टोक्तिरिति फलितम् । 'डुकृञ्—कृ करणे' अतोऽनेन क्त्वि—कृत्वा, वा समासे क्त्वो यबादेशे-कारम्, वा समासे च=नीचैः कारम् । ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जात इत्यादि—अत्रानिष्टोक्तिः कथमिति दर्शयितुमाह= उच्चैर्नाम प्रियमाख्येयमिति=पुत्रजन्मस्येष्टत्वेऽपि मन्दस्वरेण तदभिधानं नेष्टमिति भावः । वाऽधिकारेणैव पक्षे क्त्वायाः सिद्धौ समासार्थं तद्विधानम्, अन्यथा हि णम एव पाक्षिकः समासः स्यात्, न तु क्त्वः । क्त्वा चेत्यकृत्वा णमृविधान मुत्तरत्रोभयानुवृत्त्यर्थम् ॥८४॥

तिर्यच्यपवर्गे ।५।४।८५।

क्रियासमाप्तौ गम्यायां तिर्यचाऽव्ययेन योगे तुल्यकर्तृकार्थात् कृञो धातोः संबन्धे क्त्वाणमौ स्याताम् । तिर्यक्कृत्वा,तिर्यक्कारमास्ते । अपवर्ग इति किम् । तिर्यक्कृत्वा काष्ठं गतः ॥८५॥

तिर्यचा०=। अपवर्गः—क्रियासमाप्तिः समाप्तिपूर्वको वा विरामः त्यागो वा । क्रियासमाप्ताविति=इदमुपलक्षणम्, तेन समाप्तिपूर्वके विरामे त्यागे वेत्यर्थोऽपि लभ्यते । तिर्यक्कृत्वेत्यादि—समाप्य विरम्य वा उत्सृज्यवाऽऽस्ते इत्यर्थः । तिर्यक् कृत्वा काष्ठं गत इति—अनृजु कृत्वा, पार्श्वतः कृत्वेत्यर्थः, नह्यत्र कस्याश्चन क्रियायाः समाप्तिः विरामस्त्यागो वा गम्यत इत्यस्या प्रवृत्त्या 'प्राक्काले' ।५।४।४७। इति क्त्वैव भवतीति भावः ॥८५॥

स्वाङ्गतश्च्व्यर्थनानाविनाधार्थेन भुवश्च ।५।४।८६।

तसन्तेन स्वाङ्गेन, च्व्यर्थवृत्तिभिर्नानाविनाभ्यां धार्थप्रत्ययान्तैश्च योगे तुल्यकर्तृकार्थात् भुवः कृगश्च धातोः संबन्धे क्त्वाणमौ स्याताम् । मुखतो भूत्वा । मुखतोभूय । मुखतोभावमास्ते । नाना भूत्वा, नानाभूय, नानाभावं गतः, विनाभूत्वा, विनाभूय, विनाभावं गतः, द्विधा भूत्वा, द्विधाभूय, द्विधाभावमास्ते । एवं पार्श्वतः कृत्वा, पार्श्वतः कृत्य, पार्श्वतः कारं शेते इत्यादि । च्व्यर्थ इति किम् । नाना कृत्वा भक्ष्याणि भुङ्क्ते ॥८६॥

स्वाङ्गत०:—"स्वाङ्गत' इति शब्दस्वरूपं न ग्राह्यमपि तु तस्प्रत्ययान्तं स्वाङ्गं व्याख्यानात्, तथा च न स्वाङ्गशब्द इहोपपदमपि तु तद्वाचकं शब्दमात्रं तस्प्रत्ययान्तमिति मनसिकृत्याह तसन्तेन स्वाङ्गेनेति । वचनभेदाद् धातुप्रत्यययथासंख्यं नास्ति । मुखतो भूत्वा, मुखतोभूय, मुखतोभावमास्त इति—स्वाङ्गवाचकान्मुखशब्दात् 'आद्यादि०' ।७।२।८४। इति सम्भवद्विभक्त्यन्तात् तसौ—'मुखतः' इति, 'भू सत्तायाम्' अतः क्त्व 'भूत्वा' इति 'तृतीयोक्तं वा' ।३।१।५०। इति, समासे क्त्वो यबादेशे—'मुखतोभूय' इति, णमि वृद्धावावादेशे च 'भावम्' इति समासेतु 'मुखतोभावम्' इति । 'स्वाङ्गतः इति पृथग्निर्देशान्न तस्य च्व्यर्थवृत्तित्वमिह विवक्षितम् । नानाभूत्वेत्यादि—'अनाना नाना भूत्वा गत' इति वाक्यम् । धार्थाः प्रत्यया धा-धमञ्-एधाच्यमञ इत्याह—द्विधा भूत्वेत्यादि द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामिति प्रकारार्थे एको राशिर्द्वौ इति विचालार्थे च 'विचाले च' ।७।२।१०५। इति द्विधा पार्श्वतः कृत्वेत्यादि—तसन्तेन स्वाङ्गेन कृग उदाहरणमिदम्, पार्श्वशब्दः स्वाङ्गवाचकः ॥८६॥

तूष्णीमा ।५।४।८७।

तूष्णीं योगे तुल्यकर्तृकार्थात् भुवो धातोः सम्बन्धे क्त्वाणमौ स्याताम् । तूष्णीं भूत्वा । तूष्णींभूय । तूष्णींभावमास्ते ॥८७॥

तूष्णीमा—तूष्णीं भूत्वेति—तूष्णीं शब्दो न केवलं मौनार्थकोऽपि तु मौनवत्यपि प्रयुज्यते, तथा च पूर्वममौनो-मौनाभाववान् मौनः-मौनवान्, भूत्वेति तात्पर्यमिहोन्नेयमिति ॥८७॥

आनुलोम्येऽन्वचा ।५।४।८८।

अन्वचाऽव्ययेन योगे तुल्यकर्तृकार्थात् भुव आनुलोम्ये गम्ये धातोः सम्बन्धे क्त्वाणमौ स्याताम् । अन्वग् भूत्वा, अन्वग्भाव-मास्ते । आनुलोम्य इति किम् । अन्वग् भूत्वा विजयते । पश्चाद्भूत्वेत्यर्थः ॥८८॥

आनुलोम्ये०—आनुलोम्यमनुकूलता परिचित्ताराधनम् । अन्वग्भूत्वेत्यादि अनुकूलो भूत्वा तिष्ठतीत्यर्थः । अनुपूर्वादञ्चतेर्बाहुलकादौणादिके क्विपि उपान्त्यनकारलोपे स्वरादिगणपाठादव्ययत्वे 'अन्वच्' इति, तदनुकरणात् तृतीयैकवचने 'अन्वचा' इति निर्देशः कृतः, एवं 'तिर्यचा०' ।५।४।८५। इत्यत्रापि 'तिर्यचा' इति, न तु 'अच्च्०' ।२।१।१०४। इति चादेशे 'तिरश्चा' इति, चादेशे दीर्घे च 'अनूचा' इति भवति ॥८८॥

इच्छार्थे कर्मणः सप्तमी ।५।४।८९।

इच्छार्थे धातावुपपदे तुल्यकर्तृकार्थात्कर्मभूताद्धातोः सप्तमी स्यात् । भुञ्जीयेति इच्छति । इच्छार्थ इति किम् । भोजको याति । कर्मण इति किम् ? इच्छन् करोति ॥८९॥

इच्छार्थे०—'भुजंप्भुज् पालनाभ्यवहारयोः' अभ्यवहारो भोजनम्, भुन-जोऽत्राणे' ।३।३।३७। इत्यात्मनेपदे सप्तम्यां तृतीयपुरुषैकवचने ईय-प्रत्यये-भुञ्जीय, 'इषत् इच्छायाम्' अतो वर्तमानातिवि 'गमि०' ।४।२।१०६। इत्यन्त्यस्य छादेशे—इच्छति ॥८९॥

शकधृषज्ञारभलभसहार्हग्लाघटास्तिसमर्थार्थे च तुम् ।५।४।६०।

शक्याद्यर्थेषु इच्छार्थेषु च धातुषु समर्थार्थेषु नामसूपपदेषु कर्मभूताद्धातोस्तुम् स्यात् । शक्नोति पारयति वा भोक्तुम् । एवं धृष्णोति, जानाति, आरभते, लभते, सहते, अर्हति, ग्लायति, घटते, अस्ति, समर्थः, इच्छति, वा भोक्तुम् ॥६०॥

शक०-समर्थार्थत्वादेव सिद्धे शकग्रहणमसमर्थार्थम् । क्रियायां क्रियार्थायां०' ।५।३।१३। इत्यनेन क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे तुम् विहित इत्यसति क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे, अक्रियोपपदे च न स्यादिति वचनम्, अयमाशयः-अक्रियार्थेष्वपि शकादिषु तुम् यथा स्यादित्येवमर्थोऽयमारम्भः, नहि शक्नोति भोक्तुमित्यादौ क्रियार्थोपपदं गम्यते, किं तर्हि ? अर्थान्तरमन्यदेव इह तावच्छक्नोति भोक्तुम्, सहते भोक्तुम्, जानाति भोक्तुमिति प्रावीण्यं गम्यते, ग्लायति भोक्तुमिति तदशक्तता गम्यते, घटते भोक्तुम् अर्हति भोक्तुमिति तद्योग्यतामात्रम्, आरभते भोक्तुमिति भुजेराद्यावस्था न क्रियान्तरम्, लभते भोक्तुमिति अप्रत्याख्यानम्, अस्ति भोक्तुमिति सम्भवमात्रमिति ॥६०॥

॥ इति पञ्चमाध्याय ॥

प्रशंसा की भूखी आत्मायें सच्चे गुरु
से और सच्चे धर्म सेवंचित रहती है ।

जिन आत्माओं को अपनी प्रशंसा सुननी अच्छी लगती है, ऐसी आत्मा प्रायः करके धर्म से वंचित रहती है । क्योंकि यह वहां ही धर्म करे, ऐसी ही जगह पर जावे कि जहां उनकी प्रशंसा होती हो । ऐसे प्रशंसा के भूखे लोगों की प्रशंसा करके उसका गलत लाभ लेने वाले भी बहुत होते है ऐसे इनको घेर लेते है । परस्पर प्रशंसा करके आनन्द मानते है । परिणाम यह आता है कि धर्म प्रवृत्ति करने पर भी, दानादि करने पर भी ये बिचारे धर्म से वंचित रह जाते है ।

परमपूज्य कलिकालकल्पतरु आचार्यदेव
श्रीविजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा